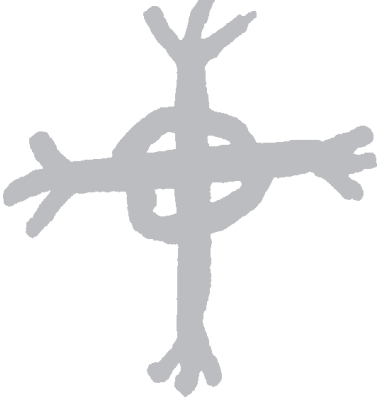


# चौमासा

वर्ष-31 अंक-96  
नवम्बर, 2014-फरवरी 2015



प्रधान सम्पादक  
रेनु तिवारी

सम्पादक  
अशोक मिश्र



आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी  
मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, भोपाल का प्रकाशन

ISSN 2249-5479

© स्वत्वाधिकार सुरक्षित

### सम्पर्क

आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी

मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्

मध्यप्रदेश जनजातीय संग्रहालय, श्यामला हिल्स

भोपाल-462002

फोन/ फ़ैक्स : 0755-2661948, 2661640

E-mail : mplokkala@rediffmail.com,  
mptribalmuseum@gmail.com

web. : www.mptribalmuseum.com

### मूल्य

एक प्रति बीस रूपये

वार्षिक सदस्यता - पचास रूपये

आजीवन सदस्यता - पन्द्रह सौ रूपये

चौमासा का वार्षिक शुल्क अनुषंग पुस्तिका के साथ सौ रूपये

### प्रचार/प्रसार

प्रवीण गावण्डे - (मो. 9827351093)

### शब्दांकन

आदिवासी लोक कला एवं बोली विकास अकादमी

मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्

### मुद्रण

मध्यप्रदेश माध्यम, भोपाल

- चौमासा में प्रकाशित सामग्री लेखकों के अपने कार्य और विचार हैं। आवश्यक नहीं कि अकादमी उससे सहमत हो।
- पत्रिका और प्रकाशन से संबंधित समस्त विवादों का न्यायालयीन कार्यक्षेत्र भोपाल रहेगा।

निदेशक, आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्- भोपाल मुद्रक, प्रकाशक द्वारा मध्यप्रदेश माध्यम, भोपाल से मुद्रित कराकर आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, जनजातीय संग्रहालय, श्यामला हिल्स- भोपाल से प्रकाशित।

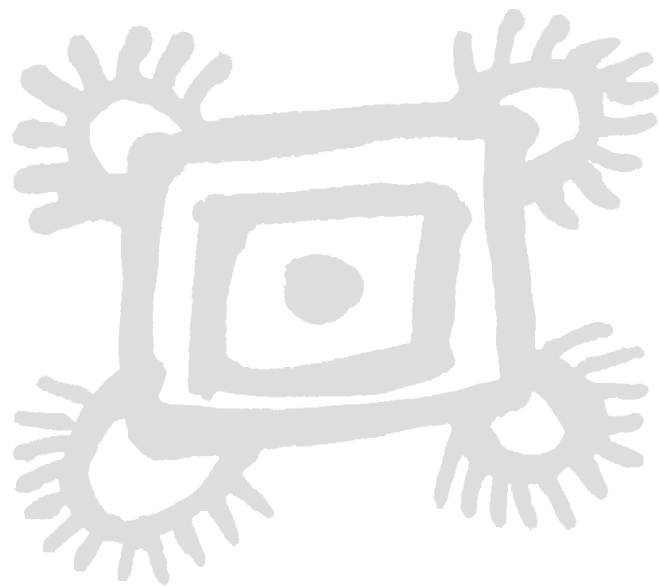
सम्पादक-अशोक मिश्र





## इस अंक में

- शौर्य की लोक अवधारणा / डॉ. पूरन सहगल / 5  
भारतीय लोकनाट्य / निरंजन महावर/ 13  
लोक जीवन और लोकगीत / स्वर्णलता ठन्ना / 92  
भीली वाचिक साहित्य / डॉ. सीमा शाहजी / 95  
लोकगीत की प्रासंगिकता / पराक्रम सिंह / 99  
निमाड़ी लोकगीत / डॉ. मंजुला जोशी / 102  
निमाड़ी गीत / डॉ. कीर्ति शर्मा / 106  
मड़ई उत्सव की लोक परम्परा / पुनऊराम साहू / 110  
जशपुर की लोकसंस्कृति / उषा वैरागकर आठले / 113  
छत्तीसगढ़ी लोक कलाएँ / डुमन लाल ध्रुव / 117  
ददरिया गीतों में नायिका / मालती सिंह क्षत्रिय / 120  
मालवी संस्कृति में जवारे / संजय आटेड़िया / 123  
लोक संस्कृति और जन-जीवन / डॉ. राजेश लाल मेहरा / 126  
रासलीला का वैशिष्ट्य / डॉ. माधुरी यादव / 130  
बुन्देली जीवन में राम / डॉ. अर्चना शुक्ला / 133  
बुन्देली साहित्य के रंग / डॉ. हरिप्रसाद दुबे / 136  
राजा नल की कथा / लक्ष्मीनारायण गुप्त 'विश्वबंधु' / 141  
आयोजन- भारंगम के मुक्तांगन में लोककलाएँ / सुनील मिश्र /146  
बातचीत- लोकगीत और मालिनी अवस्थी / दीपक कुमार सिन्हा /149



## शौर्य की लोक अवधारणा

डॉ. पूरन सहगल

बार-बार एक प्रश्न उठता रहा है कि 'शौर्य' क्या है? शब्दकोशीय स्तर पर इसके एकाधिक पर्याय पढ़ने में आते हैं। शूरता, वीरता, पराक्रम, शूर का धर्म, शूर का भाव आदि। यह शूर क्या है? तब शब्दकोश कहता है- वीर, योद्धा, सूरमा, सूर्य आदि। यदि इन सब शब्दों को समानार्थी मान लिया जाय, तब फिर प्रश्न उठता है कि यदि ये सब शब्द समानार्थी हैं तब शब्द भंडार बढ़ाने की आवश्यकता ही क्यों पड़ी? एक ही शब्द से काम चल सकता था। वस्तुतः ये सभी शब्द समानार्थी होते हुए भी किंचित रूप से भाव भिन्न भी हैं।

लोक से पूछें तब कुछ दोहे (साखियाँ) हमें शौर्य और शूरता, वीरता का बोध करवाती हैं-लोक कहता है जो वीर पुरुष केवल युद्ध जीतने के लिए शस्त्र का उपयोग करता है, वह जंगबाज या युद्ध जीत कहलाता है। उसे ही योद्धा भी कहते हैं। किन्तु वे सूरमा नहीं कहला सकते।

*राज कारण जे लड़े, लड़े नारि के काज।  
ते नहिं वाजें सूरमा, कहूँ फकत रणबाज।*

इस साखी में सूरमा शब्द का प्रयोग योद्धा से भिन्न अर्थ में हुआ है। सूरमा ही शौर्यवान है। सूरमा किसे कहें, इसका उत्तर एक लोक साखी देते हुए कहती है-

*सुरता रेहवे सूरमा, जंग लड़े जंगबाज।  
हाथ सरोई ले भिड़े, जनमंगल के काज।।*

जो सूरमा होता है वह सदा चेतमान और सावधान रहता है। मन, वचन और कार्य में सदा समन्वय बनाता है और यदि युद्ध का अवसर भी आ जाए, तब भी वह केवल जनमंगल के कारण ही तलवार उठाता है। व्यर्थ में किसी का रक्त बहाने में कभी भी वह तत्पर नहीं होता। लोक कहता है- 'शौर्य को गौरवशाली तब कहा जा सकता है, जब वह जनमंगल का कार्य करता है। उसे शौर्यवान कैसे कह सकते हैं? जो युद्ध भूमि में अकारण अर्थात् बिना मंगल-भाव के रक्त बहाकर स्वयं को विजयी कहलाने का और योद्धा कहलाने का अहम् प्रकट करता है।

*सौरव गौरव जद बणे, जनमंगल सधपाय।  
जंगजीत जोधा बणे, बिरथा रगत बहाय।।*

लोक उन्हें भी शौर्यवान नहीं कहता- जो दूसरों के देश को जीतने के लिए उन पर आक्रमण करता है, युद्ध भूमि में जूझता है। अनगिनत लाशों का ढेर लगा देता है और फिर वृथा यशगान करवाता है। वह स्पष्ट रूप से आक्रांता है। आक्रांता को शौर्यवान कैसे कहा जा सकता है?

आक्रांता शब्द पर रामकथा का संदर्भ स्मरण हो आता है। बालकाण्ड में श्रीराम ताड़कवन में लोक पीड़क ताड़का का वध करने में 'यह नारी है! इस पर प्रहार करना उचित नहीं है' ऐसा विचार किए बिना उसका वध कर देते हैं। आक्रांता नर हो अथवा नारी उसका वध करना लोक मंगल कहा जाएगा। इसी प्रकार रावण वध भी इसी कारण उचित था। रावण ब्राह्मण, वेदवेत्ता, किन्तु आक्रांता था- वह युद्ध वीर था, रण कुशल संचालक भी था। अस्त्र-शस्त्र ज्ञाता भी था। उससे बड़ा योद्धा कोई नहीं था। वह वीर तो था, किन्तु शौर्यवान नहीं था। शौर्य की व्याख्या बाबा तुलसीदास लोक-भाषा के महाकाव्य 'रामचरित मानस' में बहुत ही स्पष्ट रूप से करते हैं।

जब युद्ध भूमि में रावण शस्त्र सज्जित होकर तथा समस्त अमोघ-अस्त्रों को धारण कर प्रविष्ट होता है, तब उन्हें रथारूढ़ देखकर विभीषण भयभीत हो उठता है। वह सोचता है-

*रावनु रथी बिरथ रघुबीरा। देखि बिभीषण भयऊ अधीरा।।  
अधिक प्रीति मन भा संदेहा, बंदि चरन कह सहित सनेहा।।*

*नाथ न रथ नहिं तन पद गाना, केहि बिधि जितब वीर बलवाना।।  
सुनहु सखा कह कृपा निधान। जेहिं जय होइ सो स्पंदन आना।।*

हे कृपा निधान! आपके पास न तो रथ है न कवच है, फिर आप इसे किस प्रकार जीत पाएँगे? विभीषण की शंका का निवारण करते हुए भगवान राम कहते हैं-हे सखा! सुनिए जिससे जय होती है, वह रथ दूसरा है।

*सौरज धीरज तेहि रथ चाका, सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका।  
बल बिवेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे।।*

शौर्य और धर्म उस रथ के पहिए हैं। सत्य और शील(सदाचार) उसकी ध्वजा और पताका है। उसमें बल, विवेक, इन्द्रिय जय और परोपकार चार घोड़े जुते हैं और समता रूपी डोरी से ये घोड़े रथ से जुड़े हुए हैं। वे उस जयी रथ का विशद वर्णन लंकाकाण्ड में चौपाई 80 से दोहा 80 तक करते हैं। दोहे में वे कहते हैं-

*महाअजय संसार रिपु जीति सकई सो वीर।  
जाके अस रथ होई दृढ़, सुनहु सका मतिधीर।।*

इस महा अजय संसार को वही वीर जीत सकता है, जिसके पास ऐसा रथ हो।

शौर्य का इससे बड़ा विवेचन कहीं अन्यत्र मिल पाना असंभव है। परोपकार के लिए, लोकमंगल के लिए शस्त्र धारण करना ही शौर्य कहलाता है। जिसके आचरण में दया-क्षमा हो, जो इन्द्रियजयी हो। ऐसा पराक्रमी वीर ही शौर्यवान कहला सकता है।

शौर्य का स्थाई भाव वीर है। अर्थात् वीरता का संयमित एवं लोकमंगलकारी पराक्रम ही शौर्य कहला सकता है। शौर्य भले ही व्याकरण में संज्ञा हो किन्तु वह वीरता का संयमित विस्तार भी है। वह एक दिव्य भाव वाचक विशेषण भी है। जिस शौर्य में लोक-कल्याण का भाव नहीं है, वह शौर्य नहीं कहा जा सकता। लोक भी यही कहता है-

*जोर जुलम वाँछे नहीं, डटताँ करे विरोध।  
बिन सस्तर जुद्ध जीत ले, करे न तनक करोध।।*

जो व्यक्ति जोर-जुलम को सहन-स्वीकार नहीं करे। डटकर

उसका विरोध करे और बिना शस्त्र धारण किए युद्ध को जीत ले तथा तनिक भी क्रोध नहीं जताए। सदैव शांत और संयमित बना रहे। इसे कहते हैं अहिंसा की हिंसा पर विजय। ऐसा शौर्यवान व्यक्ति अपने शत्रु को विचलित कर देता है। आक्रांता को केवल शस्त्र से नहीं निडरता से भी जीता जा सकता है। आक्रांता के मन में स्थित भय ही आक्रांता का साहस होता है।

ऐसा उदाहरण हमारी ही सदी के शौर्यवान वीर पराक्रमी मोहनदास करमचन्द गाँधी का हमारे सामने है। जनगायक कवि ने स्पष्ट रूप से कहा भी है—

*दे दी हमें आजादी बिना खड़क बिना ढाल।  
साबरमती के संत तूने कर दिया कमाल।।*

महात्मा गाँधी में वे सभी गुण विद्यमान थे, जो तुलसीदास जी ने भगवान राम के संदर्भ में एक शौर्यवान पुरुष के विषय में बखाने हैं।

लोक कहता है जो व्यक्ति षड्रिपुओं का हनन करके अपने अहंकार पर विजय प्राप्त कर ले। वह भी सच्चा शूरवीर होता है। वह बिना तलवार के युद्ध करता है और विजय प्राप्त कर लेता है। ऐसा शौर्यवान व्यक्ति जो कामनाओं का दमन कर ले, अहंकार में मदमस्त नहीं हो जाए। अहंकार पद, धन, ज्ञान, बल अथवा छल का हो सकता है। इसी अहंकार के कारण कंस, रावण, शिशुपाल, दुर्योधन आदि परम योद्धा नष्ट हो गए। जो व्यक्ति इस अहंकार से मुक्त हो जाते हैं, वे ही सच्चे सूरमा कहला सकते हैं। वही अरिहंत भी कहे जाते हैं।

*छे ई दुसमण मार दे, नस्ट करे हंकार।  
तेजन साँचा सूरमा, लड़े बिना तरवार।।*

तथा

*करे कामना रो दमन, रवे नहीं मदमंत।  
ते जन साँचा सूरमा, ते साँचा अरिहंत।।*

यदि संकल्प दृढ़ हो तो फिर कोई भी शक्ति, कोई भी शस्त्र अथवा कोई भी भय हमें अपने लक्ष्य से डिगा नहीं सकता। अपने संकल्प पर दृढ़ रहने का विश्वास भी हमारे शौर्य का ही प्रतीक है। इसका सबसे बड़ा उदाहरण राजस्थान के खेजड़ी गाँव

का वृक्षरक्षा आंदोलन है, जिसे बाद में हमने चिपको आंदोलन कहा।

विश्वोई समाज ने वृक्षों को देवता के रूप में पूजा है। वृक्षों की रक्षा के लिए प्राण भी न्योछावर हो जाये तो हो जायें। जब अधिक वृक्ष काटने हेतु अधिक लोग पहुँचे, तब वहाँ की महिलाओं ने उन्हें वर्जित किया। उन्होंने कहा वृक्ष हमारे देवता हैं, हमारे रक्षक हैं। पर्यावरण के संयमन में इनका प्रमुख योगदान है। ये हमारी प्राणवायु को सदा शुद्ध बनाए रखते हैं। इसलिए इन्हें आप मत काटिए। उन वृक्षहंता वधिकों के पास कुल्हाड़ियाँ भी थीं। करवतें तथा अन्य शस्त्रादि भी थे। उन्होंने पूरे अंचल में भय का वातावरण बना कर रखा था। खेजड़ी गाँव की महिलाओं ने उन आक्रांता वृक्ष वधिकों को ललकार दिया। सावधान! यदि किसी वृक्ष की एक टहनी भी काटने का प्रयत्न किया। वृक्ष काटने वालों ने उन्हें खूब भयभीत किया, किन्तु वे निर्भीक शौर्यवान महिलाओं ने उनके भय को नकार दिया। लोक कहता है—

*हिम्मत गाठी राखताँ, बिरछ भर लिया बाथ।  
ब्रघ नी कटना देवसाँ, भले काट लो माथ।।*

उन स्त्रियों ने दौड़कर वृक्षों को अपनी बाँहों में भर लिया। वे वृक्षों से चिपककर खड़ी हो गई और कहा— ‘हम जीवित रहते वृक्ष नहीं कटने देंगी। ऐसी निर्भीकता, ऐसी संकल्प दृढ़ता शौर्य नहीं कहलाएगी तो उसे क्या कहा जाएगा? एक और लोक साखी कहती है—

*बिरछ देव बाथाँ भरयो, धन्न लुगाई जात।  
बिरछ काटण्या री वई, खूब करारी मात।।*

वे स्त्रियाँ धन्य हैं जिहोंने अपने प्राणों की परवाह किए बिना वृक्षों की रक्षा हेतु उन्हें अपनी भुजाओं में भर लिए। उनके उस शौर्य के कारण वृक्ष काटने वालों को मुँह की खाना पड़ी। उनकी करारी हार हो गई। निहत्थी किन्तु निर्भीक महिलाओं ने जिस प्रकार वन और जन आक्रांताओं को बिना शस्त्र पराजित कर दिया, वह वीरता-पराक्रम और शौर्य का श्रेष्ठतम उदाहरण है। ऐसे उदाहरण यह तो सिद्ध कर ही देते हैं कि शौर्य केवल शस्त्रों के प्रयोग से ही प्रकट नहीं होता, वह तो हमारी चरित्रगत विशेषता है। शौर्य और योद्धा का सहज उदाहरण महाभारत युद्ध है।

महाभारत युद्ध में भीष्म पितामह शौर्यवान् योद्धा हैं जबकि द्रौण रणकुशल योद्धा है। अभिमन्यु शौर्यवान् योद्धा हैं जबकि कर्णादि महारथी आक्रांता और आक्रमक योद्धा हैं। अर्जुन धर्म रक्षा और न्याय रक्षा के लिए युद्धरत हैं, वे पराक्रमी शौर्यवान् योद्धा हैं, जबकि कर्ण परमवीर होते हुए भी अधर्म और अन्याय की रक्षा में युद्धरत शौर्यवान् होकर केवल योद्धा रह गया। जब भीष्म पितामह शौर्य भाव त्याग कर मात्र हंता बन गए, तब भगवान् कृष्ण ने रथचक्र उठाकर भीष्म पितामह को ललकार कर अपने शौर्य का प्रदर्शन किया, साथ ही यह संदेश भी दिया कि यदि हमारा कोई वचन अधर्म का साथी और पक्षधर बनने के लिए हमें विवश करने लगे, तब हमें अपनी जड़ता त्याग कर उस वचन को भंग करने में संकोच नहीं करना चाहिए। यह संदेश उनके स्वयं के लिए भी था और भीष्म पितामह के लिए भी।

यदि धर्म रक्षार्थ शस्त्र धारण कर आततायी का वध भी कर देना पड़े, तब उसे अधर्म नहीं कहा जा सकता। लोक भी यही कहता है-

जो जग के हित कारणे, ले हाथा तरवार ।  
जगती को दुख मेटताँ, करे सीस नीछार ॥  
ऐसो जन निसचय कहे, साँचो सूर कहाय ।  
धरम न्याव ने राखताँ, तनक प पाछी खाय ।  
सौर पुरख तिन जाणिए, वचना राक रखणार ।  
सस्त्र साज रण जा धजे, करे सिंघ ललकार ॥  
वचना को प्रण राखताँ, करे प्राण न्यौछार ।  
सौरवान साँचो पुरख, संत करेँ निरधार ॥

लोक कहता है- जो जन संसार के हितार्थ हाथों में तलवार लेकर जगत के दुःख मिटाने में सन्नद्ध हो जाय। ऐसे जन को निश्चय रूप से शूरवीर कहा जाता है। ऐसा शौर्यवान् पुरुष धर्म और न्याय की रक्षा करने में तनिक भी पीछे नहीं हटता। इसी क्रम में लोक कहता है- शौर्यवान् उसे कहा जा सकता है, जो अपने वचन की रक्षा करता है। इसके लिए युद्धरत भी होना पड़े, तब वह शस्त्र सज्जित होकर युद्ध भूमि में डटकर ललकार लगाए। अपने वचन की रक्षा करते हुए जो वीर अपने प्राण तक न्योछावर कर दे। ऐसे पराक्रमी वीर पुरुष को संत जनों ने शौर्यवान् कहा है।

तेजाजी सत्य, निष्ठा, दया, शुचिता, वचन-पालन, वीरत्व,

पराक्रम और शौर्य के लोक-नायक है। लोक इन्हें इसी रूप में पूजता है।

जब तेजाजी अपनी परणी (पत्नी) पेमल को लिवाने जा रहे थे, तब मार्ग में उन्होंने देखा वन में भयंकर आग लगी है। हजारों वृक्ष, वन पशु-पक्षी जल कर राख हो रहे हैं, तब उन्होंने अपने योग-बल से जल छिड़ककर अग्नि का शमन कर दिया। उन्होंने देखा एक झाड़ी में एक नाग अग्नि से दग्ध हो चुका है। दया भाव से तेजाजी ने अपने भाले की नोक से उस नाग को झाड़ी से बाहर निकाल दिया। उस पर नाग फुँकारता हुआ बोला- अरे तेजाजी! तूने भयंकर पाप किया है। मेरी नागिन जलकर राख हो चुकी है। वह अपने नाग लोक पहुँच भी गई, किन्तु मैं नहीं जा पाऊँगा। तूने हमारे मिलन में बाधा उत्पन्न की है। मैं तुझे डसूँगा। यदि मैं अपनी जोड़ी की नागिन से नहीं मिल सका, तब तू भी अपनी जोड़ी की परणी से क्यों मिले?

वासक की बात सुनकर तेजाजी ने वचन दिया कि मैं अपने ससुराल जा रहा हूँ। वापसी में मैं आपकी बाम्बी पर हाजिर हो जाऊँगा। तब आप मुझे डँस लेना। यह तेजा जाट का वचन है। प्राण जा सकते हैं किन्तु वचन नहीं जा सकता। जब तेजाजी लाछाँ गूजरी की गायों और बछड़ों की रक्षा करते हुए घायल होकर मरणासन्न हो जाता है, तब भी वह उसी अवस्था में वासक की बाम्बी पर जाकर पुकार लगाता है-

बाँम्बी से बाहर पधारो वासक राजा वो,  
वचना में बंध्यो यो तेजल आवयो ।

वचन पालन करने का यह सर्वोत्कृष्ट उदाहरण था। क्या हम इसे वीरता कहेंगे? कदापि नहीं। यह भी एक तरह का शौर्य ही था, जिसने तेजाजी को अपना वचन पालन करने की प्रेरणा प्रदान की।

इससे पूर्व जब तेजल अपने ससुराल में था और लाछाँ गूजरी ने उसे एक रात अपने महल में मेहमान बनाया। उसी रात मीणों ने उसकी गायें और बछड़े घेर लिए। उसने तेजल के सामने आर्तपुकार लगाते हुए कहा-

गायाँ की तो रगसा में जावो तेजल कँवरा धोल्या वो,  
थारे वचना की रगसा वासग राखसी ।



होवेगी-होवेगी सत की जीत तेजल कँवरा वो,  
गायों तो छुड़ालो सत का जोरती।

तेजल ने लाछाँ गूजरी को वचन दिया कि मैं तुम्हारी गायें और बछड़े वापिस लेकर आऊँगा। तेजल अपनी नीली घोड़ी पर सवार हो मीणों के पीछे जा लगा। वह उन्हें ललकारता है-

चेतो-चेतो चोरड़ा थे मीणका गोला वो,  
हामूँ तो ऊधो हे तेजल जाट को।

जब वह अकेले दम पशु चोर मीणों को ललकार लगाता है, तब उसका वीरत्व शौर्य सज्जित हो जाता है। वह शौर्य के रथ पर आरूढ़ होकर मीणों से जूझ गया। गाथा कहती है-

तेजल रो सूरमो पणो देख मीणा का पग काचा पड़ि गया।  
मीणा गायों ने छोड़ भाग खड़ा विया।

गाथा भी यहाँ तेजल में उदित 'सूरमा पन' (शौर्य पन) की बात कहती है। वह केवल वीर नहीं शूरवीर था।

तेजाजी बुरी तरह घायल हो गया था। इसके बावजूद उसने गायों को लाछाँ को सौंप, फिर से पीछे छूट गया एक बछड़ा लेने जाना पड़ा। वह फिर मीणों से लड़ा और बछड़ा छुड़वा कर ले आया। अपने वचन पालन में तेजल ने जो शौर्य प्रदर्शित किया, वह अद्भुत और अनुपम था। भले ही उसने अपने वचन-पालन में अपने प्राण न्योछावर कर दिए, किन्तु उस महानायक ने अपने शौर्य के बलबूते पर अपने वचनों का पालन कर दिखाया।

लोक में इस प्रकार के प्रसंग अनेक मिल जाते हैं, जिसमें वीरत्व का प्रदर्शन शौर्य भाव से हुआ है। उन प्रसंगों में हम वीरता, पराक्रम और शौर्य का अन्तर भलि-भाँति समझ सकते हैं।

देवनारायण, पाबूजी, गोगाजी, ढोला और मरवण, मऊ मैदाना का शौर्यवान नायक पृथ्वीराज खीची आदि ऐसे अनेक प्रसंग हैं, जिन्होंने समय-समय पर अपने वीरत्व को शौर्य में परिवर्तित कर लोक-कल्याण में अपना योगदान दिया है। वीरता पराजित हो सकती है। पराक्रम परास्त हो सकता है किन्तु शौर्य कभी पराजित नहीं होता। उसमें शिवशंकर भाव निहित होता है। शौर्य कभी भी परपीड़क नहीं हो सकता। वीरता या पराक्रम हो सकता है। शौर्य का एक और उदाहरण 'पृथ्वीराज खीची रा जुद्ध'

(जिसे 'पृथ्वीराज री राड' भी कहा गया है) में हम देख सकते हैं।

घाटी का राजा मेदा अतिचारी राजा था। उसने अनेक भील युवतियों को अपनी कैद में बंद कर रखा था। खीची पृथ्वी ने अपने पराक्रम और वीरता से घाटी महल पर आक्रमण किया। रात्रि में किला कोट में प्रवेश कर सभी भील युवतियों को मुक्त करवाया और घुड़साल का फाटक खोलकर उनकी नायिका वीरांगना रूपण से कहा- तुम सब भील युवतियों को शस्त्र-सज्जित करो। घुड़साल से अपनी-अपनी पसंद का घोड़ा लेकर दिन उगने से पूर्व वन के पार निकल जाओ। घाटी राजा से अपने अपमान का प्रतिशोध लो। नारी शक्ति जगाओ। जब नारी पर आपदा आ पड़े, उसकी लाज खतरे में पड़ने लगे, तब उसे रणचण्डी और कालिका बन जाना चाहिए। आगे चलकर ऐसा हुआ भी, रूपण की भील नारी सेना ने घाटी के राजा मेदा और मानसिंह की सेना के छक्के छुड़वा दिए। गाथा का यह प्रसंग केवल वीरता और पराक्रम का उदाहरण प्रस्तुत नहीं करता, वह पृथ्वी खीची के शौर्य और रूपण को जागृत करने का सर्वोत्कृष्ट प्रसंग भी है। इसी प्रकार तेजल गाथा में जब तेजाजी को मीणे घेर लेते हैं और उनकी नीली घोड़े के साथ उसकी बहन पर भी घात लगाना चाहते हैं, तब तेजल तो मीणों पर टूटता ही है, किन्तु तभी राधा का शौर्य भी जाग जाता है। और वह मीणों को ललकार कर उन पर टूट पड़ती है। गाथा कहती है-

किलकारी लगाई राधा गाजी बादल गान्यो वो,  
नाहरड़ी ज्युँ गाजी बेटी जाट की।  
खाण्डा को तो वार तुरताँ कर्यो राधा झपटी वो,  
दमणी के ओले जी मीणा रपटया,  
भुट्टा ज्युँ उड़ा दी गाबड़ दोई मीणा मार्या वो,  
खाण्डो तो चलाने बेटी जाट की।

राधा ने जोर की ललकार लगाई। उसकी किलकारी वैसी ही थी जैसे बादल गरजा हो, वह खाण्डा धारण कर स्वयं पर आक्रमण करने आए मीणों पर टूट पड़ी, उसने उन्हें भुट्टों की तरह काट डाला।

राधा युद्ध कुशल नहीं थी, किन्तु अपनी लाज पर आपदा को आया जान वह रणचण्डी बन गई। वह कालिका की भाँति

किलकारी लगाकर आक्रान्ताओं पर टूट पड़ी। अपने खाण्डे के वार से उन्हें मार डाला। यह था शौर्य का वास्तविक उद्वेग। शौर्य और वीरता का इससे बड़ा अन्तर और कहाँ पढ़ने-सुनने को मिल सकता है। इसी प्रकार ढोला-मरवण गाथा में कमल के समान कोमल मरवण भी अपनी लाज पर आपदा आने पर शत्रुओं पर टूट पड़ी थी। इसे वीरता से ऊपर शौर्य ही कहा जाएगा। शौर्य के अनेक लोक-कल्याणी, धर्म और न्याय की रक्षार्थ तथा वचन पालन के अतिरिक्त नारी रक्षा, वनरक्षा तथा नारी में आत्मरक्षा के उत्कर्ष हेतु प्राण पण से जूझने के उदाहरण लोक-साहित्य में उपलब्ध हैं।

शौर्य का भाव और देश-धर्म और न्याय का भाव तो माताएँ बालक को अपनी मधुर लोरी में समझा देती हैं। एक माता अपने शिशु को पलना झुलाते हुए तथा लोरी गाते हुए कहती है-

जतरी दाण थने मचको देऊँ, मचका गणतो जाजे तू।  
 धरम नेम को पालन करजे, धरम धजा जुलम फहराजे तू।  
 मात पिता की सेवा करजे गरू का सरणा जाजे तू।  
 जुलमी जुलम मती तू सइजे, धरती ती जुलम मिटाते तू।।  
 गो बामण की रगसा करजे, बेना को मान रखाजे तू।  
 वका पड़े जद राज धरम पे, जुद्ध भोम में जाजे तू।  
 खोल उगाड़ी छाती लड़जे, भोरौं पे घाव मति खाजे तू।  
 मर जाजे कट जाजे रण में, चुड़ला को मान रखाजे तू।  
 जतरी दाण थने मचको देऊँ, वतरी दाण धरा धुजाजे तू।  
 म्हारे दूद वंस की इज्जत, बेटा मति गंवाजे तू।

‘हे मेरे पुत्र! मैं जितनी बार तुझे झुला झुला रही हूँ। तू उनकी गिनती अवश्य रख लेना। तू बड़ा होकर धरती से आतंकी और आतंकवाद, जुलम और जुल्मी दोनों को समाप्त कर देना। जब-जब राजधर्म पर आपदा आए, तब -तब तू शस्त्र सज्जित होकर युद्ध भूमि में डट जाना। युद्ध में तू शौर्यपूर्वक छाती खोलकर अगली पंक्ति में लड़ना। पीठ पर घाव कभी मत खाना। मर जाना-कट जाना, किन्तु चुड़ले वाली के मान की रक्षा में पीछे मत हटना। मैं तुझे जितनी बार पलना झुला रही हूँ उतनी बार तू धरती को डोला देना। तेरी वीरता-तेरा पराक्रम और शौर्य कभी कम नहीं होने पाए। मेरे दूध और वंश की इज्जत कभी भी कम मत होने देना, सदा उसकी रक्षा करना।’

यह भव्य भाव बालपने से ही माता अपने शिशु की रगों में भावों में तथा संस्कारों में भर देती है। जब माता अपने शिशु को अपने आँचल में लेकर उसे स्तनपान कराती हुई लोरियाँ गाती है, तब वह विश्व की सर्वाधिक सुन्दर एवं महिमामयी स्त्री दिखती है। उसकी मंगल कामनाएँ केवल अपने शिशु के प्रति ही नहीं, अपितु समग्र विश्व के शिशुओं एवं विश्व की मंगल कामना के लिए होती है। उसकी लोक-कल्याणी भाव-महिमा पूरे जगत को आनन्दमय, शांतिमय, मंगलमय और सर्वेभवंतु सुखिना से परिपूरित होती है। वह अपने दूध के माध्यम से शिशु की नसों में दो वंशों का रक्त प्रवाह करती है तथा लोरी के माध्यम से संस्कृति का पाठ पढ़ाती है। बालक युवा होकर कर्तव्यनिष्ठ और शौर्यवान बने, ज्ञानवान बने, स्वाभिमानी बने यही उसका परम लक्ष्य होता है। माता के दूध की एक-एक बूँद में शौर्य की जीवंतता निहित होती है।

वीरत्व और पराक्रम तो वह बड़ा होकर गुरुओं के सान्निध्य में तथा आसपास के वातावरण में रहकर सीखता है, किन्तु पराक्रम का उत्कर्ष शौर्य तो उसे माता दूध और लोरी में ही सिखा देती है। जब एक सुहागन का पति देश रक्षा के लिए युद्ध में जाने के लिए तत्पर हो रहा होता है। तभी श्रृंगार करने हेतु नाइन आती है और पैरों में महावर लगाना चाहती है, तब सुहागिन कहती है-

नाइन आज न माण्ड पग काल सुणीजे जंग।  
 धारौं लागीजे धणी, तो दीजे घण रंग।।

हे नाइन! आज मेरे पैर मत श्रृंगार। सुना है कल युद्ध होने वाला है। मेरा पति अवश्य वीरगति प्राप्त करेगा। वह पराक्रमी एवं शौर्यवान है। अगली पंक्ति में लड़ेगा। अन्ततः वीरगति प्राप्त होगा। तब तू आकर मेरा सती श्रृंगार करना। तब पैरों पर महावर लगाना। यह है दूध मिली शौर्य की घुट्टी का प्रभाव। हाड़ी रानी अपने युद्ध विरक्त पति को अपने रूप-सौन्दर्य में मोहित देखकर अपना मस्तक काटकर दे देती है। उसे युद्ध से विमुख होने के कलंक से बचाना उसका अभीष्ट होता है। क्या हम इसे हाड़ी रानी का शौर्य नहीं कहेंगे।

शौर्य मरकर भी जीना सिखाता है। वीरत्व और पराक्रम को संयमित भी करता है और प्रखर भी करता है। शौर्य को शस्त्र नहीं चाहिए। वह शस्त्र के बिना विजय दिलवाता है। हमारे भीतर

सदा विराजित भाव परिस्थितियों के कारण जागृत हो उठता है। कई बार कोई शौर्यवान पुरुष हमारे भीतर सुख शौर्य को जागृत कर देता है।

सागर तरण में हनुमान-जामवंत प्रसंग इसी का उदाहरण है। हनुमान के पास वीरत्व भी था। वे अदम्य पराक्रमी भी थे। किन्तु उनका शौर्य हताशा में पड़ा सो रहा था। जामवंत ने उनके पूर्व पराक्रमों का उल्लेख कर जागृत कर दिया। शौर्य हमारे वीरत्व एवं पराक्रम को बल प्रदान करता है। हमें निर्भय बनाता है। आक्रांता के भय से मुक्त कर देता है। वह भय ही है जो हमें सदा यथास्थिति स्वीकारने के लिए विवश करता रहता है। आक्रांता के भय को स्वीकार करते रहने को अपनी नियति मानने के लिए प्रेरित करता है। आक्रांता द्वारा प्रदर्शित भय ही उसकी शक्ति और हमारी निर्बलता होती है। शौर्य हमें उससे मुक्त कर हमारे पराक्रम को बल प्रदान करता है।

शौर्य के लिए सूर और सूरमा शब्दों का भी लोक में प्रयोग हुआ है। ये दोनों शब्द शौर्य का लोकज स्वरूप हैं। संतों ने इस शब्द का प्रयोग कई बार किया है। उनके लिए तो सच्चा सूरमा वही है, जिसके हृदय में न ईर्ष्या हो, न क्रूरता हो, न कपट हो और न छल हो, जो वचन दृढ़ हो।

*जिनके घट नहीं ईरसा, नहीं कपट छल क्रूर।  
कहयो वचन टारे नहीं, ते जत साँचा सूर॥*

इसलिए साध्वी सोलंकणी सीता कहती हैं- सच्चे शौर्यवान यदि कोई हुए तो वे थे संत पीपाजी, सैनाजी और कबीरजी, जिन्होंने हमारे हृदय की जड़ता का हनन कर हमें जीवंतता प्रदान की। ऐसे सभी संत, वीर और फकीर ही सच्चे शूरवीर हैं। वही वास्तविक शौर्यवान पुरुष हैं।

*शौर्यवान पीपा कहँ, सैना संत कबीर।  
सीता जिन जड़ता हनी, शूरा पीर फकीर॥*

साध्वी सीता जी की इस साखी ने शौर्य को इतनी विशालता प्रदान कर दी है। यहाँ तो तेग और तलब व्यर्थ ही हो जाती है। यदि जड़ता हो तो तलवार तो सचमुच व्यर्थ ही हो जाएगी।

यह भी आवश्यक नहीं कि शौर्य केवल मनुष्यों में ही

होता है, वह पशुओं में भी विद्यमान रहता है। जहाँ मेरा नगर है वहाँ से यही कोई 20-25 किलोमीटर उत्तर में अरावली पठार है। वर्षा ऋतु में सैकड़ों गायें वहाँ पठार पर चरती हैं। वर्षा ऋतु के अलावा भी गायें वहाँ चरती हैं, किन्तु वर्षा ऋतु में उनकी संख्या बढ़ जाती है। कई बार जब कोई तेंदुआ या चीता उन पर झपटना चाहता है, तब वे दम लगाकर तथा भयग्रस्त होकर भाग खड़ी होती हैं। गायें आगे और तेंदुआ पीछे। जब गायें थक जाती हैं, तब वे अचानक रुक जाती हैं और पलटकर पहले तो रुककर हुंकार भरती हैं और फिर तेंदुए के पीछे दौड़ पड़ती हैं। अब स्थिति बदल जाती है। तेंदुआ गायों के उस अप्रत्याशित आक्रमण से भयभीत हो उठता है। गायों का शौर्य जाग उठता है। भय समाप्त हो जाता है। वे पराक्रमी हो जाती हैं। तेंदुआ उनके सींगों की मार खाकर अपने आप को बचाकर वहाँ से भाग जाता है। फिर कभी वह पठार के उस अंचल में दूर-दूर तक भी नजर नहीं आता। इस उदाहरण से क्या यह सिद्ध नहीं हो जाता कि शौर्य वह परमशक्ति है जो वीरत्व और पराक्रम को मुखर कर देती है।

श्रीमद्भागवत गीता में भगवान कृष्ण कहते हैं-

*शौर्यतेजो वृत्तिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यलायनम्।  
दानमीश्वर भावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥*

अर्थात् शौर्य, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्ध में पलायन न करने की दृढ़ता, दान और स्वामीभाव ये सब क्षत्रिय के लक्षण हैं।

इस लोक में शौर्य को वीरता और पराक्रम का ज्योति पुंज माना गया है। यदि शौर्य है तो वीरता और पराक्रम भी होंगे ही। बिना शौर्य के न वीरत्व रहेगा और न पराक्रम। यही बात महाकवि तुलसीदास भी कहते हैं- जिस मनुष्य में बल तो है, उसके पास अनेकानेक शस्त्रास्त्र भी हैं। जैसा की रावण का सज्जित रथ था, किन्तु यदि उस योद्धा के पास तेजस्विता नहीं है, धैर्य नहीं है, कुशलता नहीं है, युद्ध में डटे रहने की दृढ़ता नहीं है तथा जो दाता नहीं और सबसे बड़ी बात जिसमें स्वामीभाव नहीं है। वह न तो क्षत्रिय कहा जा सकता है और न शौर्यवान। यह स्वामीभाव क्या है? क्या समर्पण, दासता या फिर केवल अनुकरणीय स्वभाव? स्वामी तो ईश्वर भी है, देश भी है, धर्म भी है, धर्म की भी परिभाषा

सोचे तो अत्यंत व्यापी है। हम जो धारणा करते हैं, वही हमारा धर्म है। इसलिए हम वही धारणा करें जो लोक-कल्याणकारी हो।

इस प्रकार क्षत्रिय वही है, जिसमें उपरोक्त सभी गुण विद्यमान हों। अन्यथा उसे क्षत्रिय नहीं माना जा सकता। जो क्षत्रिय धर्म धारक नहीं है, उसमें शौर्य भी कैसे होगा? संत पीपा जी कहते हैं-

*छत्री छत्र धरे रिच्छा कौ। जम भय विचलित करे न जाको ॥  
जनम भूमि रिच्छा री सिच्छा। पीपा करते सफल परीच्छा ॥*

इतने गुण जिसमें हैं वह निश्चित रूप से क्षत्रिय है तथा वही शौर्यवान भी है। लोक ने जिस शौर्य भाव की अवधारणा की है, वह तो लोक-कल्याणी, मंगल दायी और शिवशंकर भाव सम्पन्न है। साध्वी सीता सोलंकणी कहती है-

*या जगती रण भूमि हे, सजें जुद्ध हर बार।  
सीता साँचा सूरमा, करें जीत अर हार ॥*

साध्वी सीता की यह साखी इस समूचे जगत को ही रणभूमि मानती है। उनके अनुसार जीवन में सदा कोई न कोई युद्ध (जीवन संघर्ष) होता ही रहता है। किन्तु जो सच्चा सूरमा होता है वह कभी पराजित नहीं होता। सत्य, धर्म और न्याय एवं सदाचार के लिए सदा युद्धरत रहता है। कितने भी शत्रु सामने आ जायें, वह विचलित नहीं होता और संघर्ष बना रहता है। वही सच्चा शौर्यवान पुरुष कहलाता है। वे कहती हैं।

*सीता साँचो सूरमो, कधौं न माने हार।  
कतराइ समण आ डटें, करे बार पे बार ॥*

## भारतीय लोकनाट्य

निरंजन महावर

भारत एक विशाल देश है, जिसमें प्राचीन काल से अनेक जातियाँ तथा धर्मावलम्बी निवास करते हैं। अनेक जातियों के लोगों का अप्रवास भारत में प्राचीनकाल से होता रहा है। यहाँ न केवल अनेक धर्मों के अनुयायी निवास करते हैं, वरन् यहाँ अनेक भाषाएँ और बोलियाँ भी बोली जाती हैं। यहाँ के मूल निवासियों के अनुवांशिक मूल भी भिन्न-भिन्न हैं। अत्याधिक विस्तृत भू-भाग में फैले हुए इस देश के भिन्न-भिन्न भागों में बसे हुए लोग भी विकासक्रम की पृथक-पृथक अवस्थाओं में रहते हुए देखे जा सकते हैं। आज भी यहाँ ऐसी अनेक जनजातियाँ निवास करती हैं, जो आजीविका हेतु भोज्य सामग्री जैसे कंद-मूल, फलों का संग्रह करती हैं और आखेट आदि के द्वारा अपना जीवन-यापन करती हैं। कुछ जनजातियाँ आंशिक रूप से कृषि द्वारा अपनी आवश्यकता हेतु कुछ अन्न उत्पन्न करती हैं, और आंशिक रूप से वनोपज संग्रह एवं आखेट पर निर्भर रहती हैं। कुछ ऐसी जनजातियाँ हैं जो झूम अथवा पेढ़ा जैसी आदिम कृषि अवस्था में ही बनी हुई हैं। मैदानी क्षेत्रों की कुछ जनजातियों ने कृषि को अपनी आजीविका के रूप में अपना लिया है।

विकास के भिन्न-भिन्न स्तरों पर स्थित इन जनजातियों के अलावा भारत में ऐसी भी अनेक जनजातियाँ निवास करती हैं, जो घुमन्तू या यायावर हैं। जिनके न तो स्थाई ग्राम ही हैं, और न ही स्थाई आवास। ऐसी अनेक जनजातियाँ डेरों अथवा टांडों में निवास करती हैं, जो अपना स्थान बदलती रहती हैं।

भौगोलिक दृष्टि से भी भारत अत्यन्त ही वैविध्यपूर्ण देश है। उत्तर में हिमालय पर्वत, उत्तर-पश्चिमी सीमा से पूर्व में असम तथा नेपाल तक फैला हुआ है। हिमालय की तराई का सुरम्य प्रदेश वनों से आच्छादित है और उपजाऊ भी। तराई से दक्षिण की ओर बढ़ने पर पंजाब और गंगा-जमुना का दोआबा क्षेत्र आते हैं, जो मैदानी क्षेत्र हैं और अत्यन्त उपजाऊ हैं। पूर्व में गंगा तथा ब्रह्मपुत्र के डेल्टा

प्रदेश हैं। पश्चिम में अरावली पर्वत माला है, जिस पर कभी हरे-भरे सुरम्य वन आच्छादित थे, जो लगातार बेतरतीब कटाई के कारण क्षीण होते जा रहे हैं। अरावली के पश्चिम में थार का विशाल रेगिस्थान है, जो कच्छ तक फैला हुआ है। भारत के मध्य में सतपुड़ा और विन्ध्याचल पर्वत मालाएँ पूर्व से पश्चिम की ओर समानान्तर फैली हुई हैं। इस प्रदेश में अनेक जनजातियाँ निवास करती हैं जो भारत की मूल निवासी हैं।

सतपुड़ा के दक्षिण में छत्तीसगढ़ का मैदानी क्षेत्र विद्यमान है, जो पश्चिम उड़ीसा के साथ जा मिला है। छत्तीसगढ़ के दक्षिण में बस्तर का पठार स्थित है जो समुद्र सतह से सत्ताइस सौ फुट से पैंतीस सौ फुट ऊँचा है। इस पठार का विस्तार दक्षिण तक चला गया है। प्राचीन काल में यही प्रदेश दंडकारण्य कहलाता था। गोदावरी नदी के दक्षिण में आंध्र, पश्चिम में कावेरी नदी के बहाव क्षेत्र में कर्नाटक और कावेरी नदी के डेल्टा में पूर्वी तट पर तामिलनाडु स्थित है। कर्नाटक के दक्षिण में पश्चिमी तट पर केरल प्रदेश स्थित है, जिसका प्राकृतिक सौंदर्य अत्यन्त सुरम्य है। भारत के पूर्व में पूर्वीघाट और पश्चिम में पश्चिमी घाट पर्वत मालाएँ स्थित हैं। इन पर्वत मालाओं के समाप्त होने पर पूर्व में बंगाल की खाड़ी, पश्चिम में अरब सागर और दक्षिण में हिन्द महासागर भारत की सीमाओं का निर्माण करते हैं। दक्षिण के ये तीनों ही प्रदेश सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध हैं, जिन्होंने अपने कला स्वरूपों को पूरी तरह से सुरक्षित रखा है।

इतने वैविध्यपूर्ण देश का जहाँ इतनी वैविध्यपूर्ण भौगोलिक स्थितियाँ विद्यमान हों, जहाँ इतनी विविध प्रकार की जातियाँ तथा जनजातियाँ निवास करती हों, जिनके रहन-सहन, आचार-विचार तथा भिन्न-भिन्न धार्मिक आस्थाएँ और भिन्न-भिन्न बोलियाँ हों, उनकी कला परम्पराएँ भी स्वाभाविक रूप से वैविध्यपूर्ण होंगी। भारत जैसे विशाल देश में समानान्तर अनेक कला स्वरूपों का विकास हुआ है, जिनमें आपस में निरंतर के सम्पर्क फलस्वरूप सांस्कृतिक आदान-प्रदान लगातार चलता रहा है। भिन्न-भिन्न क्षेत्र और भिन्न-भिन्न सामाजिक स्तर और विकास क्रम के अनुरूप भारत के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के लोगों ने अपने धार्मिक अनुष्ठानों तथा अपने मनोरंजन हेतु अपने-अपने उपलब्ध साधनों के अनुरूप कला स्वरूपों का विकास किया है। बहुत से नृत्यों का विकास फसल चक्र के अनुसार हुआ है। फसल को समारोहित करने हेतु

अपनी उमंग और उल्लास के प्रदर्शन स्वरूप तथा नैसर्गिक शक्तियों के प्रति अच्छी फसल प्रदान करने के लिए कृतज्ञता प्रकट करने हेतु अनेक नृत्यों का उद्भव सम्पूर्ण भारत में हुआ है। फसल चक्र का सम्बन्ध बहुत हद तक ऋतु से जुड़ा हुआ है, अतः ऋतु चक्र से सम्बन्धित अनेक पर्वों पर आयोजित होने वाले नृत्य-गीत आदि भी प्रकृति के प्रति कृतज्ञता दर्शाने हेतु विकसित हुए हैं। उमंग-उल्लास आनंद और मनोरंजन के इन अवसरों को समारोहित करने हेतु भारतीय जनों ने अनेक सामुदायिक नृत्यों का विकास किया है। इन कला स्वरूपों के विकास में समाज विकास के स्तर, सामाजिक पृष्ठभूमि, भौगोलिक स्थितियाँ और उपलब्ध साधनों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। कालान्तर में अपने-अपने जातीय कौशल और कलाकारों की प्रतिभा ने इन कला स्वरूपों को और परिष्कृत करके उन्हें समृद्ध किया है। हमारी संस्कृति और हमारे कला स्वरूपों की यह विविधता ही हमारे समाज विकास और उसमें विद्यमान सामंजस्य का एक महत्वपूर्ण पक्ष है।

भारत के समस्त कला स्वरूपों में एकरूपता खोजने की चेष्टा या एकरूपता स्थापित करने का प्रयत्न अत्यन्त अज्ञानतापूर्ण और अवैज्ञानिक होगा। कुछ विद्वान अपने पूर्वाग्रहों अथवा अपनी निहित स्वार्थ दृष्टि से उत्पन्न कुछ मान्यताओं को स्थापित करने की चेष्टा में ऐसे तर्क गढ़ लेते हैं, मानों कि भारत की कोई एक ही विशिष्ट सांस्कृतिक परम्परा है और अन्य सभी विभिन्न प्रयोगधर्मी कलाएँ (परफार्मिंग आर्ट्स) उस एक विशिष्ट परम्परा से ही उत्पन्न हुए हैं। ऐसी चेष्टा करना हमारी कला के बहुआयामी बहुविध स्वरूप को नकार कर उसे संकीर्ण तथा साम्प्रदायिक मान्यताओं में जकड़ना होगा।

कुछ कला समीक्षक इन कला स्वरूपों का वर्गीकरण लोक कला, परम्पराशील कला और शास्त्रीय-कला आदि नामों से करते हैं। दरअसल नृत्यशास्त्रियों ने भारतीय कला परम्पराओं के अध्ययन के लिए पश्चिमी शब्दावली को ज्यों का त्यों अपना लिया है, जिसके कारण अनेक भ्रांतियाँ और कठिनाईयाँ उत्पन्न हो गई हैं। 'फोक आर्ट्स' के लिए लोक-कला पर्यायवाची शब्द के रूप में रूढ़ होता जा रहा है, जबकि हमारी परम्परा में लोककलाएँ एक अत्यन्त व्यापक संदर्भ को प्रतिष्ठित करती हैं। यूरोप और अमेरिका के कला समीक्षक हमारे यहाँ के शास्त्रीय संगीत को भी

‘एथनिक’ कहकर वर्गीकृत करते हैं, जबकि उन्हीं मानदण्डों पर वे अपने संगीत को वर्गीकृत करने को सहमत नहीं हैं। वे अपने संगीत की पहचान तो शास्त्रीय या केवल संगीत शब्द से करवाना चाहते हैं और दूसरे देशों के संगीत को ‘एथनिक’ जैसे शब्दों से सम्बोधित करते हैं, जो पिछड़ी जातियों का सूचक शब्द है।

भारत की प्रयोगधर्मी कलाओं का गहराई से अध्ययन करने पर उनमें सामाजिक विकासक्रम के अनेक स्तर दिखाई पड़ते हैं, जैसे- आदिम कबीलाई आदिवासियों के धार्मिक-अनुष्ठानिक घुमन्तू जनों एवं पशु पालन व्यवस्था से जुड़े हुए नृत्य, कृषि समाज के स्थापित होने पर ग्रामीण समाज से सम्बन्धित सामुदायिक कला स्वरूप, देवी-देवताओं की आराधना में मंदिरों में विकसित हुए नृत्य, कथा वाचकों एवं नृत्य संगीत को आजीविका के रूप में अपनाने वाली जातियों द्वारा विकसित किए गये कला स्वरूप तथा कस्बों और नगरों में अभिजात्य वर्गीय कलाकारों द्वारा विकसित वे कला स्वरूप, जिन्हें हम आज मार्गी या शास्त्रीय कलाएँ आदि के नाम से सम्बोधित करते हैं।

भारत के सभी प्रदेशों में आदिवासी जन निवास करते हैं, जिनकी सम्पूर्ण जनसंख्या लगभग पाँच करोड़ होगी। कश्मीर, हिमाचल प्रदेश, उत्तरप्रदेश का पहाड़ी क्षेत्र और हिमालय पर्वत माला के साथ-साथ असम, मणिपुर, नागालैंड, मिजोरम, अरुणाचल तक की पट्टी जो भारत के उत्तर में पश्चिम से पूर्व तक अनेक आदिवासी समुदायों को अपने आँचल में समेटे हुए है। इनमें अनेक आदिवासी समुदाय मंगोल वंश के हैं। हिमालय की तराई में बसने वाली जनजातियाँ किन्नर, थारू आदि हैं। पश्चिमी भारत के राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र तथा मध्यप्रदेश में अनेक घुमन्तू जनजातियाँ, पशु पालक जनजातियाँ, भील जनजाति तथा अन्य अनेक जनजातियों एवं जातियों के लोग निवास करते हैं, जिनके अपने-अपने भिन्न-भिन्न नृत्य हैं।

भारत के मध्य में विन्ध्याचल के दक्षिण में गोदावरी के तटवर्ती क्षेत्र तक जो पूर्वीघाट पर्वत मालाओं तक फैला हुआ है, उसमें अनेक जनजातियाँ निवास करती हैं। इनमें से कुछ जनजातियाँ द्रविड़ मूल की हैं, जो निग्रो प्रजाति की हैं और कुछ जनजातियाँ आस्ट्रिक प्रजाति की हैं। सघन वनों से आच्छादित इस पर्वती एवं पठारीय क्षेत्र की जनजातियों के अपने-ऐसे पारम्परिक नृत्य जिनका

सम्बन्ध प्रजनन एवं धरती की उर्वरा शक्ति को जागृत करने से सम्बन्धित हैं, वर्तमान में भी सुरक्षित है। करमा, ऐसा ही एक नृत्य है जो भारत के मध्यवर्ती क्षेत्र के विस्तृत भू-भाग में प्रचलित है। बस्तर में विवाह के अवसर पर माड़ियों द्वारा किया जाने वाला गौर नृत्य तथा मुरियों द्वारा किया जाने वाला हुल्कीपाटा तथा घोटुलपाटा नृत्य प्रजनन के उत्प्रेरक जटिल अभिप्रायों को अपने भीतर समाहित किये हुए है। इस क्षेत्र की जनजातियों के अन्य नृत्यों में अनुष्ठानिक भावना तथा अपने देवी-देवताओं के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन का भाव समाहित होता है।

इन जनजातियों की जनसंख्या को यदि भारतीय ग्रामीण जनसंख्या के साथ जोड़कर देखें तो भारत की सत्तर से पचहत्तर प्रतिशत जनसंख्या आज भी ग्रामों और आदिवासी अंचलों में निवास करती है। ग्रामीण भारत के संगीत, नृत्य, नाट्य तथा अन्य सभी प्रयोगधर्मी कला स्वरूप फसल-चक्र से जुड़े हुए हैं, जो कृषक-समाज के कृषि से सम्बन्धित कार्यक्रमों से सम्बद्ध हैं।

भारत में आर्यों के आगमन से पूर्व एक समुन्नत नगर सभ्यता विद्यमान थी। जब आर्य-जाति पशुपालन अवस्था में थी, तो उस काल में भारत के मूल निवासी जो द्रविड़ मूल के थे, वे बड़े-बड़े नगर बनाकर रहते थे। मोहनजोदड़ों तथा हड़प्पा की खुदाई में प्राप्त होने वाले नगरों की योजना, भवन निर्माण में प्रयुक्त सामग्री, सीधी लम्बी सड़कें, पानी के निकास के लिए बनाई गई नालियाँ तथा निस्तार हेतु स्वच्छ जल के लिए निर्मित पक्के कुएँ आदि को देखकर ज्ञात हुआ कि भारत में लगभग आज से साढ़े चार-पाँच हजार वर्ष पूर्व ही एक समुन्नत नगर सभ्यता विद्यमान थी। इन प्राचीन नगरों से प्राप्त होने वाली अन्य कलात्मक वस्तुओं में पकाई हुई मिट्टी की सीलें, नर्तकी की एक कांस्य प्रतिमा, पुरोहित की मूर्ति तथा पशु-पक्षियों की आकृतियों के खिलौने आदि थे, जो मिट्टी को पकाकर बनाए गए थे। उन प्राचीन नगरों के पुरावशेषों की खुदाई से प्राप्त सम्पूर्ण सामग्री का अध्ययन करने पर यह बात निर्विवाद रूप से स्थापित हो जाती है कि आर्यों के आगमन के पूर्व इस देश में एक अत्यंत उन्नत एवं समृद्ध सभ्यता विद्यमान थी, जिसमें ललित कलाएँ, शिल्प एवं स्थापत्य तथा नगर निर्माण विज्ञान का स्तर बहुत ही ऊँचे स्तर पर पहुँच चुका था। आर्य उस काल में पशुपालन अवस्था में थे। मोहनजोदड़ों-हड़प्पा की वह सभ्यता द्रविड़ सभ्यता थी।

## भारत में नाट्य का उद्भव एवं विकास

भारत में ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र की रचना की थी। नाट्यशास्त्र केवल नाट्य-विधा पर केन्द्रित एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण ग्रंथ ही नहीं है, वरन् वह अपने आपमें पूर्ण भारतीय सौंदर्य-शास्त्र पर एक सम्पूर्ण ग्रंथ (ट्रीटाइज) माना जाता है। भारतीय नाट्यशास्त्र की एक सुदीर्घ परम्परा रही है। जब नाट्यशास्त्र लिखने की इतनी प्राचीन एवं सुदीर्घ परम्परा भारत में विद्यमान थी, तो इस तथ्य से यह बात अपने ही सिद्ध हो जाती है कि नाट्य लेखन एवं नाट्य खेले जाने की परम्परा तो उससे भी अधिक पुरानी होगी, क्योंकि शास्त्रों की रचना तो उस विधा के अस्तित्व में आने के पश्चात् ही हुई होगी।

नाट्यशास्त्र को पंचमवेद कहा गया है। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र की रचना से सम्बन्धित एक मिथक का वर्णन नाट्य शास्त्र के आरम्भ में ही किया है।

*जग्राह पाठयं ऋग्वेदात्सामम्यो गीतमेव च।  
यजुर्वेदादभिनायात् रसानाथर्वरणदपि।।*

अर्थात् ब्रह्मा जी ने ऋग्वेद से पाठ, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर पाँचवे वेद की रचना की।

ब्रह्मा जी ने इस पंचमवेद को भरतमुनि को सौंपते हुए आदेश किया कि इस वेद की रचना मनोरंजन हेतु की गई है, अतः इसके प्रयोग का भार भरतमुनि को सौंपा गया। स्त्री पात्रों के अभिनय हेतु ब्रह्मा जी ने मंजुकेशी, सुकेशी आदि अप्सराओं को अभिनय के लिये भेजा। नारदादि गंधर्व भी भरत मुनि के पास भेजे गए। इन्द्र ने विश्वकर्मा को एक नाट्य शाला के निर्माण का कार्य सौंपा। नाट्य-शाला के निर्माण के उपरांत नाट्य प्रदर्शन की तैयारियाँ आरम्भ हो गईं। भरतमुनि ने सर्वप्रथम 'देवासुर-संग्राम' नाटक को प्रस्तुत किया, जिसमें देवताओं की असुरों पर विजय दिखाई गई थी। इस नाटक की प्रस्तुति को देखने हेतु देवता तथा दैत्य दोनों ही आये थे। दैत्यों ने इस नाटक को देखकर क्रोध प्रकट किया और अपनी अदृश्य शक्तियों के प्रयोग द्वारा नटों की स्मरण शक्ति, गति और चेष्टा को जड़ीभूत कर दिया। तब इन्द्र ने अपने जर्जर नामक विशिष्ट अस्त्र का प्रयोग कर असुरों द्वारा उत्पन्न विघ्न बाधा को नष्ट किया। दूसरी बार नाट्य प्रदर्शन हेतु

रंगशाला तैयार की गई और नाट्य प्रदर्शन के पूर्व ब्रह्माजी ने दैत्यों के प्रमुख विस्पाक्ष को बुलाकर देवताओं और दैत्यों के बीच समझौता करवाया। ब्रह्माजी ने आश्वासन दिया कि नाट्य केवल देवताओं या दैत्यों के लिए ही नहीं होगा, वरन् तीनों लोकों के सभी जनों के भावों को प्रकट करेगा। नाटक में गृहस्थजनों, दैत्यों, राजाओं और ऋषियों के चरित्र को भी प्रदर्शित किया जायेगा। नाट्य प्रदर्शन में कहीं धर्म और लोकोपदेश, कहीं क्रीड़ाएँ, कहीं धन प्राप्ति, कहीं शांति प्रचार और कहीं युद्ध प्रदर्शित किए जायेंगे। वह सभी प्रकार के लोगों के लिए धर्मप्रद, यशप्रद, आयुष्प्रद, हितकर, बुद्धि के विकास करने वाले और लोकोपकारी होंगे।

भरतमुनि ने यद्यपि नाटक को सभी वर्गों के लिए खुला रखने का आदेश किया था जो सिद्धांत रूप में मान्य रहा, परन्तु संस्कृत नाटकों की परम्परा उच्च वर्ग तथा राजमहलों के भीतर ही सिमटती चली गई। नाटक के दर्शकों का आधार संकुचित होता चला गया, क्योंकि सामान्य नागरिकों की पहुँच राजप्रसादों के भीतर प्रस्तुत किये जाने वाले नाटकों तक नहीं हो सकती थी। इसी कारण से संस्कृत नाटक एक सीमित वर्ग के मनोरंजन की वस्तु बनकर रह गए। उच्च वर्ग के मनोरंजन की वस्तु बन जाने के फलस्वरूप नाटक की सोदेश्यता भी कुंठित होने लगी। परन्तु इस कमी की पूर्ति नाटक के अंत में भरत वाक्य के द्वारा सबका कल्याण, शुभ, शांति का विस्तार जैसी मंगल कामना के साथ नाटक समाप्ति द्वारा की जाने लगी। सभी लोगों का मनोरंजन और नीति तथा धर्म का उपदेश, भरतमुनि द्वारा प्रतिपादित नाटक के दोनों उद्देश्य जिनके कारण उन्होंने नाट्य शास्त्र को पंचमवेद कहा था। यही कारण है कि जब संस्कृत नाट्यधारा क्षीण होने लगी तो उससे कुछ पहले ही जनसाधारण के मानस से मनोरंजन और शिक्षा से अनुप्राणित विभिन्न शैलियों का उदय होने लगा। इन शैलियों का विवेचन लक्षण-ग्रंथों में बहुत कम हुआ है।

लक्षणकारों की प्रवृत्ति तो रूढ़ विधाओं से भिन्न यदि कोई नये प्रकार का नाट्य प्रयोग प्रस्तुत होता, तो वे तुरन्त उसे अपने लक्षण वर्गों की संख्या में जोड़ देते। इस तरह शास्त्र सम्मान परिवेश का अतिक्रमण नहीं पाता। किन्तु 11 वीं और 12 वीं शताब्दी तक आते-आते संस्कृत नाट्यधारा कुछ क्षीण हो गई। राजप्रसाद उजड़ने लगे। सहृदय संरक्षकों की संख्या न्यून हो चली। अतः लक्षणकार भी अपनी शक्ति खो बैठे।<sup>1</sup>



संस्कृत नाटकों की धारा के क्षीण होने के साथ ही सामान्य जनो की प्रेरणा से नाटक को एक व्यापक लोकाधार प्राप्त होने लगा। ऐसे नाट्य प्रदर्शन का आरम्भ हुआ जो राजप्रसादों पर कम आश्रित थे और जिनकी प्रस्तुति मंदिरों में, मेलों और उत्सवों आदि में की जाती थी तथा जो व्यापक जनसमुदाय के मनोरंजन के साधन बने। इन प्रस्तुतियों में लक्षणकारों द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों को त्यागकर विभिन्न कलाओं को आत्मसात किया गया था। जगदीशचंद्र माथुर ने इस नाट्य-शैली को ही पंचमवेद माना है, जो संस्कृत-नाट्यधारा के अवनति काल में सम्पूर्ण भारतवर्ष में प्रगतिशील हुई। इस नाट्य शैली के नाट्य स्वरूप आज भी सम्पूर्ण भारत में सक्रिय हैं, जिनका प्रभाव उन साहित्यिक नाटकों से जो नगरों में उच्च वर्गों द्वारा भव्य रंगशालाओं में प्रस्तुत किये जाते हैं, से कहीं बहुत अधिक व्यापक है।

भारतवर्ष के संदर्भ में जब लोकनाट्य की बात की जाती है, तो वह पश्चिम के 'फोक थियेटर' की तरह नहीं होती। पश्चिम में 'फोक' को जिस अर्थ में प्रयोग करते हैं, उससे हमारे यहाँ के लोक शब्द का कहीं बहुत व्यापक अर्थ है। हमारे यहाँ 'लोक' को 'फोक' के अर्थ में प्रयोग किये जाने के परिणाम स्वरूप लोक शब्द की व्यापकता फोक के रूप में सीमित एवं संकुचित होने लगी है। अंग्रेजी के 'फोक' शब्द के समानार्थी शब्द के रूप में लोक के रूढ़ होने का खतरा स्वाभाविक है। हमारे यहाँ लोक सम्पूर्ण जनजीवन के सन्दर्भ में प्रयोग किया जाने वाला शब्द है। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में अनेक स्थितियों की व्याख्या की है, तथा अनेक जटिल भावनाओं एवं स्थितियों के प्रस्तुतीकरण हेतु मार्ग दर्शन किया है, किन्तु यह सलाह भी वे बार-बार देते हैं कि जहाँ न समझ में आये तो लोक में जाओ, वहाँ देखकर सीखो।

'लोक' और 'फोक' के आयामों की व्यापकता के अंतर के कारण हमारे अनेक विद्वान, भारत के लोकमंच को अंग्रेजी के 'फोक थिएटर' से भिन्न मानते हैं तथा उसे 'परम्पराशील नाट्य कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं। मैंने अपने इस आलेख में परम्पराशील नाट्य एवं लोकनाट्य को मिलाकर ही उसे व्यापक धरातल पर रखकर लोकनाट्य के रूप में स्वीकार किया है, और उसे यूरोप के (मसर्सप्ले) से कहीं अधिक व्यापक, साहित्यिक एवं परम्पराशील आयामों में संदर्भित किया है। दरअसल 'ससर्सप्ले' ही यूरोप में भी लोकनाट्य की सम्पूर्ण अवधारणा का

स्वरूप नहीं है, जैसा कि हमारे यहाँ के कुछ विद्वानों ने मान रखा है। 'मसर्सप्ले' सदृश्य सहज एवं हल्के-फुल्के नाट्य स्वरूप सदृश्य नाट्य हमारे देश में भी अनेक क्षेत्रों में प्रचलित हैं, किन्तु लोकनाट्य के रूप में हमारे देश में रामलीला, रासलीला तथा महाभारत एवं पौराणिक कथानकों पर आधारित नाट्य तथा वैष्णव एवं भागवत भावना प्रधान नाट्य की कहीं अधिक लम्बी एवं व्यापक परम्परा विद्यमान है। ग्रामीण क्षेत्रों में प्रचलित प्रहसन के विविध रूपों तथा स्वांगों से पौराणिक कथानकों पर आधारित सभी नाट्य स्वरूपों को यदि हम लोकनाट्य के अंतर्गत ही स्वीकार कर लें तो अध्ययन में आसानी होगी और इस प्रकार से किया गया अध्ययन व्यवहारिक भी होगा तथा भारतीय संदर्भों में ही सीमित भी होगा। लोकनाट्य, ग्रामीण नाट्य आदिवासी समाज के नाट्य एवं परम्पराशील नाट्य आदि का भेद करके उनका अध्ययन अलग-अलग करना शायद हमारे यहाँ के लोक-नाट्य की सम्पूर्णता तथा समग्रता को विखंडित ही करेगा।

हमारे देश में वर्तमान में प्रचलित लोक-नाट्यों का उद्भव संस्कृत नाटकों के हास के पश्चात् हुआ, ऐसा प्रतीत होता है। प्राचीन काल में लोक-नाट्य किस रूप में प्रचलित थे, कहना कठिन है। नाट्य-विधा का उद्भव तो सभ्यता के आरंभिक काल में गुहा मानव द्वारा ही कर लिया गया था। गुहा मानव आखेट पर जाने के पूर्व भाँति-भाँति की भंगिमाएँ बनाकर तथा अपने आदिम हथियारों को हाथों में लेकर आखेट के प्रहसन करता और आखेट से सकुशल वापस लौटकर आनंदविभोर हो पुनः नृत्य-नाट्य मुद्राओं द्वारा आखेट में घटित स्थितियों का प्रदर्शन करता। इसी प्रकार नृत्य की उत्पत्ति हुई होगी तथा नृत्य में आखेट में घटित कथानक के जुड़ जाने पर नाट्य की उत्पत्ति हुई होगी। अनेक जनजातियों में इस प्रकार के आखेट नृत्य आज भी प्रचलित हैं। नागा जनजाति के आखेट पर आधारित नृत्य अत्यंत प्रभावशाली हैं। रायपुर जिले की एक अत्यंत आदिम अवस्था में रहने वाली जनजाति कमार है। इस आदिवासी समुदाय के लोग विवाह के अवसर पर अपने धनुष-बाण तथा टंगिये (कुल्हाड़े) हाथों में उठाए हुए हैं जो नृत्य करते हैं, उसमें सामूहिक आखेट का अभिनय प्रस्तुत किया जाता है।

बस्तर की मुरिया जनजाति का नृत्य माओपाटा गौर के आखेट पर आधारित कथानक की क्रमानुसार प्रस्तुति करता है।

ग्रामीणों का सामुदायिक पारद (सामूहिक आखेट) हेतु प्रयाण करना, वन में गौर का दिखाई पड़ना, शिकारियों द्वारा हॉका करना, शिकारियों द्वारा गौर का पीछा करना, गौर द्वारा पलटकर उन पर आक्रमण करना तथा शिकारियों द्वारा धनुष-बाणों से उसका पीछा करना, गौर द्वारा पलटकर पारद में सम्मिलित लोगों पर आक्रमण करना तथा शिकारियों द्वारा अपने आहत साथी को उठाकर सिरहा के पास ले जाकर उपचार करवाना, तत्पश्चात् पुनः आखेट हेतु प्रस्थान कर उस वन्य प्राणी को खोजकर उस पर अपने धनुष-बाणों से प्रहार कर सफलता पूर्वक आखेट करना और मृत गौर को लटकाकर अपने गाँव में वापस आना और देवताओं के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने हेतु सामूहिक नृत्य आदि को कथानक, अभिनय एवं नृत्य तथा संगीत के साथ इसे नृत्य-नाट्य में प्रस्तुत किया जाता है। गौर की प्रस्तुति दो युवक नर्तकों द्वारा की जाती है, जो गौर का मुखौटा लगाकर नृत्य करते हैं। यह सम्पूर्ण नृत्य आखेट के आरम्भ से अंत तक का सिलसिलेवार नाटकीय प्रस्तुतिकरण है, जिसमें नृत्य-संगीत तथा अभिनय तीनों ही विधाओं का उपयोग प्रभावशाली प्रस्तुतिकरण हेतु किया गया है। इस प्रकार के नृत्य, नाट्यों का उद्भव एवं विकास आदिवासी कबीलों में धार्मिक भावनाओं एवं उनमें व्याप्त पराविश्वासों के परिणाम स्वरूप हुआ है। नृतत्वशास्त्री इन्हीं विश्वासों को जादू कहते हैं, जिसके इर्द-गिर्द ही मनुष्य की आदिम अवस्था में सभी प्रकार के कलारूपों का उद्भव हुआ है।

ये नाट्य रूप आज के लोक-नाट्यों की तुलना में भले ही नाट्य के अत्यंत आरंभिक स्तर के रूप में प्रतीत होते हों, किन्तु नाट्य का आरंभ इसी बिन्दु पर हुआ है। जहाँ आदिम गुहा मानव की नृत्य प्रस्तुति के साथ कथानक ने जुड़कर नाट्य का रूप ग्रहण किया।

### भारतीय नाट्य के आदि श्रोत

वेद मंत्रों में संवादात्मक स्थितियाँ अनेक स्थानों पर मिलती हैं। कथोपकथन अथवा वार्तालाप के कुछ उदाहरण यम और यमी, पुरूरवा और उर्वशी, नेमा भार्गव और इन्द्र अगस्त्य, लोपामुद्रा तथा उनके पुत्र तथा इन्द्र और इन्द्राणी आदि के वार्तालाप वेदों में अनेक स्थलों पर पाए जाते हैं। संवाद के साथ ही गायन-नृत्य आदि किये जाने का भी उल्लेख अनेक स्थानों पर मिलता है।

सामवेद के मंत्रों के गायन तथा नृत्य किये जाने का उल्लेख भी मिलता है। स्त्रियों द्वारा महाव्रत के अवसर पर अग्नि के चारों ओर तथा वर्षा के स्वागत में भी स्त्रियाँ नृत्य करती थीं। सोमयाग नामक यज्ञ के अवसर पर सोम बेचने वाले वनवासियों के साथ सोम विक्रेता और अध्वर्यु का वार्तालाप अभिनय का सूचक प्रतीत होता है। मैक्समूलर ने वैदिक साहित्य के उपरोक्त उद्धरणों के आधार पर ही कर्मकाण्ड के मंत्रों को नाट्य का आदि स्रोत माना है। प्रोफेसर सिल्वियां लेवी के मतानुसार वैदिक युग में भारत में नृत्य और संगीत कला का पूर्ण विकास हो चुका था। कुछ अन्य विद्वान ऐसे मानते हैं कि वैदिक मंत्रों में नाटकीय तत्त्व पर्याप्त रूप से विद्यमान हैं।

शुक्ल यजुर्वेद की वज्रसेन संहिता में शैलूब जाति का उल्लेख मिलता है। इसीलिए कुछ विद्वान इस आधार पर वैदिक काल में नाट्य के विद्यमान होने को स्वीकार करते हैं, परन्तु नाट्य के उपरोक्त सभी तत्त्व नाट्य के उद्भव के पूर्व की स्थिति की ओर ही इंगित करते हैं। ऐसा कोई निश्चित प्रमाण वेदों में नहीं मिलता कि नाट्य का उद्भव उस काल में हो ही गया हो। नाटक से सम्बन्धित अन्य बातों का उल्लेख वैदिक-साहित्य में नहीं मिलता। शैलूब शब्द का प्रयोग भी वैदिक साहित्य में सम्भवतः गायक अथवा संगीतज्ञ के रूप में ही हुआ है। नट के अर्थ में तो इस शब्द का प्रयोग कालान्तर में होने लगा।

पाणिनि ने 'शिलालीन' शब्द का प्रयोग किया है, परन्तु यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता है कि उन्होंने इसे नर्तक के अर्थ में प्रयुक्त किया है अथवा 'नट' के अर्थ में। यदि शिलालीन का प्रयोग वहाँ नट के अर्थ में किया गया है तो यह मान्यता स्थापित हो जाती है कि पाणिनि के समय में नाटक का उद्भव हो चुका था। मनुस्मृति में भी शिलालीन शब्द प्रयोग में आया है और पतंजलि ने 'शौभिक' शब्द का प्रयोग किया है। शौभिक कंसवध का अभिनय नटों को सिखाया करते थे। कैयट ने शौभिक का वर्णन इस प्रकार किया है-

*कंसानुकारिणां नटानां व्याख्यानोपाध्यायः,  
कंसानुकारी नटाः सामाजिकैः कंसबुध्या परिग्रहीताः  
कंसो भास्ये विवाञ्जिताः।*

अर्थात् शौभिक वे गुरु हैं जो अपने नट शिष्यों को कंस

का अभिनय करना सिखाते थे। नट ही कंस का अभिनय करते थे। दर्शकों द्वारा उन्हें ही कंस समझा जाता था।

कुछ विद्वान भारत में नाट्य का उद्भव विष्णु पूजा से जोड़ते हैं। राहुल सांकृत्यायन के मतानुसार भारत में रंगमंच का आरम्भ यूनानी रंगमंच के आधार पर उस काल में हुआ, जब यूनानी लोग भारत में आकर यहाँ के नगरों में बस गये। कुछ अन्य विद्वान कठपुतलियों के द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले प्रदर्शन को नाट्य का प्राचीनतम स्वरूप मानते हैं। राजशेखर ने सीता की बोलती नाट्य प्रस्तुत करती कठपुतली का वर्णन किया है। फिर भी निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि नाट्य का उद्भव पुतलिकाओं के माध्यम से प्रस्तुत खेलों से ही हुआ होगा।

### रामायण और महाभारत काल में नाटक

मैक्समूलर, प्रो. सिल्वियां लेवी, ओल्डेन बर्ग, डॉ. एस.के. दासगुप्ता एवं हरटल आदि अनेक विद्वानों ने भारतीय नाट्य के आदि स्रोतों को वैदिक साहित्य में खोजने का प्रयत्न किया है। परन्तु डॉक्टर कीथ उपरोक्त विद्वानों से सहमत नहीं है। उन्होंने 'सुपर्णाध्याय' में सम्पूर्ण नाटक के खोजने के प्रयास को पूर्णतया असफल माना है।

वाल्मीकि रामायण में अनेक स्थलों पर नट एवं नाटकों का उल्लेख मिलता है। अयोध्या-काण्ड में राजा दशरथ की मृत्यु के समय का वर्णन करते समय कहा गया है- 'राम के वनवास और दशरथ की मृत्यु के समय भरत अपने ननिहाल में है। वे अत्यंत उदास हैं और किसी अनिष्ट की आशंका से चिंतित और उद्विग्न हैं। वे दुःस्वप्न देखते हैं। उनके मित्र उन्हें प्रसन्न करने हेतु गीत, नृत्य, नाटकों आदि का आयोजन करते हैं।' वाल्मीकि रामायण में ही अयोध्या काण्ड में राजा दशरथ के निधन के समय का वर्णन किया गया है। 'राम-लक्ष्मण एवं सीता जी वनवास के लिए चले गए थे और गुरु वशिष्ठ ने भरत को उनके ननिहाल से बुलवाया था।

अयोध्या में स्त्रियों और पुरुष अभिनेताओं के लिए पृथक-पृथक नाट्य गृह एवं नाट्य संस्थाएँ थी, इस बात का उल्लेख भी बालकाण्ड के पाँचवें सर्ग में मिलता है। अयोध्याकाण्ड के दूसरे सर्ग के सत्ताइसवें श्लोक में राम के बारे में उल्लेख मिलता है-

'उन्होंने सब प्रकार से अस्त्र समूहों तथा संस्कृत-प्राकृत आदि भाषाओं से मिश्रित नाटक आदि के ज्ञान में निपुणता प्राप्त की थी।'

*नटनर्तक संधानां गायकानं च गायताम्।*

*मनःकर्णसुखा वाचः शुश्राव जनता ततः॥<sup>2</sup>*

उपरोक्त श्लोक से यह स्पष्ट हो जाता है कि वाल्मीकि के काल में इस प्रकार के आयोजन होते थे, जिनमें नर्तकी-नट आदि अभिनय, नृत्य एवं गायन करते थे। इन आयोजनों को देखकर जनता मनोरंजन करती थी। इन कलाकारों का समाज में एवं राजमहलों में भी सम्मान होता था।

वाल्मीकि रामायण के उत्तरकाण्ड के चौरावें सर्ग में लव-कुश द्वारा श्रीराम के सम्मुख रामायण के सस्वर पाठ का उल्लेख किया गया है। अनेक विद्वान लव-कुश को 'कुशीलव' का पर्याय मानते हैं, जिसका अर्थ अभिनय अथवा नाटक करने वाला है। रामायण की रचना का काल ईसा से पाँच सौ वर्ष पूर्व माना जाता है। डॉ. कीथ ने अपने ग्रंथ 'संस्कृत ड्रामा' में संस्कृत नाटकों पर रामायण के प्रभाव को स्वीकार किया है।

महाभारत के विराट पर्व में एक विशाल रंगमंच का वर्णन किया गया है। अपने अज्ञातवास के दिनों में पाण्डव जब विराट नगर में वास कर रहे थे, उस काल में अर्जुन ने वृहन्नल्ला बनकर राजकुमारी उत्तरा को नृत्य-गायन और संगीत की शिक्षा प्रदान की थी। अर्जुन को इन विद्याओं की शिक्षा इन्द्र के कहने पर गंधर्व चित्रसेन ने प्रदान की थी। महाभारत में अनेक स्थलों पर नाट्य, नृत्य एवं प्रस्तुत करने वाले अभिनेताओं का उल्लेख मिलता है। युधिष्ठिर ने धर्म द्वारा पूछे जाने पर कहा था कि वे सुयश हेतु कलाकारों, अभिनेताओं और नर्तकों को आर्थिक सहायता प्रदान करते थे।

प्रद्युम्न के विवाह के अवसर पर नट मण्डली द्वारा कुबेर रंभाभिसार नाटक अभिनय करने का उल्लेख किया गया है। उसी अवसर पर 'गंगावतरण' का भी अभिनय प्रस्तुत किया गया था। शूर, साम्ब तथा मनोवती नामक नाटक के अभिनेता-अभिनेत्रियों ने उस अवसर पर श्रेष्ठ अभिनय प्रस्तुत करके दर्शकों को मोहित कर लिया था। उपरोक्त नाटक में शूर ने रावण का,

साम्ब ने विदूषक का तथा मनोवती ने रंभा का अभिनय किया था। दैत्यों ने इस अभिनय से प्रसन्न होकर धन की वर्षा की और उनकी स्त्रियों ने प्रसन्न होकर अभिनेताओं को अपने आभूषण उतार कर भेंट किये।

महाभारत में दो नाटकों का उल्लेख मिलता है- रामायण नाटक और कुबेर- रंभाभिसार नाटक। कुबेर-रंभाभिसार नाटक में किस-किस व्यक्ति ने किस पात्र का अभिनय किया था, इस बात का भी उल्लेख मिलता है। हरिवंश पुराण में प्रद्युम्न विवाह के प्रसंग में वज्रनाभ नामक राक्षस के द्वारा ब्रह्मा जी की तपस्या करके उनके वज्रपुर में अपना अधिकार बनाए रखने हेतु वरदान प्राप्त किया था, इस प्रकार का वर्णन मिलता है। ब्रह्मा जी से वरदान पाकर वज्रनाभ दैत्य इन्द्र के पास जाकर उसे ललकारने लगा। इन्द्र ने अपनी रक्षा हेतु श्री कृष्ण से सहायता माँगी। उस समय वसुदेव अश्वमेघ यज्ञ करवा रहे थे, उस यज्ञ में भद्र नामक नट ने अपने नाट्य कौशल द्वारा महर्षियों को प्रसन्न करके आकाश में चलने तथा मनोनुकूल रूप परिवर्तन का वरदान पाया।

कृष्ण द्वारा अनेक हंसों को वज्रपुर में इस हेतु भेजा गया कि वे वज्रनाभ की बेटी प्रभावती को प्रद्युम्न पर मोहित करारकर विवाह के लिए तैयार करें। उनमें से शुचिमुखी नामक एक हँसी ने प्रभावती को प्रद्युम्न पर मोहित करने में सफलता भी प्राप्त कर ली और वह उसे देखने के लिए लालायित हो गई। उस हँसी ने वज्रनाभ के सम्मुख भद्रनट की इतनी अधिक प्रशंसा की कि वह उसे बुलाने के लिए सहमत हो गया। श्री कृष्ण ने एक नाट्य मण्डली में प्रद्युम्न को नायक बनाकर उसमें अनेक यादवों को सम्मिलित करके भेज दिया, जिसमें भद्र परिपार्श्वक तकिसाम्ब विदूषक बने। उन नटों ने रामायण नाटक का मंचन किया, जिसे देखकर दानव मुग्ध हो उठे। वज्रनाभ ने उस नाट्य मण्डली की प्रशंसा सुनकर उन्हें अपने यहाँ बुलवाकर 'गंगावतरण' नाटक का आयोजन करवाया और नाटक की सफलता पर प्रसन्न होकर जब दैत्य धन लुटा रहे थे, तो उनकी स्त्रियाँ अपने आभूषणों को नटों पर लुटा रही थी। उसी समय वज्रनाभ का वध हुआ और प्रभावती का विवाह प्रद्युम्न से सम्पन्न हो गया।

उपरोक्त उद्धरणों से कहीं अधिक स्पष्ट रूप से नट, नर्तक, गायक, संगीतज्ञ तथा कथावाचक, कुशीलव, प्लवक (जो रस्सी

पर खेल दिखाते थे) जादूगर, चारण आदि वर्गों का कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उल्लेख मिलता है। कौटिल्य ने उपरोक्त कलाओं में संलग्न कला मंडलियों पर लगने वाले राजकर का भी उल्लेख किया है। इन मण्डलियों पर लगने वाले कर की दरें भिन्न-भिन्न निर्धारित थी, जो वर्तमान में लगने वाले मनोरंजन कर के सदृश्य ही थी। बाहर से आकर नाट्य प्रदर्शन करने वाली मंडलियों के प्रत्येक प्रदर्शन पर पाँच पण राजा को कर के रूप में देना होता था-

*एतेन नटनर्तक गायक वादक वाग्जीवन*

*कुशीलव प्लव सौमिकचारणानां*

*स्त्री व्यवहरिणां स्त्रियों गूढाजीवाशय व्याख्याताः।*

*तेषां तूर्यकागन्तु-क्रं पंचपणं प्रेक्षावेतनं दधात।*

- कौटिल्य अर्थशास्त्र अध्याय- 27

इसके अतिरिक्त उस काल में नटों की शिक्षा व्यवस्था भी की जाती थी। सभी ललित कलाओं को राजाश्रय प्राप्त होता था। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र के 41वें अध्याय में इस प्रकार उल्लेख किया है-

*गीतवाद्य पाठ्यवृत्त नाट्यक्षर*

*चित्र वीणावेणु मृदंग पर चित्तज्ञान*

*गन्धामाल्यसंयुहन सम्पादन*

*संवाहन वैशिक कलाज्ञानानि गणिका दासी*

*रंगोपजी विनीश्च ग्राहयता राजमण्डलादाजीव कुर्यात्।*

इस श्लोक में गाने वाले को, नाटक करने वाले को, संगीतज्ञों को, अभिनेताओं को, लेखक तथा चित्रकारों को, वीणा-वेणु तथा मृदंग बजाने वालों को, दूसरों के मनोभावों को समझने वालों, इत्र बनाने वालों, माला गूँथने वालों और शारीरिक श्रृंगार करने वालों को राज्य की ओर से शिक्षा आदि की सुविधा प्रदान की जाती थी।

बौद्धकाल में नाटकों का पर्याप्त विकास हो चुका था। ऐसा उस समय के ग्रंथों से पता चलता है। यद्यपि बौद्ध भिक्षुओं का जीवन अत्यंत अनुशासित होता था, परन्तु उनमें नाट्य प्रदर्शन देखने के प्रति कोई वर्जना अथवा निषेध नहीं था, जिसके फलस्वरूप बौद्ध साहित्य में नाट्यकला का पर्याप्त उल्लेख मिलता

है। 'ललित विस्तर' में ऐसा उल्लेख मिलता है कि बुद्ध के राजगृह प्रवास के समय मौद्गलायन तथा उपतिस्व ने अपने नाटकीय कौशल का परिचय अनेक नाटकीय प्रस्तुतियों में प्रदर्शित किया। एक अन्य प्रसंग में यह बात भी कही गई है कि राजगृह में एक नाटक गौतमबुद्ध की उपस्थिति में भी प्रदर्शित किया गया था। कुवलव नाम की एक अभिनेत्री के अभिनय से जिसने उस नाटक में भाग लिया था, कुछ भिक्षुक अपने धर्म से विचलित हो गए थे। अपने इस आचरण के कारण वह भिक्षु संघ के कोप का भाजन बनी तथा उसके पश्चाताप करने पर उसे गौतम बुद्ध ने क्षमा कर दिया और बौद्ध धर्म स्वीकार करके वह भिक्षुणी बन गयी।

जातक कथाओं में अनेक स्थलों पर नाट्य के उल्लेख मिलते हैं। कुस जातक में उल्लेख मिलता है- 'दत्त्व नाटकानि उपत्थ पेस्सामभद्दे पुत्तस्स ते रज्जम ला' अर्थात् आपके पुत्र को राजगद्दी प्राप्त होने के उपलक्ष्य में हम लोग नाटक खेलेंगे। उदय जातक में उल्लेख मिलता है कि राजा ने अपने पुत्र का अभिषेक कर उसे राजगद्दी पर बैठाने तथा उसके मनोरंजन हेतु नाट्यों के आयोजन की इच्छा प्रकट की। कर्णवीर जातक में नाट्योत्सव के एक उल्लेख में बुद्ध के पूर्व जन्म की कथा का वर्णन किया गया है, जिसमें 'नट' 'समाज' 'समाज मण्डली' आदि नाट्य विधा की शब्दावली का उल्लेख स्पष्ट रूप से मिलता है। विनयपिटक के चुल्लबग में अश्वजित और पुनर्वसु नामक दो बौद्ध भिक्षुओं की कथा में कहा गया है कि उन्होंने कीटकिरी की रंगशाला में जाकर नाटक देखा और फिर नर्तकी से आत्मीयता के साथ वार्तालाप किया। उन दोनों भिक्षुओं का आचरण विहार के अनुशासन का उल्लंघन करता था, जिसके कारण उन्हें विहार से निष्कासित कर दिया गया।

पतन्जलि के महाभाष्य में 'कंसवध' और 'बालिवध' नामक दो नाटकों का उल्लेख मिलता है, जो उस काल में प्रदर्शित किये जाते थे। इन नाटकों में अभिनय करने वाले नट अपने अंगों पर रंग लगाकर कंस या कृष्ण का वेश धारण कर लेते थे। वात्स्यायन ने अपने ग्रंथ कामसूत्र में यह उल्लेख किया है-

*सरस्वत्या भवने नियुक्तानां नित्यं समाजः।*

अर्थात् सरस्वती भवन में पक्ष या महीने के प्रसिद्ध पर्वों

पर राजा की ओर से नियुक्त नटों द्वारा नाट्य प्रस्तुतियाँ की जाती थीं। उस उत्सव को 'समाज' कहा जाता था। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार केवल सरस्वती मंदिर में ही नहीं, अन्य मंदिर, देवालयों तथा महत्त्वपूर्ण स्थानों पर भी ये अभिनय हुआ करते थे। यहाँ तक कि शादी-विवाह, पुत्र जन्मादि आनंद मंगलमय अवसरों पर नागरिक अस्थायी रंगशाला या रंगमंच बनवा लेते थे। वहाँ अभिनय, नृत्य आदि हुआ करते थे। साधारण लोगों का भी नाटकों के अभिनय की व्यवस्था कर लेना नाटकों की लोकप्रियता का ही प्रमाण है।<sup>3</sup>

प्राचीन जैन-साहित्य में भी नाटकों का उल्लेख मिलता है। सूर्यादेव के समक्ष नाटक प्रस्तुत किये जाने का प्रसंग आया है। डॉ. विन्टर नित्ज तथा अन्य विद्वानों का मत है कि इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि अश्वघोष की अपनी एक नाट्य मंडली थी, जो अयोध्या, काशी तथा पाटलिपुत्र आदि स्थानों पर घूम-घूमकर काव्य पाठ और नाट्य प्रदर्शन करती थी।

मध्यप्रदेश के सरगुजा जिले में स्थित रामगढ़ की पहाड़ियों पर स्थित सीता बोंगा और जोगीमारा की गुफाओं में चट्टानों को काटकर बनाई गई रंगशालाओं की खोज के उपरांत तो प्राचीन भारतवर्ष में व्यवस्थित रंग शालाओं के विद्यमान होने का प्रमाण भी मिल गया। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान डॉक्टर टी. ब्लाख ने इन गुफाओं तथा उसमें बनी रंगशाला का पता लगाया, जहाँ की चट्टान पर खुदे हुए लेख ने ईसा से 300 वर्ष पूर्व विधिवत् निर्मित इस रंगशाला के द्वारा प्राचीन भारत में नाट्य के महत्त्व को प्रमाणित कर दिया है। सीता बोंगा में प्रवेश द्वार के उत्तरी भाग में गुफा की छत के नीचे पाली भाषा में नीचे दी गई दो पंक्तियाँ उत्कीर्ण हैं-

*आदि पयंति हृदयं।*

*समावगरू कवयो ये रातयं -दुले अवसंतिया।*

*हासावनुभूते। कुदस्पीतं एवं अलंगेति।।*

इन पंक्तियों का अर्थ है- 'हृदय को आलोकित करते हैं। स्वभाव से महान ऐसे कविगण रात्रि में वासन्ती दूर हैं। हास्य और संगीत से प्रेरित। चमेली के पुष्पों की मोटी मालाओं का ही आलिंगन करता है।'<sup>4</sup>

इन गुफाओं में उत्कीर्ण शिलालेख से स्पष्ट होता है कि रामगढ़ की पहाड़ियों पर स्थित ये गुफाएँ 'नाट्य एवं रंगशालाएँ' थीं। जहाँ सांस्कृतिक एवं कलात्मक आयोजनों का रंगमंच था। जहाँ कविताओं का सस्वर पाठ, नाटकों का अभिनय होता था। गुफा की आंतरिक व्यवस्था देखकर इसे सहज ही एशिया की सबसे प्राचीन नाट्य शाला माना जा सकता है। यह नाट्य शाला 'ग्रीक थियेटर' के आकार की बनी हुई है। इसीलिए शायद कुछ विद्वान भारतीय नाट्य कला पर ग्रीक नाट्य कला का प्रभाव मानते हैं।<sup>5</sup> कुछ विद्वानों ने मेघदूत में कालिदास द्वारा वर्णित 'रामगिरि' पर्वत इन्हीं रामगढ़ की पहाड़ियों को माना है।

सीताबोंगा के समीप ही जोगीमारा गुफा है। यह 30 फुट लम्बी और 15 फुट चौड़ी है, जिसका द्वार पूर्व दिशा की ओर है। 'भारत की चित्रकला' नामक ग्रंथ में इसे वरुण मंदिर कहा गया है, परन्तु वास्तव में यह नृत्यांगनाओं का विश्राम कक्ष है। यहाँ सुतनुका नामक देवदासी निवास करती थी, जो देवदीन नामक कलाकार के प्रेम में दीवानी थी।

गुफा की उत्तरी भित्ति पर इसी आशय की पाँच पंक्तियाँ उत्कीर्ण हैं, जो नीचे लिखे अनुसार हैं—

प्रथम पंक्ति	-	शुतनुक नाम
दूसरी पंक्ति	-	देवदार्शकिय
तीसरी पंक्ति	-	शुतनुक नाम देवदार्शकिय
चतुर्थ पंक्ति	-	तं कमयिथ बलन शेचि
पंचम पंक्ति	-	देवदिने नम नम। लुपदरवे। <sup>6</sup>

इन पंक्तियों का अर्थ इस प्रकार है— 'सुतनुका नाम की देवदासी थी। उसे प्रेमासक्त किया वाराणसी निवासी देवदीन नामक स्पदक्ष (कलाकार) ने।' इस लेख से स्पष्ट होता है कि सुतनुका के वियोग में व्यथित देवदीन ने अपने प्रेम को स्थायित्व प्रदान करने हेतु अपने हृदय के उद्गारों को दीवाल पर उत्कीर्ण करके अंकित कर दिया।

### संस्कृत भाषा का नाट्य साहित्य

संस्कृत भाषा में नाट्य साहित्य ईसा के लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व से ही लिखा जाना प्रमाणित होता है। अश्वघोष, भास, कालिदास, शूद्रक, विशाखदत्त, श्रीहर्ष, महेन्द्र विक्रम वर्मन,

भवभूति भट्ट-नारायण, कल्हण, वत्सराज, मुरारि राजशेखर, भीमट, कृष्ण मिश्र, जयदेव, रवि वर्मन तथा विल्हण एवं अन्य रचनाकारों द्वारा ईसा पूर्व चौथी-पाँचवी शताब्दी से लगाकर बारहवीं शताब्दी के अंतिम सोपान तक निरंतर नाट्य साहित्य का सृजन होता रहा। यहाँ संक्षेप में कुछ प्रमुख नाट्य साहित्य के रचयिताओं और उनके प्रमुख नाटकों का उल्लेख करना ही पर्याप्त होगा।

संस्कृत साहित्य में नाट्य साहित्य को सर्वप्रथम रचयिता अश्वघोष को माना जाता है, जिनके दो नाटक 'बुद्धचरित' तथा सौंदरानंद एवं 'सारिपुत्र प्रकरण' नाटक का अपूर्ण अंश प्राप्ति हुए हैं। वे बौद्ध धर्मावलम्बी थे। उन्होंने अपने जीवन काल में मध्य एशिया की लम्बी-लम्बी यात्राएँ की थी। वे आयुर्वेद एवं ज्योतिष के भी विद्वान थे।

संस्कृत नाटक के रचयिताओं में भास का नाम भी बहुत सम्मान के साथ लिया जाता है, जो अश्वघोष के समकालीन या कुछ समय उपरांत ही हुए थे। भास के नाटकों की खोज तो बीसवी शताब्दी के आरंभ में हुई है। सन् 1910 ई. में भास के नाटकों की कुल तेरह ताड़ पत्र पर लिखी हुई पोथियाँ श्री गणपति शास्त्री को प्राप्त हुई। उन्होंने उनका सम्पादन करके सन् 1912-1915 के काल में उन्हें प्रकाशित करवाया। भास के तेरह नाटक इस प्रकार हैं— अविमारक, प्रतिज्ञा योगन्दारायण, स्वप्न वासदत्ता, चारू दत्त, मध्यम व्यायोग, दूत घटोत्कच्छ, कर्णभार, उरूभंग, दूत वाक्य, पंचरात्र, बाल-चरित्र, प्रतिभा तथा अभिषेक। बाल चरित में श्री कृष्ण के जन्म से कंसवध तक का कथानक समाहित हुआ है और 'अभिषेक' तथा 'प्रतिभा' नाटकों में श्री राम के वनगमन से राज्याभिषेक तक की कथा का वर्णन है।

कालिदास का नाम नाट्य साहित्य के रचयिताओं में अत्यंत आदर के साथ लिया जाता है। कालिदास के काल निर्धारण में विद्वानों में मतभेद पाया जाता है। कुछ विद्वान उन्हें ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी का मानते हैं, तो कुछ अन्य विद्वान ईसा की तीसरी चौथी शताब्दी में उनका काल निर्धारण करते हैं। वे संस्कृत साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि एवं नाट्य लेखक माने जाते हैं तथा विश्व के महानतम साहित्यकारों में उनकी गणना होती है। उनके तीन नाटक ज्ञात हैं— 'अभिज्ञान शाकुंतलम्', 'मालविकाग्निमित्र' तथा 'विक्रमोर्वशीय'। अभिज्ञान में दुश्चरित और शकुंतला के प्रेम-विरह और मिलन का कथानक लिया गया है। मालविकाग्निमित्र

शुंग वंश के तीन राजाओं पर केन्द्रित है, और विक्रमोर्वशीय में पुरुवा तथा अप्सरा उर्वशी की प्रेमगाथा का कथानक है।

शूद्रक को आन्ध्रप्रदेश का राजा माना जाता है और उनका काल निर्धारण ईसा से तीन सौ वर्ष पूर्व होना माना जाता है, उनका 'मृच्छकटिक' नामक एक ही नाटक मिलता है, परन्तु नाट्य साहित्य में वह अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

विशाखदत्त का काल निर्धारण भी अंतिम रूप से नहीं हो पाया है, परन्तु उनके नाटक 'मुद्राराक्षस' को विद्वान् ईसा की चौथी शताब्दी की रचना मानते हैं। 'देवीचन्द्र गुप्तम' नामक उनका एक अन्य नाटक भी प्राप्त हुआ है, जो अपूर्ण है और जिसके केवल छः उद्धरण प्राप्त हुए हैं।

श्री हर्ष कान्यकुब्ज के राजा थे, जिनके दरबार में बाणभट्ट जैसे महाकवि विद्यमान थे। इनका काल 590 ईस्वी से 647 ईस्वी था और वे 606 ईस्वी में गद्दी पर बैठे थे। चीनी यात्री हेवेन्सांग इनके अतिथि थे। उन्होंने नागानंद नामक नाटक की रचना की। 'रत्नावली' तथा 'प्रियदर्शिका' नाटिकाएँ भी इनके द्वारा रचित कृतियाँ हैं।

भवभूति का समय विक्रम संवत् की सातवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध था। इनके द्वारा रचित तीन नाटक उत्तररामचरित, महावीर चरित तथा मालती माधव मिलते हैं, जिनमें से उत्तररामचरित सर्वाधिक प्रसिद्ध है।

भट्टनारायण का काल निर्धारण सातवीं शताब्दी में किया जाता है। उनका एक ही 'वेणी संहार' नामक नाटक मिलता है। इस नाटक का आरम्भ द्रौपदी चीरहरण से होता है और दुःशासन की जंघा के रक्त से द्रौपदी द्वारा अपने केश को धोकर वेणी को बाँधने के प्रसंग पर जाकर समाप्त होता है।

वत्सराज कृत त्रिपुरदाह, रूक्मिणी हरण, किरात अर्जुनीय, कर्पूर चरित और हास्य चूड़ामणि नामक नाटक प्राप्त हुए हैं। मुरारी एक विलक्षण प्रतिभाशाली नाटककार एवं कवि हुए हैं, जिनका लिखा हुआ एक मात्र नाटक 'अनर्घ राघव' मिलता है। इस नाटक का कथानक रामचरित पर आधारित है। राजशेखर के लिखे हुए चार नाटक कर्पूर मंजरी, बाल रामायण, बाल भारत तथा विद्वशाल मंजिका नाम से मिलते हैं।

भीमट के चार नाटक मिलते हैं, जिनमें से 'स्वप्न दशानन' सर्वाधिक प्रसिद्ध है। राजा हरिश्चन्द्र की कथा पर आधारित एक प्रसिद्ध नाटक 'चंड कौशिक' नाम से क्षेमीश्वर ने लिखा है, जिनका दूसरा नाटक 'नैषधानंद' है। कृष्ण मिश्र द्वारा रचित इसी काल का एक नाटक 'प्रबोध चन्द्रोदय' सुप्रसिद्ध है, जिसके हिन्दी में अनुवाद भी हुए हैं। 'प्रबोध चन्द्रोदय' की शैली पर कुछ अन्य नाटकों की भी रचना हुई है। केरल के राजकुमार रवि वर्मन ने 'प्रद्युम्नाभ्युदय' नामक नाटक लिखा है। रूप गोस्वामी ने 'ललित माधव' तथा 'विदग्ध माधव' नामक नाटकों की रचना की है। वे महाप्रभु चैतन्य के शिष्य थे।

मदन पंडित ने धारा नगरी में 1211-1213 ईस्वी में 'पारिजात मंजरी' नाटक की रचना की। मदन का दूसरा नाम बाल सरस्वती था, जो धारा नगरी के परमार राजा अर्जुन वर्मा के उपाध्याय थे। इस नाटक का पता सन् 1903 ईस्वी में चला। धार की भोज पाठशाला में एक काले पत्थर में बयासी पंक्तियों का शिलालेख उत्कीर्ण है, जिसमें उनके द्वारा रचित नाटक का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार से अजमेर के तारागढ़ में स्थित अढ़ाई दिन के झोपड़े में एक शिलालेख में 'विग्रहराज नाटक' और 'हरकेलि नाटक' के कुछ अंश उत्कीर्ण किये हुये हैं। 'हनुमन्नाटक' के कुछ अंश भी शिलालेख पर उत्कीर्ण किये हुए मिले हैं।

संस्कृत नाटकों का संक्षिप्त उल्लेख ऊपर प्रस्तुत किया गया है। संस्कृत साहित्य के अब तक प्राप्त सम्पूर्ण नाटकों की संख्या लगभग छः सौ तक पहुँच चुकी है। उड़ीसा, मिथिला, कर्नाटक, केरल तथा दक्षिण भारत के अन्य क्षेत्रों के मंदिरों में तथा पंडितों के व्यक्तिगत संग्रह में ताड़पत्र की सहस्रों पोथियाँ आज भी विद्यमान हैं, जिनमें से बहुत सी पांडुलिपियों का अध्ययन होना शेष है। उन ग्रंथों के सम्पूर्ण अध्ययन करने पर हो सकता है कि अंधकार के गर्भ में समाएँ हुए कुछ और भी महत्त्वपूर्ण नाटकों का उद्घाटन हो सके।

### भारतीय लोकनाट्य के स्रोत

दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी के आते-आते संस्कृत नाटक राजदरबारों तक सीमित हो गये थे। वे व्यापक जनसमुदाय से कटकर राजदरबारियों तक सिमट चुके थे तथा उनका दर्शक समुदाय बहुत सीमित एवं संकुचित हो गया था। इसी काल में

भारतीय सामन्तवाद का अधःपतन भी आरम्भ हो चुका था। सामन्तवाद क्षीण हो चुका था। बाह्य आक्रमणों ने उसको और जर्जर बना डाला। बारहवीं शताब्दी आते-आते तो अनेक सामन्त ध्वस्त हो गए। राजाश्रय में चलने वाले संस्कृत नाटक भी इस संकट काल में अपने सामन्ती आश्रय के नष्ट होने के कारण छिन्न-भिन्न हो गये। इसी दौर में लोक जीवन में एक ऐसी नाट्य-शैली का विकास हुआ, जिसमें नृत्य-संगीत, संवाद तीनों का सम्मिश्रण था, जिसे नाट्य शास्त्रियों ने संगीतक की संज्ञा प्रदान की। कालान्तर में भारत के विभिन्न अंचलों में जिन लोक-नाट्य स्वरूपों का विकास हुआ, उनके उद्गम स्रोत संगीतक शैली में से उत्पन्न हुए थे।

कुछ विद्वानों ने लोकनाट्यों का उद्भव रूपकों एवं उपरूपकों से माना है। परन्तु वर्तमान में प्रचलित विभिन्न अंचलों के परम्पराशील नाट्य लक्षण-ग्रंथों में दिये गये रूपकों और उपरूपकों के किसी वर्ग विशेष से मेल नहीं खाते। विभिन्न भाषा नाटकों की कुछ विशेषताएँ इन उपरूपकों में कुछ अंश तक मिलती हैं, परन्तु किसी एक रूपक को वर्तमान में प्रचलित लोकनाट्यों का उद्गम स्वीकार नहीं किया जा सकता। कुछ उपरूपकों के नाम से कुछ क्षेत्रों के लोक-नाट्यों के नाम साम्य रखते हैं। परन्तु गहराई से छानबीन करने पर उन उपरूपकों में और नाम साम्य रखने वाले आंचलिक भाषा नाटकों में बहुत अधिक अंतर पाया जाता है। संस्कृत के 'भाण' और कश्मीर में प्रचलित 'मांड जश्न' नाम अवश्य ही साम्यता रखते हैं, किन्तु दोनों विधाओं में बहुत अधिक अंतर देखने को मिलता है। संस्कृत 'भाण' शैली एक पात्रीय गद्य प्रधान विधा है, जबकि कश्मीरी 'मांड जश्न' बहुपात्री सम्पूर्ण नाट्य विधा है, जिनमें संगीत नृत्य की प्रधानता है। संस्कृत के चतुर भाण में नेपथ्य की ओर देखकर काल्पनिक पात्रों से वार्तालाप करते हुए अभिनय द्वारा नाट्य का सृजन करता है, जो आगरा-लखनऊ के भांडों के प्रदर्शनों के अधिक समीप प्रतीत होता है। यहाँ भी एक विशेष अंतर इन दोनों शैलियों में देखने को मिलता है। आगरा लखनऊ के 'भांड' नेपथ्य की ओर उन्मुख होकर संवाद नहीं बोलते। असम के वैष्णव मठों में प्रचलित 'अंकिया नाट' विधा का नाम रूपकों की एक शैली अंक' से साम्य रखता है, किन्तु दोनों विधाओं में बहुत अंतर है। जहाँ संस्कृत अंक करुण रस प्रधान होता है, वहीं

'अंकिया नाट' में सभी रसों का प्रस्तुतीकरण किया जाता है और उनमें संगीत-नृत्य एवं गायन की प्रधानता रहती है।

आन्ध्रप्रदेश का 'वीथिनाटकम्' परम्पराशील नाट्य स्वरूप, नाम के आधार पर 'वीथी' रूपकों के भेद-समानता दर्शाता है, परन्तु 'वीथिनाटकम्' जहाँ बहुपात्रीय सम्पूर्ण नाट्य-विधा है, वहीं 'वीथी' एक अंकीय तथा दो पात्रीय नाट्य-विधा है, जिसमें मात्र हास्य-व्यंग्य के ही प्रदर्शन का नियम है। अतः कुछ विद्वान नाट्य शास्त्रियों द्वारा परम्पराशील अथवा लोक-नाट्यों का उद्गम रूपकों और उपरूपकों को मानना न्याय संगत प्रतीत नहीं होता है।

श्री जगदीश चन्द्र माथुर ने वर्तमान समय में प्रचलित आंचलिक नाट्य और रंगमंच का उद्गम संगीतक शैली को माना है, जो मध्ययुग में संस्कृत नाट्य के मध्यान्ह में ही प्रकट हो गई थी। उनके मतानुसार 'मेरी धारणा है कि इन परम्पराओं का विकास मध्ययुग में हुआ और पिछले लगभग पाँच सौ वर्षों से यह धारा अपने विभिन्न रूपों में देश के विभिन्न भागों में प्रवाहित होती रही है। क्षेत्रीय वर्ण और स्वरों को ग्रहण करते हुए भी इन नाट्य-शैलियों में कतिपय सामान्य विशेषताएँ हैं, जो मध्ययुग की देशव्यापी परिस्थितियों में प्रकट हुईं।

इसके पूर्व में ऐसी प्रदर्शन शैली का जिक्र करना चाहता हूँ, जो संस्कृत नाट्य के मध्यान्ह में ही प्रकट हो गई थी, किन्तु परवर्ती लक्षणकारों ने जिसकी उपेक्षा की है। इस विधा का नाम है 'संगीतक'। मेरा विचार है कि 'संगीतक' ही वर्तमान आंचलिक नाट्य-शैलियों का मूल है। यद्यपि उत्तर भारत में 'सांग' और 'संगीतक' नामों से प्रचलित ग्रामीण नाटकों में ही 'संगीतक' नाम की प्रतिध्वनि रह गई है, तथापि अन्य नामों से भी अभिहित नाट्य-शैलियाँ यथा जात्रा, माच, रामलीला, भागवत मेल, तमाशा, कुटियाट्टम इत्यादि सभी 'संगीतक' के परवर्ती स्वरूप हैं।

श्री माथुर ने आगे 'संगीतक' शब्द पर विचार करते हुए 'संगीतक' और 'संगीत' दोनों शब्दों के अंतर को स्पष्ट किया है। 'संगीत' शब्द प्रायः वाद्य सहित वृन्दगान के लिए प्रयुक्त हुआ है। रघुवंश में संगीत मृदंग घोष और मेघदूत में 'संगीताय प्रहतभुरजा' ये उल्लेख मिलते हैं। भागवतकार ने भी गंधर्वों द्वारा सुकंठ से संगीत के गाने का उल्लेख किया है- 'जगुः सुकण्ठ्यो गन्धर्व्यः



संगीतसहभर्तृकाः।' किन्तु संगीतक में सहगान और सहवाद्य वादन के अतिरिक्त नृत्य, गीत, संवाद ये सभी तत्त्व मिलते हैं और रंगशाला में प्रेक्षकों के सम्मुख इनका प्रदर्शन हो, इसलिए उन्हें संगीतक कहा गया है। संगीत तो प्रेक्षागृह के अतिरिक्त भी प्रस्तुत होता था, किन्तु संगीतज्ञ के लिए रंगशाला में प्रदर्शन अनिवार्य था।<sup>8</sup>

संगीतज्ञ की रचना रंगकर्मियों के इस आग्रह के कारण हुई होगी, जिसमें प्रदर्शन योग्य तत्त्वों की प्रधानता हो, जिसके परिणाम स्वरूप गीत, संगीत और नृत्य का नाट्य में समावेश अधिकाधिक रूप से किया जाने लगा। संगीतज्ञ का सर्वप्रथम उल्लेख वररूचिकृत 'उभय अभिसारिका' नामक भाण में मिलता है, जो चतुर्भिण संग्रह में सम्मिलित है। इस भाण का रचना काल चौथी-पाँचवीं शताब्दी माना जाता है। 'मदनाराधन' तथा 'पुरन्दर विजय' नामक भाणों में संगीतज्ञ के रसाभिनय का उल्लेख किया है। रसाभिनय में ऐसे अभिनय का तात्पर्य है जिसमें गीत की जातियों के समीचीन प्रदर्शन द्वारा नाटकीय रस का उद्रेक होता है।'

कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में संगीतज्ञ का जिक्र दो स्थानों पर मिलता है- 'हन्त प्रवृत्त संगीतकम्' तथा 'प्रारभ्यतां संगीतकम्'। बाणभट्ट की कादम्बरी में राजभवनों में संगीतकों के लिए एक अलग 'संगीतक गृह' नामक स्थान का उल्लेख हुआ है, जहाँ मृदुध्वनि से ठनकते हुए मृदंगों का शब्द सुनायी पड़ता था। ग्यारहवीं शताब्दी में यादव प्रकाश के वैजयन्ती में संगीतज्ञ की विशेषता का वर्णन किया गया है। शुभंकर के 'संगीत दामोदर' में जिसका रचनाकाल पन्द्रहवीं शताब्दी है। संगीतक की व्याख्या इस प्रकार मिलती है-

*तालवाद्यनुगं गीतं नटीभियंत्रं गीयते ।  
नृत्यस्यानुगतं रंगं तत् संगीतकमुच्यते ॥*

जिस प्रदर्शन में ताल-वाद्यों के अनुसार नटियाँ गाती और रंगशाला में नृत्य प्रस्तुत करती हैं, उसे 'संगीतज्ञ' कहा जाता है। यहाँ संगीतज्ञ के पाँच तत्त्व स्पष्ट हैं- गीत, वाद्य, नृत्य, रंगशाला और नट-नटी। शुभंकर द्वारा संगीतज्ञ की उपरोक्त व्याख्या में संवाद, विशेष रूप से गद्य संवाद की कमी थी, जिसकी पूर्ति भाषा संगीतकों की रचनाओं द्वारा हुई। मिथिला, नेपाल और असम में इस काल में भाषा संगीतज्ञों की रचना होने लगी और

उन रचनाओं ने संगीतज्ञों की उपरोक्त कमी को पूरा किया। उमापति द्वारा रचित 'धूर्त समागम' और ज्योतिरीश्वर ठाकुर द्वारा रचित धूर्त समागम का उमापति द्वारा किया गया भाषा अनुवाद मिथिला में कर्नाटक से आए राजा हरदेव सिंह के दरबार हेतु प्रस्तुत किये गए थे। 'पारिजातहरण नाटक' और 'भाषा धूर्त समागम' दोनों नाटकों का प्रभाव भाषा संगीतज्ञों पर जयदेव के गीत गोविन्द के बाद सबसे अधिक पड़ा। पारिजातहरण नाटक ऐसा पहला नाटक है, जिसमें पात्र संस्कृत और प्राकृत में संवाद कहते हैं, और भाषा में गीत गाते हैं। 'धूर्त समागम' की रचना यद्यपि मूलरूप से संस्कृत में हुई थी। परन्तु बाद में उसके रचयिता ज्योतिरीश्वर ठाकुर ही उसमें भाषा गीत लिखकर जोड़े।

सन् 1360-1448 ईस्वी में मिथिला में ही विद्यापति जैसे महान कवि हुए, जिन्होंने अपनी प्रतिभा के बल पर ऐसे साहित्य की रचना की जो 'भाषा' में था, परन्तु उसका स्तर संस्कृत साहित्य की कोटि का था और इसी कारण से उनके साहित्य को संस्कृत साहित्य के समान ही आदर प्राप्त हुआ। उनके द्वारा रचित 'गोरज विजय' में संस्कृत और प्राकृत में संवाद लिखे गये हैं, और नाटक में राग-रागिनी बद्ध पच्चीस भाषा गीत लिखे गए हैं। विद्यापति ने अपनी इस नाट्य शैली को 'संगीतक' कहा है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि विद्यापति के समय तक नाट्य जगत में संगीतज्ञ शब्द का प्रयोग सामान्य रूप से प्रचलित हो चुका था।

'संस्कृतेतर भाषाओं में संगीतज्ञों का उद्भव लगभग एक हजार वर्ष पूर्व आरम्भ हुआ और उसकी विकास धारा प्रायः दक्षिण से उत्तर की ओर आई। इस प्रक्रिया का सम्बन्ध भक्ति सम्प्रदाय से विशेषतः रहा है, जो आंदोलन स्वयं दक्षिण से उत्तर की ओर बढ़ा। जयदेव के गीत गोविन्द की शैली ने संगीतज्ञ को देश व्यापी प्रदर्शन विधा के रूप में स्थापित किया। केरल के कुलशेखर वर्मन, मिथिला (नेपाल) के हरिसिंह देव, असम के शंकर देव, ब्रज के नारायण भट्ट, बंग के रूप गोस्वामी, आन्ध्र के सिद्धेन्द्र योगी और तंजावुर के रघुनाथ नायक भाषा नाट्य के प्रमुख प्रवर्तक माने जा सकते हैं।'<sup>9</sup>

डॉ. जगदीश चन्द्र माथुर ने भाषा नाट्य को चार चरणों में विभाजित किया है- पहला राजदरबार केन्द्रित संस्कृत और भाषा

मिश्रित नाटकों का युग लगभग 1000 ईस्वी से 1500 ई. तक, दूसरा भक्ति प्रधान वैष्णव नाटकों का युग-1500 ई. से 1650 ईस्वी तक, तीसरा आँचलिक विशेषताओं एवं लोक-संस्कृति से प्रभावित नाटकों का युग- 1650 ईस्वी से 1800 ईस्वी तक, और चौथा सामाजिक चेतना, राजनीतिक परिस्थितियों और व्यंजना-शैली के बदलते आयाम, इन सभी युगों की प्रगति के प्रेरक थे।

संगीतक शैली के नाटकों का विकास उस ऐतिहासिक दौर में हुआ, जब एक ओर तो संस्कृति नाटक का हास हो रहा था और दूसरी ओर उत्तर भारत में मुस्लिम प्रभाव बढ़ रहा था। आरंभ में मुस्लिमों का आगमन भारत वर्ष में आक्रमणकारी आतताइयों के रूप में हुआ था। वे न केवल यहाँ की धन-दौलत को लूटकर भारत के बाहर अपने-अपने देशों में ले जा रहे थे, वरन् शक्ति के बल पर धर्म-प्रचार एवं धर्म-परिवर्तन पर भी विशेष जोर दे रहे थे। उन्होंने यहाँ के मंदिरों को केवल लूटा ही नहीं, वरन् उनकी वैभवशाली उन्नत कलाकृतियों को भी नष्ट किया। इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप दक्षिण आंदोलन का सूत्रपात हुआ और उसकी दिशा दक्षिण-उत्तर की ओर थी। इसी के साथ-साथ पौराणिक आख्यानों पर आधारित संगीतक शैली के नाटकों का भी विकास दक्षिण में हुआ, जिसके मूल में भागवत धर्म ही केन्द्रीय भावना के रूप में विद्यमान था। नाटक के इस युग में मनोरंजन के साथ ही लोगों को भागवत धर्म की भावना से बाँधकर उनको धार्मिक आस्थाओं से जोड़े रखने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। नाटकों में संस्कृत की अपेक्षा बोलियों का प्रयोग बढ़ने लगा, जिससे उनकी सम्प्रेषणीयता में वृद्धि हुई। विक्रमोर्वशी इसी प्रकार का एक संगीतक माना जाता है, जिसमें नट-नटियों की सुविधा हेतु अपभ्रंश में गीतों की रचना की गई है।

इसी युग में गीत-गोविन्द की प्रस्तुतीकरण शैली का भी विकास हुआ। जयदेव रचित गीत-गोविन्द ने सम्पूर्ण भारत में नाट्य परम्परा की एक नयी शैली को जन्म दिया, जिसमें संलाप एवं सूत्रधार की प्रधानता दी गई। यह शैली सम्पूर्ण भारत में फैल गई। गीत-गोविन्द की प्रस्तुति सभी स्थानों पर होने लगी।

भाषा संगीतकों का विकास इस विकास की द्वितीय कड़ी कही जा सकती है, जिसमें नागर शैलियों में लोक-शैलियों का मिश्रण हुआ। लोक जीवन में प्रचलित गान एवं नृत्यों को तथा

देशी राग-रागनियों को भी नाट्य प्रस्तुतियों में समुचित स्थान प्रदान किया गया। केरल के राजा कुलशेखर वर्मन ने दसवीं शताब्दी में ही संस्कृत नाटकों के भावार्थ रंगशालाओं में ही प्रस्तुत करने की व्यवस्था की, जिससे कि आम लोगों को वे अच्छी तरह से समझ में आ सकें। अनुवाद की इस परम्परा का नाम आगे चलकर कुटियाट्टम पड़ा, जिसका अर्थ है- मिला-जुला अभिनय। इस शैली के नाटकों में विदूषक तात्कालिक सामाजिक विसंगतियों पर कटाक्ष एवं व्यंग्य के माध्यम से टिप्पणियाँ करता था। इस गुण के कारण ही यह नाट्य-शैली अत्यंत प्रभावशाली लोकनाट्य शैली बन गई।

कुलशेखर वर्मन ने उस युग के मंदिरों में प्रचलित चाक्यार और मार्गी शैली में पुराट्टु को मिलाकर जो कि लोक शैली की एक विधा थी, एक नई नाट्य शैली का विकास किया। पुराट्टु में विदूषक पात्र को भी जोड़ा गया। आरम्भ में संस्कृत नाट्याचार्यों ने इस नूतन शैली का जमकर विरोध किया, परन्तु यह शैली विकासमान धारा की युग सापेक्ष माँग थी। अतः कालान्तर में अधिकांश नाट्यकारों ने इस लोकधर्मी शैली को अपना लिया।

नृत्य-नाट्य की मिली-जुली एक शैली का विकास कर्नाटक क्षेत्र में भी हुआ, जो यक्षगान कहलाई। कर्नाटक के एक राज परिवार ने पहले मिथिला पर और फिर नेपाल तक अपने राज्य का विस्तार किया। उस राज परिवार के साथ-साथ भाषा संगीतक की यह मिली-जुली शैली मिथिला और नेपाल तक पहुँच गई और वहाँ कीर्तनिया नाच के नाम से प्रसिद्ध हुई। इन कीर्तनिया शैली के नाट्यों में आन्ध्र के नटों को भी प्रदर्शनों हेतु सम्मिलित किया गया। पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में भाषा संगीतकों का प्रचार उड़ीसा में भी हो गया था। पुरी के राजा गणपति कपिलेन्द्र देव रचित नाटक 'परशुराम' विजय व्यायोग में भाषा के गीत सम्मिलित किये गए हैं। सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दी में पहुँचते-पहुँचते लोक भाषा के नाटकों का प्रचलन इतना अधिक बढ़ गया कि वैष्णव मत के संत प्रचारकों ने इसी शैली को अपनाकर भगवान की लीलाओं की नाटकीय प्रस्तुतियों को धर्म एवं नैतिक मूल्यों के प्रचार का प्रमुख साधन बनाया। आन्ध्र तथा कर्नाटक क्षेत्र में तो संतों द्वारा प्रेरित भाषा संगीतकों को भागवतम् कहा जाने लगा।

## रासलीला नाट्य का उद्भव

पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में जयदेव कृत गीत-गोविन्द का सम्पूर्ण भारत पर एक व्यापक प्रभाव पड़ा और उस काल के संत ब्रज की यात्रा करने की ओर उन्मुख हुए। असम से वैष्णव भक्त श्री शंकर देव ने ब्रज की दो बार यात्राएँ की। चैतन्य महाप्रभु के गुरुभाई श्री माधवेन्द्रपुरी, आन्ध्र से श्री वल्लभाचार्य एवं बंगाल से महाप्रभु चैतन्य देव तथा उनके शिष्य रूप गोस्वामी आदि भक्तों ने भी उस काल में ब्रज की यात्राएँ की। ओरछा के कृष्णा भगत, हरिराम व्यास, गुजरात के संत हरिदास तथा दक्षिण के भक्त नारायण भट्ट जैसे भक्तों ने भी ब्रज की यात्राएँ की। मध्ययुग में भक्ति आंदोलन के प्रभाव से वृन्दावन संत समागम का केन्द्र बन गया और वैष्णव भक्तों का कृष्ण की जन्मभूमि ब्रज क्षेत्र की तीर्थयात्रा पर बहुत बड़ी संख्या में आगमन होने लगा। इस संत समागम का ब्रज मण्डल पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि वहाँ भगवान की भक्ति में श्री कृष्ण के लीला गान का अद्भुत वातावरण निर्मित हो गया। ये भक्त अपने क्षेत्र की संगीत-नृत्य एवं नाट्य परम्पराएँ अपने साथ लेकर ब्रजभूमि में पहुँचे थे। वहाँ विभिन्न शैलियों के समागम तथा ब्रजभाषा के प्रयोग से उत्पन्न लालित्य ने रासलीला का विकास किया। रासलीला नृत्य का आधार बना मण्डलाकार हल्लीशक नृत्य। रासलीला के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ भारत की अनेक क्षेत्रीय नाट्य-शैलियों में तथा भाषाओं में ब्रजभाषा की शब्दावली अपनाई जाने लगी।

असम के वैष्णव भक्त श्री शंकर देव नृत्य, संगीत तथा अभिनय के विद्वान थे तथा उन्हें रंगशाला का भी अच्छा ज्ञान था। वे भारत के पूर्वी क्षेत्र में प्रचलित कला स्वरूपों से भी भलीभाँति परिचित थे। नाट्य में सूत्रधार के कार्य क्षेत्र का उन्होंने विस्तार करके उसे नाट्य के एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण आयाम के रूप में प्रतिष्ठित किया। उनके इस प्रयोग के पहले तक सूत्रधार का कार्य नाट्य की केवल प्रस्तावना तक ही सीमित था। श्री शंकर देव ने उसे सम्पूर्ण नाट्य प्रस्तुति का निर्वाह करने का उत्तरदायित्व सौंपकर उसे प्रेक्षक का सम्बोधित कर्ता बनाया। नाट्य की इस नूतन शैली का नामकरण 'अंकिया नाट' हुआ जो असम में आज तक लोक-नाट्यों की प्रमुख विधा के रूप में प्रचलित है। उनके द्वारा रचित 'कालिया दमन जात्रा नाट' अत्यंत प्रसिद्ध हुआ था।

बंगाल पर भी उसका इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि बंगाल के जात्रा शैली के नाटक लम्बे समय तक 'कालिया दमन जात्रा' ही कहलाने लगे।

रासलीला लोक-नाट्य की एक सशक्त विधा के रूप में सोलहवीं शताब्दी में स्थापित हो चुकी थी। इसके जनक आन्ध्र के वैष्णव भक्त श्री नारायण भट्ट तथा श्री रूप गोस्वामी माने जाते हैं, जिन्होंने रासलीला को एक सम्पूर्ण नाट्य-शैली का रूप प्रदान किया। रासलीला में संगीत, नृत्य, अभिनय एवं संवादों का समावेश कर इन दोनों विद्वानों ने रासलीला नाट्य में ब्रजभाषा के गीतों (पदों) का प्रयोग किया, जिसके फलस्वरूप रासलीला भागवत धर्म का एक सशक्त माध्यम बन सकी। विशेष रूप से नारायण भट्ट और उनके शिष्यों का इस कार्य में बहुत बड़ा योगदान माना जाता है। रास को केवल नृत्य के रूप में तो उनके पूर्व भी प्रस्तुत किया जाता था। सर्वप्रथम रास की प्रस्तुति वृन्दावन में स्वामी वल्लभाचार्य के निर्देशन में हुई थी, जिसमें करेरा ग्राम के ब्राह्मण बालकों को उन्होंने सम्मिलित किया था। उस परिवार की सोलहवीं पीढ़ी के स्वामी रामस्वरूप जी शर्मा श्री कृष्ण लीला संस्थान के माध्यम से वर्तमान में भी रासलीला का संचालन कर रहे हैं। उनके पिता स्व. मेघश्याम जी ने रासलीला में अनेक प्रयोग करके तथा लोकगीत की शैली पर पदों की स्वयं रचना कर रासलीला को अधिक लोकधर्मी एवं लोकप्रिय बनाया। स्वामी रामस्वरूप जी ने मथुरा वृन्दावन के मंदिरों में प्रचलित श्री राधाकृष्ण के श्रृंगार की शैली पर भव्य वेशभूषाएँ तैयार करवाईं और मंदिरों के अनुरूप राधा माधव, बृज बिहारी जी तथा द्वारकाधीश की भव्य झाँकियाँ तैयार की। मंच सज्जा को भी भव्यता प्रदान की गई। किसी एक परिवार की सोलह पीढ़ियों का निरंतर किसी नाट्य स्वरूप से जुड़ा रहकर उसकी मर्यादाओं का निर्वाह करते हुए उसमें संलग्न बना रहना, अपने आपमें एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

नारायण भट्ट ने ही सर्वप्रथम अपने ग्रंथ 'ब्रजोत्सव चंद्रिका' में लीलाओं को क्रमबद्ध करके निर्देशित किया था। उनके द्वारा निर्धारित शैली पर आधारित रासलीला वर्तमान समय में भी बरसाने में बूढ़ी लीला के नाम से प्रचलित है। बरसाना के आसपास के रासधारी नारायण भट्ट द्वारा निर्देशित रासलीला की ही प्रस्तुति करते हैं।

रासलीला को समृद्ध करने में अनेक विद्वानों, भक्त कवियों और संगीत-नृत्य आदि में पारंगत नाट्य कलाकारों ने तथा भक्ति काल के कवियों ने महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। अष्टछाप के कवियों ने मुक्तक रूप में साहित्य रचना करके रासलीला साहित्य को लालित्यमय बनाया। यहाँ ऐसे कुछ महत्त्वपूर्ण वैष्णव भक्तों का तथा उनके द्वारा किये गए योगदान का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करना आवश्यक और प्रासंगिक प्रतीत होता है।

### रास शैली के नाटक और उनका उद्गम

रासक नाटकों की खोज और उन पर शोध का कार्य अधिक नहीं होने के कारण पूर्व में हिन्दी नाटक का उद्भव विद्वानों द्वारा सत्रहवीं शताब्दी में निर्धारित किया जाता रहा। अपभ्रंश साहित्य के बारे में पर्याप्त जानकारी के अभाव में ऐसी मान्यता बन गई थी। परन्तु बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में अपभ्रंश साहित्य में किए गए शोध से अनेक रासक या रासो ग्रंथों का पता चला है। नई खोज के आधार पर यह कहा जा सकता है कि हिन्दी का नाट्य-साहित्य विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में आरम्भ हो गया था। सत्रहवीं शताब्दी में रचित नाट्य-साहित्य एवं नाट्य प्रयोगों का, लोक-नाट्यों का उत्कर्ष काल कहना उचित एवं तर्क संगत होगा। अपभ्रंश भाषा में रासक नाटकों की शैली संस्कृत परम्परा के विपरीत पूरी तरह से लोकनाट्य परम्परा है।

डॉ. श्री दशरथ ओझा ने अपने शोध प्रबंध 'हिन्दी नाटक उद्भव और विकास' में अपभ्रंश भाषा पर मुनि जिनविजय द्वारा दीर्घकाल तक किये गए शोध तथा जैन भण्डारों में हस्तलिखित पाण्डुलिपियों के अध्ययन के विषय में लिखा है- 'उन विशाल ग्रंथ भण्डारों में उन्हें संदेश रासक' नामक ग्रंथ उपलब्ध हुआ। यह ग्रंथ विक्रम की तेरहवीं सदी में एक उदार मुसलमान द्वारा अपभ्रंश मिश्रित पश्चिमी राजस्थानी में लिखा गया। इसकी भाषा और कथावस्तु के आधार पर यह प्रमाणित हुआ कि इसका रचनाकाल शहाबुद्दीन मोहम्मद गौरी के आक्रमण का पूर्वकाल था। इसकी भाषा पृथ्वीराज रासो की मूलभाषा से बहुत कुछ साम्य रखती है। यह वह काल था, जब अपभ्रंश भाषा में सामान्य जन की भाषा राजस्थानी अपना स्थान बनाती चली जा रही थी। अतएव ग्रंथ में अपभ्रंश तथा राजस्थानी का मनोरम संगम पाया जाता है। इसके पश्चात् जितने रासक विरचित हुए, उनमें अपभ्रंश

का प्रभाव क्षीण से क्षीणतर और राजस्थानी का प्रभाव प्रबल से प्रबलतर बनता गया। और अचिरादेव रास और रासो राजस्थानी में विरचित होने लगे। रास और रासो की यह परम्परा न्यूनाधिक सात सौ वर्षों से हमारे नाट्य-साहित्य को प्रभावित करती चली आ रही है। रास साहित्य को कुछ विद्वान श्रव्य काव्य की श्रेणी में रखते हैं, परन्तु बहुरूपियों द्वारा उसका प्रदर्शन अभिनय द्वारा किये जाने के कारण डॉ. ओझा उसे दृश्य काव्य मानते हैं। उनके मतानुसार 'रासक पूर्णतया विकसित नाटकों के प्रारम्भिक काल का वह रूप है, जिसमें श्रव्य काव्य अभिनय कला की सहायता से दृश्य काव्य में परिणित रहे थे। बहुरूपियों से प्रदर्शन होने का उल्लेख इस बात का प्रमाण है।'

डॉ. नामवर सिंह के मतानुसार पश्चिमी हिन्दी की एक परम्परा रास-ग्रंथों की भी है। इन रास-ग्रंथों में 'पृथ्वीराज रासो' सबसे बड़ा है तथा 'बीसलदेव रासो' और 'हम्मिर रासो' मुक्तकों के संग्रह हैं। अपभ्रंश में 'रास' नाम से केवल तीन चार ग्रंथ ही मिलते हैं.... 'संदेश रास' 'जीवदया रास' (शांतिसूरि), बाहुबलि रास (शीलभद्र सूरि) और 'स्थूल रास'। .... ऐसा प्रतीत होता है कि रास काव्यों की अपभ्रंश परम्परा 'संदेश रास' की तरह छोटे-छोटे प्रेमाख्यान की रही होगी। रास शब्द की व्युत्पत्ति के बारे में वे आगे लिखते हैं- 'संदेश रास' को देखते हुए लगता है कि इस प्रकार के रास काव्यों का सम्बन्ध गोप- गोपिकाओं की रासलीला से अवश्य रहा होगा। आभीर जाति के सामूहिक नृत्य को सम्भव है भ्रम से 'लास्यरास' संज्ञा दे दी गयी हो। 'रास' में जिस प्रकार के प्रेमाख्यान विरह निवेदन आदि की सरस रचनाएँ हैं, उनका सम्बन्ध राजस्थान में भ्रमण करने वाली आभीर, गोप जाति से होना असम्भव नहीं है, और इसी जाति का नृत्य भी 'रास' है, जो राधा-कृष्ण आख्यान को लेकर कृष्ण भक्त कवियों के काव्य का वर्ण्य विषय बना.. इस यायावर जाति के रोमानी गीतों के अनुकरण पर बने हुए काव्य-साहित्य में अन्य बातों को मिलाकर भी 'रास' कहा गया हो।'

इधर अपभ्रंश पर शोध के साथ-साथ अनेक रास ग्रंथों का पता चला है, तथा कुछ रास-ग्रंथों का प्रकाशन भी हुआ है। 'जैन-गुर्जर कवियों' नामक ग्रंथ में तेरहवीं शताब्दी से बीसवीं शताब्दी तक रचे गए अनेक रास-ग्रंथों की जानकारी दी गई है। भावनगर से एक ग्रंथ 'ऐतिहासिक रास संग्रह' के नाम से प्रकाशित

हुआ। तेरहवीं शताब्दी का एक रासग्रंथ जैसलमेर से प्राप्त हुआ है। जिसका नाम 'गयसुकुमार रास' है। इस रास का कथानक इस प्रकार है- देवकी वसुदेव से कृष्ण जैसे ही एक और पुत्र की कामना करती है। उनकी कामना पूरी होती है। इस रास में वसुदेव, देवकी, गयसुकुमार, कंस, जरासंध और नेभकुमार पात्र रूप में आए हैं। अब तक प्राप्त नाटकों में 'गयसुकुमार नाटक' ही हिन्दी का प्रथम नाटक सिद्ध होता है। राजस्थान प्राच्य भाषा संस्थान ने इधर अनेक रासो ग्रंथों की खोज एवं प्रकाशन किया है।

### ब्रज रास

वृन्दावन में मध्य युग में भक्तों के समागम और रासलीला के उद्भव का उल्लेख पूर्व में किया गया है। यहाँ रासलीला के विकास में जिन भक्त कवियों और आचार्यों ने महत्त्वपूर्ण योगदान किया, उनका संक्षेप में परिचय देना आवश्यक प्रतीत होता है। उस काल के प्रमुख वैष्णव भक्तों में सर्वोपरि नाम स्वामी वल्लभाचार्य का आता है। उनके ही समकालीन हित हरिवंश थे। तानसेन के गुरु स्वामी हरिदास भी वृन्दावन में ही आकर बस गए थे। चैतन्य महाप्रभु ने अपने शिष्य रूप गोस्वामी को वृन्दावन में निवास करने के लिए भेज दिया था। गदाधर भट्ट जो चैतन्य देव के शिष्य थे, आकर वृन्दावन में बस गए। हित हरिवंश श्री राधा के भक्त थे, जो संन्यास लेकर राजस्थान से आकर वृन्दावन में रहने लगे थे। उनकी श्री राधा भक्ति के आधार पर ही 'राधा वल्लाभ सम्प्रदाय' चल पड़ा।

ऐसी किंवदन्ती प्रचलित है कि वे एक लताकुंज में नित्यप्रति अपने आराध्य देव का ध्यान किया करते थे और उन्हें ध्यानस्थ अवस्था में राधिका जी और श्री कृष्ण रासविहार करते हुए दिखाई पड़ते थे। कभी-कभी उन्हें महारास के भी दर्शन हो जाते थे। भक्तों के द्वारा जब भगवान श्री कृष्ण के रासविहार के बारे में उनसे अपनी उत्कंठा प्रकट की गई, तब उन्होंने घमण्डी देव जी और स्वामी हरिदास जी को कुछ निर्देश दिये। रासलीला में राधा-कृष्ण के जिस रूप के दर्शन उन्हें हुए थे, उसके अनुरूप कलाकारों का श्रृंगार एवं प्रसाधन किया गया। गोपियों का श्रृंगार स्वयं हितहरिवंश जी ने किये। इस प्रकार रास मण्डल की तैयारी हुई। स्वामी हरिदास महान संगीतज्ञ थे और उन्होंने श्री हितहरिवंश के पदों 'आज बन्नी को रास बनाओं' तथा 'खेलत रास दुलहिनी

दूलह' को गाया। इस प्रकार स्वामी वल्लभाचार्य और गदाधर भट्ट की उपस्थिति में रास लीला का प्रदर्शन हुआ। घमण्डी देव और स्वामी हरिदास ने रासलीला के सफल प्रदर्शन से प्रेरित होकर ललित सखी के ग्राम करेरा के बालकों को लेकर एक रास मण्डली बना डाली और उनके द्वारा रासलीला के नियमित प्रदर्शन होने लगे। उस काल के तीर्थस्थल पर आने वाले यात्रियों के लिए इन रासलीलाओं का दर्शन भी भगवान के दर्शन के समान ही धार्मिक कार्य का रूप धारण कर चुका था।

रास की उत्पत्ति श्रीमद्भागवत के दसवें स्कंध से मानी जाती है, जिसमें बालक कृष्ण के मनुष्य रूप में अवतार लेने पर उनके द्वारा किये गए अलौकिक कार्यों का वर्णन किया गया है। बारहवीं शताब्दी में श्री बोपदेव रचित ग्रंथ श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण लीला के रास का उल्लेख पाया जाता है, परन्तु बारहवीं से सोलहवीं शताब्दी के बीच कृष्ण रास किस रूप में प्रचलित था और उसमें किस प्रकार के प्रयोग और उसके प्रदर्शन होते थे, उसके बारे में कोई सिलसिलेवार प्रमाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में लीला शैली के नाटक लिखने का आरम्भ हरिराम व्यास ने भक्त रूप गोस्वामी के 'भक्ति रसामृत सिन्धु' नामक ग्रंथ से प्रेरणा करके लिया। अष्टछाप के कवियों ने अपनी मुक्तक रचनाओं द्वारा इसे समृद्ध किया। रूप गोस्वामी के नाटक विदग्ध माधव और 'ललित माधव' तथा विदग्ध माधव के कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह द्वारा किये गए अनुवाद 'गोविन्द हुलास नाटक' ने रासलीला साहित्य को और आगे बढ़ाया। रूप गोस्वामी ने ही सर्वप्रथम दान लीला की कथा लिखी। श्री कृष्ण के युवती वेश धारण करने का तथा होली लीलाओं का समावेश सर्वप्रथम उन्होंने किया। जीव गोस्वामी ने भारलीला और 'नौका लीला' की रचना की।

अष्टछाप के महानतम कवि सूरदास माने जाते हैं। कहते हैं कि उन्होंने पचास हजार पदों की रचना की थी। उनके द्वारा रचित पद कृष्ण की बाल-लीलाओं के आधार बने। कुम्भनदास के पदों ने विरह और दानलीला के लिए सामग्री दी। परमानंद दास का आँख मिचौनी लीला पर प्रभाव पड़ा। नंददास की 'रासपंचाध्यायी' और भ्रमरगीत के पदों ने महारास लीला और उद्भव-गोपी संवाद को अलंकृत किया। ऐसा जान पड़ता है कि उस समय तक सांगोपांग लीलाएँ लिखने का रिवाज नहीं था।

रूप गोस्वामी के ग्रंथ भक्ति रसामृत सिन्धु को आधार बनाकर सर्वप्रथम लीला नाटक लिखने की शैली सन् 1570 के आसपास प्रारम्भ हुई। भक्ति कवियों के द्वारा विकसित रास-शैली के नाट्य और रास की विभिन्न लीलाएँ, लक्षण-ग्रंथों की परिधि में नहीं आ पाती थीं। अतः कुछ भक्तों ने उन्हें स्थायित्व प्रदान करने के उद्देश्य से कुछ लक्षण-ग्रंथों की भी रचना की। इस हेतु श्री नारायण भट्ट ने 'ब्रजोत्सव चंद्रिका' और 'प्रेमांकुर' तथा रूप गोस्वामी ने 'नाटक चंद्रिका' और भक्ति रसामृत सिन्धु जैसे लक्षण ग्रंथों की रचना की। ध्रुवदास जी राधा वल्लभ सम्प्रदाय के एक बहुत बड़े कवि थे। वे श्री राधा के भक्त थे। उन्होंने बयालीस लीलाओं की रचना की, जिनमें दानलीला और मानलीला अत्यंत प्रसिद्ध है। चाचा वृन्दावन दास की प्रसिद्धि सूरदास के ही समान थी, जिनके बारे में कहा जाता है कि उन्होंने चार लाख पदों की रचना की थी। गौने वाली छद्म लीला उनकी ही रचना है। नंददास जी की ख्याति अष्टछाप के कवियों में सूरदास जी के बाद सर्वाधिक है, जिन्होंने 'श्याम सगाई' नामक लीला की रचना की। बाबा ब्रजवासी दास ने भी अनेक लीलाओं की रचना की और भक्ति कवियों में चाचा वृन्दावन दास के समान ही सम्मानजनक स्थान प्राप्त किया। बाबा ब्रजवासी दास कवि तो थे, साथ ही उन्हें नाट्य का भी अच्छा ज्ञान था। उनके द्वारा रचित ग्रंथ 'ब्रज विलास' में चौहत्तर लीलाओं को क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत किया गया है। उन्होंने गद्य-पद्य शैली में 'प्रबोध चन्द्रोदय' का अनुवाद भी किया है।

### राम कथा पर आधारित रामलीला

सम्राट अकबर के शासन काल में रासलीला अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच चुकी थी। इसी काल में अयोध्या तथा काशी में गोस्वामी तुलसीदास ने रामलीला का सूत्रपात किया। तुलसीदास जी रासलीला के व्यापक प्रभाव और उसकी लोकप्रियता से परिचित थे। उन्होंने अयोध्या में रामलीला मण्डली का गठन किया और स्वयं ही उसका संचालन एवं निर्देशन किया। अपने मित्र एवं सहपाठी मेघा भगत को काशी की रामलीला के संचालन का उत्तरदायित्व सौंपा।

तुलसीकृत रामचरित मानस में नाटकीय तत्वों की प्रचुरता सहज ही देखी जा सकती है। कुछ विद्वान तो यह भी अनुभव

करते हैं कि रामचरित मानस में संवादात्मक शैली का उन्होंने जो भरपूर प्रयोग किया है, उसके पीछे उनका उद्देश्य राम कथा को आगे चलकर नाट्य रूप में प्रदर्शित करने का अवश्य रहा होगा। तुलसीदास जी रामायण के व्यापक प्रचार को लेकर प्रतिबद्ध थे। इसीलिए वे गंगातट पर स्थित असीघाट पर बैठकर रामायण का श्रोताओं के बीच में परायण भी किया करते थे। रामचरित मानस में नाटकीय तत्वों की प्रचुरता होने के कारण उसकी नाट्य प्रस्तुतियों में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं हुई। रामलीला का प्रचलन अयोध्या-काशी होता हुआ पश्चिम में राजस्थान तक और पूर्व में मिथिला तक पहुँच गया। धीरे-धीरे रामलीला सम्पूर्ण उत्तर भारत में एक विशिष्ट लोक-नाट्य विधा के रूप में स्थापित हो गई। 'यद्यपि अनेक विद्वानों ने रामलीलाएँ विभिन्न नामों से लिखी, जैसे प्राणचंद द्वारा रचित 'रामायण महानाटक' और हृदयराम रचित 'हनुमन्नाटक', तथापि गोस्वामी तुलसीदास के रामचरित मानस के नाटकीय तत्व इतने महान थे कि रामलीला का बहिरंग और अन्तरंग दोनों ही रामचरित मानस के विशाल मानस में समा गये।'<sup>10</sup>

### जात्रा नाटक

जात्रा (यात्रा) नाटकों की परम्परा बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। अपने देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए ऐसी यात्राओं का आयोजन करने की प्रथा अनेक देशों में प्रचलित है। भारत के अनेक क्षेत्रों में भी देवी-देवताओं की इस प्रकार की जात्राएँ निकाली जाती हैं। दक्षिण भारत के अनेक मंदिरों में काष्ठ के कलात्मक रथ बनाकर रखे जाते हैं, जिनमें वर्ष की कुछ प्रमुख निश्चित तिथियों पर उन मंदिरों के देवी-देवताओं की मूर्तियों को प्रतिष्ठित करके जात्राएँ निकाली जाती हैं। कुछ मंदिरों में जात्रा हेतु उन मंदिरों में प्रतिष्ठित देवी-देवताओं की मूर्तियों के छोटे आकार की मूर्तियाँ विशेष रूप से जात्रा के उद्देश्य से ही बनाकर रखी जाती हैं। जिन्हें रथ में प्रतिष्ठित कर जात्राओं का आयोजन किया जाता है। राजस्थान तथा ब्रज क्षेत्र के अनेक मंदिरों में डोलियों या पालकियों में देवी-देवताओं की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित करके जात्राएँ निकाली जाती हैं। उड़ीसा के प्रसिद्ध जगन्नाथ मंदिर में आषाढ़ के शुक्ल पक्ष की द्वितीया के दिन प्रतिवर्ष मंदिर में प्रतिष्ठित भगवान जगन्नाथ, बलराम और सुभद्रा की मूर्तियों की जात्रा निकाली जाती है, जो गोंडाइचा (भगवान

की ससुराल) में जाकर समाप्त होती है। हिमाचल प्रदेश में देवी-देवताओं की जात्राएँ निकाली जाती हैं, जिनमें देवी-देवताओं के सोने-चाँदी के मुखौटे अथवा उनकी छोटे आकार की प्रतिमाएँ पालकियों में प्रतिष्ठित करके जात्राओं का आयोजन किया जाता है। मैसूर में चामुण्डा और बस्तर में दन्तेश्वरी देवी की जात्राएँ दशहरा पर्व पर आयोजित की जाती हैं।

भारत की आदिवासी जातियों में भी अनेक स्थानों पर उनके देवी-देवताओं की जात्रा के आयोजन करने की प्रथा विद्यमान है। निमाड़ में प्रचलित काठी प्रथा भी जात्रा का ही स्वरूप है। बस्तर में बाली जात्रा, विभिन्न मड़ई तथा मेले जात्रा के ही आयोजन हैं। कुछ विद्वानों की यह धारणा है कि भारत में ये यात्राएँ आर्यों के आगमन के पूर्व से यहाँ के मूल निवासियों में प्रचलित थी, जिन्हें आर्यों ने बाद में अपना लिया। अनार्यों की इस यात्रा नाट्य-शैली को संभवतः आर्यों ने अपना लिया और उसके फलस्वरूप इसे 'यात्रा' का सुसंस्कृत नाम दिया। डॉक्टर बेरेडील कीथ का इन यात्राओं पर मत है कि नाट्य कला अथवा साहित्य के उद्भव और विकास के लिए भूमिका के रूप में जात्रा को स्वीकार कर लेना सर्वथा उपयुक्त न होगा, वरन् यह मानना चाहिये कि नाटकों के साथ जन नाटकों के रूप में जात्राओं की परम्परा चलती रही। यह परम्परा इतने लम्बे युग के बीत जाने पर भी लुप्त नहीं हुई। बंगाल की यात्राओं को इसी परम्परा में माना जा सकता है। इन यात्राओं ने लोकनाट्यों को प्रभावित किया। लोकनाट्यों के उद्भव और विकास में इन यात्राओं की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। शंकर देव और चैतन्य महाप्रभु ने इन यात्राओं का उपयोग कृष्ण-भक्ति आंदोलन से जोड़कर इन्हें और भी पुष्ट किया। बंगाल के जात्रा-शैली के नाटक लम्बे समय तक 'कालिया मर्दन जात्रा' के नाम से जाने जाते थे।

इन जात्रा-शैली के नाटकों में आरंभ में केवल पुरुष ही अभिनय किया करते थे। किशोरवय के सुंदर बालक-स्त्रियों की भूमिका करते थे। संवाद पद्य में ही होते थे। मंच के लिए कोई विशेष व्यवस्था की आवश्यकता नहीं होती। किसी भी खुले हुए स्थल पर एक दरी बिछा दी जाती और मंच बन जाता है। पृष्ठभाग में एक सफेद वस्त्र से आड़ बना दी जाती है, जिसके पीछे जाकर कलाकार वस्त्रादि बदलते हैं। सभी कलाकार तैयार होकर अक्सर मंच पर आकर एक साथ बैठ जाते हैं। नाटक आरम्भ होने के पूर्व

वादक अपने वाद्य बजाने लगते हैं, करताल की ध्वनि को सुनकर लोगों को जात्रा के आयोजन की सूचना मिल जाती है और लोग जात्रा स्थल पर पहुँचने लगते हैं।

जब लोग एकत्र हो जाते हैं, तब सूत्रधार उन्हें खेले जाने वाली जात्रा की प्रस्तावना देता है। नाटक के दृश्य एवं स्थान परिवर्तन की सूचना भी पात्र ही दे देते हैं। पात्र अपना अभिनय पूरा करके साजिंदों के साथ बैठ जाते हैं और दूसरे कलाकार उठकर अपना अभिनय करने लगते हैं। पुरानी यात्राओं में राधा की भूमिका सदैव अत्यंत महत्वपूर्ण होती थी। कृष्ण के वियोग में राधा का विलाप, मालती, कुन्दादिक से कृष्ण के सम्बन्ध में पूछताछ, कृष्ण के पुराने संस्मरण, राधा की चूड़ियों और बालों से कृष्ण का खेलना, आल्ता से कृष्ण द्वारा राधा के पाँवों का रंगा जाना, उसके केश में कृष्ण का फूल खोंसना, सजाना-संवारना, कृष्ण का अतिशय स्नेह में रो पड़ना, इन सब बातों की याद राधा को आती है। मगर जब ग्वालिनियाँ कृष्ण को चोर, कठोर हृदयवाला, झूठा और मक्कार कहती, तो उनकी ये बातें राधा को असह्य हो जातीं। इसी समय चन्द्रावली आती और वृन्दावन के लता कुंजों में राधा को मूर्छित अवस्था में देखती।<sup>11</sup>

अन्य पुरानी यात्राओं में 'विद्या सुन्दर जात्रा', 'चंडी जात्रा' 'राम जात्रा' 'मनसार भाषण जात्राएँ' प्रमुख थी। विद्यासुन्दर जात्रा के रचयिता गोपाल उड़िया थे घूम-घूमकर केले बेचा करता था। अनेक मधुर कंठ के कारण तथा हास्य विनोद पूर्ण संवादों के कारण उसे अत्यधिक लोकप्रियता मिली। सन् 1859 ईस्वी में उसका निधन हो गया। पुराने जात्रा कलाकारों में दशरथी, रामनिधि गुप्त और ईश्वर गुप्त को भी काफी प्रसिद्धी प्राप्त हुई। बंगला नाटक के आचार्य गिरीश चंद्र घोष ने जात्रा नाटकों से प्रेरणा ग्रहण की और जात्रा मंडली का गठन करके नाटकों के प्रदर्शन किये। इनके नाटक 'दक्ष यज्ञ' 'ध्रुव चरित्र' और 'नल दमयन्ती' पूर्ण रूप से पद्यात्मक हैं। 'हीराफल' और 'परसिया प्रसून' गीति नाट्य है। इन सभी में समसामयिक विषयों पर जात्राओं की रचना की गई है। बंगाल का अकाल, तेलंगाना के किसान विद्रोह और वियतनाम पर अमेरीकी आक्रमण जैसे विषयों पर भी सफल जात्राओं की रचना हुई है जिन्हें बहुत ख्याति मिली है। जात्रा शैली के नाटकों का हमारे लोकनाट्यों पर गहरा प्रभाव पड़ा है।

## लोक नाट्य और स्वांग

नाटक के अर्थ में स्वांग शब्द का प्रयोग हमारे साहित्य में अनेक स्थलों पर मिलता है। भांडों द्वारा नकल उतारने के लिए स्वांग भरा जाता है, जिसमें वे किसी विशिष्ट व्यक्ति के हाव-भावों की नकल उतारते हैं। बहुरूपिये भी तरह-तरह के स्वांग भरते हैं। कभी सिपाही का स्वांग, कभी स्टेशन मास्टर का स्वांग, तो कभी किसी धन्ना सेठ का स्वांग या फिर किसी काल्पनिक देश के राजकुमार का या किसी परी का स्वांग आदि। होली पर्व पर उत्तर भारत में अनेक स्थानों पर स्वांग भरे जाते हैं। सामान्य जन मनोरंजन हेतु हास्य-विनोद एवं नाट्य की स्थितियों का सृजन करने के लिए कई प्रकार के स्वांग भर लेते हैं। उत्तर भारत में विवाह के अवसर पर बारात के प्रस्थान करने के उपरांत उस परिवार की स्त्रियाँ स्वांग भरकर पुरुषों की नकल उतारती और उनका उपहास करती हैं, जिसे बिदौए कहते हैं। छत्तीसगढ़ में इस प्रकार के स्वांगों को 'डिड़वा नाच' कहते हैं, जिसमें किसी भी पुरुष की उपस्थिति निषिद्ध होती है। मुझे एक ग्रामीण स्त्री ने बताया कि डिड़वा नाच करते समय स्त्रियाँ कई बार अश्लील हरकतों की हद तक पहुँच जाती हैं। इसीलिए वे उस समय किसी भी पुरुष की वहाँ उपस्थिति को पसंद नहीं करती।

निष्कर्षतः स्वांग, नाट्य के अत्यंत आरंभिक स्वरूप ही माने जा सकते हैं, जिनमें छोटे-छोटे प्रहसन अथवा हास्य विनोद पूर्ण 'फार्स' ही प्रदर्शित किये जाते रहे होंगे। परन्तु इनके प्रदर्शन भी कई सौ वर्ष पूर्व से चले आ रहे हैं। सिद्ध कण्ठपा की एक पंक्ति में स्वांग का जिक्र इस रूप में आया है-

*आलो डोंबि, तोए सम करिबय सांग,  
निधिण कणाह कपाली जोइ लाग।*

सिद्ध कण्ठपा ने डोमनी के संग स्वांग करने की चर्चा यहाँ की है। कबीर का भी एक ऐसा दोहा मिलता है, जिसमें उन्होंने स्वांग की चर्चा की है। कबीर का दोहा है-

*कथा होय तह श्रोता सोवें, वक्ता मूंड पचाया रे।  
होय जहाँ कहीं स्वांग तमाशा, तनिक न नौद सताया रे।।*

इस दोहे से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि न केवल उस युग में स्वांग-तमाशा प्रचलित थे, वरन् उनके प्रदर्शन मनोरंजन हेतु

किए जाते थे, जिससे दर्शक आनंदित होते थे। स्वांग का जिक्र साहित्य में अनेक स्थलों पर हुआ है। स्वांग भरना, नकल करना, नकल बनाना, नकल उतारना, रूप भरना, स्वांग बनाना आदि ये सारे शब्द पर्यायवाची हैं। स्वांग को ढोंग करने के अर्थ में भी प्रयोग किया जाता है। स्वांग का उपयोग नाट्य अभिनय के रूप में भी होता है।

स्वांग भरने वालों का उल्लेख हमें औरंगजेब के जमाने के कवि मौलाना 'गनीमत' की मसनवी 'नौरंगे इश्क' में भी मिलता है। इस मसनवी की रचना सन् 1685 ई. में हुई थी। 'गनीमत' ने इन स्वांग भरने वालों को 'भगतबाज' कहा है। दरअसल आगरा के आसपास के क्षेत्र में उन दिनों स्वांग भरने वालों को 'भगतबाज' कहा जाता था और उनके नाट्य स्वरूप को 'भगत'। संत साहित्य में ढोंगी व्यक्ति को व्यंग्य में बगुला भगत कहा जाता था। शायद भगत शब्द की व्युत्पत्ति के पीछे 'भगत बनना' जैसा ही व्यंग्यात्मक भाव निहित हो। इन भगत बाजों की बकायदा मंडलियाँ हुआ करती थी, जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करती और नाट्य प्रदर्शन करती थी। मौलाना 'गनीमत' ने नौरंगे इश्क में इन भगतबाजों का विस्तार पूर्वक इस प्रकार वर्णन किया है-

*बशहरे मशब रसीदा तुरफे जाम आ।  
शरर परवाना हा बर गरदे शाम आ।।  
मुकुल्ला पेशाए बा तर्जों अन्दाज।  
मुशाविद सीरतां बा नग्मों साज।  
व इल्में रक्त ओ तकलीद ओस्तादां।  
मुदाद दथतिर इदारत न जादा खुश जगां नग्मा परदाज  
बहरफ इस्तेलहे मा 'भगत बाज'।  
बफन्ने खविश्तन उस्ताद हर यह।  
गहे मर्दों गहे जन गहे तिफलक।  
गहे इस्लामियाने अहले इमां।  
गहे सन्नासियाने यूँ परीशां  
गहे दर गुरबतो गाहे वशंगी।  
गहे कश्मीरी वो गाहे फिरंगी।  
गहे हिन्दू जनान खतना हमदोष।  
मुसलमां जाद हा रा गारते होश।  
गहे दहकां जन बगहे पीर दहका।  
कज्जल वाशना गहे अमरो खरीदार।*



गुलामी गहे तू तूती चरब गुफ्तार ।  
 गहे रंगे जने नौ जाहद बर ओ ।  
 बदस्ते दाया गरियां जायदे मो ।  
 गहे दीवाना बगहे परी बूद ।  
 कलामशय शूनादन वाकरी बूद ।  
 गरज कौमी निखाही जलचा साजिन्द ।  
 ब हर रंगे कि खाही इश्वा वाजिन्द ।

आज शहर में अजीब किस्म के लोग आये हैं, जो एक नाजो अन्दाज के साथ नकलें करते हैं और नगमों-साज के साथ शोबदे दिखाते हैं। नाच और नकल में ये उस्ताद हैं। इनकी आवाज भी मीठी है। हमारी भाषा में इन्हें भगतबाज कहते हैं। कभी मर्द, कभी औरत और कभी बच्चे की नकल करते हैं। कभी परेशान हाल संन्यासी बन जाते हैं, कभी मुसलमान, कभी कश्मीरी का वेश बना लेते हैं और कभी फिरंगी बन जाते हैं। कभी दहकानी औरत और मर्द की नकल करते हैं, कभी दाढ़ी मुड़ाकर गिब्र की सूत में नजर आते हैं। कभी मुगलों की शकल बना लेते, कभी गुलाम बन जाते हैं, कभी जच्चा बन जाते हैं, जिसका बच्चा दायी की गोद में रोता है। कभी देव बन जाते हैं, कभी परी, गरज हर कौम का जलवा दिखाते हैं और हर तरह के रश्वा जमाने से काम लेते हैं।<sup>12</sup>

उपरोक्त उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मध्ययुगीन भगत अथवा स्वांगों में नाट्य के सभी तत्त्व विद्यमान थे और ऐसे स्वांग या भगत का लोकनाट्यों के विकास में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। भगत को उत्तर भारत में प्रचलित नौटंकी, स्वांग-ख्याल तथा माच आदि लोकनाट्य स्वरूपों का पूर्ववर्ती स्वरूप माना जा सकता है।

मध्यवर्ती भारत के भील क्षेत्र में दो पात्रीय स्वांग का एक स्वरूप विद्यमान है, जिसे भीलजन सोंग कहते हैं तथा उसमें पुरुष पात्र सोगड़िया और स्त्री पात्र सोगड़िन कहलाती है। बुन्देलखण्ड के बेड़िया जाति की स्त्रियाँ राई नृत्य के बीच-बीच में पुरुषों द्वारा अभिनीत स्वांगों का सम्मिश्रण अत्यंत कौशल के साथ करती हैं। महाराष्ट्र के तमाशा में सोगड़िया नामक पात्र जो पेशवा काल में जोड़ा गया था उसकी प्रेरणा भीली सम्पर्क के कारण ही तमाशा के संचालकों को प्राप्त हुई होगी। उपरोक्त सभी तथ्यों से लोक-

नाट्य के विकास में भगत या स्वांगों के योगदान का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है।

सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में संगीतकों में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आया। इस काल में संगीतकों में क्षेत्रीय रंगों तथा लोकधुनों का समावेश हुआ। परम्पराशील पौराणिक आख्यानों के साथ-साथ वीर-गाथाओं और प्रेमाख्यानों का भी नाटकों में समावेश हुआ। ऐसी कथावस्तु कुछ तो ऐतिहासिक पुरुषों से सम्बन्धित थी और उनमें से अधिकांश लोकमानस में प्रचलित थे। इसी दौर में नाटकों की वेशभूषा में भी परिवर्तन आया। मुगल दरबार में प्रचलित वेशभूषा इस काल के नाटकों में अपना ली गई, और उसके साथ ही दरबार की तहजीब भी। दक्षिण में तंजावुर तथा मैसूर, पश्चिम में मराठा-राजपूताना की रियासतें तथा बुन्देलखण्ड की रियासतें इन नाटकों को प्रश्रय प्रदान करने लगीं। ये सभी क्षेत्र इस काल में लोकनाट्यों के केन्द्र बन गये। मालवा, गुजरात तथा कश्मीर के मुस्लिम रजवाड़ों में भी ऐसे लोकनाट्यों को प्रश्रय मिला। तंजावुर रियासत में यक्षगान और वीथीनाटकम् का प्रदर्शन नवीन रूपों में विकसित हुआ, जो उच्च वर्ग और जनसाधारण दोनों में ही लोकप्रिय हुआ। इसी दौरान कुचिपुडि ग्राम के सिद्धेन्द्र योगी को गोलकुण्डा के नवाब अबुल हसन तनाशा ने भागवत नाटकों के अभिनय की उन्नति हेतु एक सनद प्रदान की। इन्हीं नवाब के दो मंत्रियों अवकन्ना और मदन्ना ने अपनी-अपनी नाट्य मण्डलियाँ भी बना रखी थीं।

मराठों के राज्य विस्तार ने उत्तर से दक्षिण तथा पूर्व से पश्चिम तक की सांस्कृतिक परम्पराओं को जोड़ा। अठारहवीं शताब्दी में मराठों का साम्राज्य दिल्ली से तंजावुर तक तथा बड़ोदा से कटक तक फैल चुका था। मराठा शैली में तमाशा रंगमंच का विकास हुआ, जो उत्तर-दक्षिण के सांस्कृतिक आदान-प्रदान के परिणाम स्वरूप ही विकसित हुआ था। अठारहवीं सदी में राजपूताना के चित्तौड़ क्षेत्र में 'तुरा-कलंगी' लोकनाट्य-शैली का विकास हुआ, जिसके संवाद पद्यात्मक हुआ करते थे। तुरा-कलंगी के प्रभाव स्वरूप ही चित्तौड़ में 'माच' शैली की लोकनाट्य-विधा का भी विकास हुआ, जो कालान्तर में मालवा प्रदेश तक फैल गई। किशनगढ़ रियासत में अठारहवीं सदी में कलाकारों को खूब संरक्षण मिला था, जिसके कारण ही किशनगढ़ चित्रकला-शैली का विकास हुआ। इसी युग में 'ख्याल' लोकनाट्य का विकास

हुआ। आगे चलकर ख्याल की कुचामन, शेखावटी, बीकानेरी रम्मत शैली आदि विकसित हुई, जिन्होंने अपनी स्थानीय पहचान बनायी। राजस्थान के ख्यालों में वीरगाथाओं और प्रेमकथाओं को प्रधानता दी गई तथा उनमें लोक-धुनों, लोक-गीतों का भरपूर समावेश किया गया। जिसके कारण 'ख्याल' परम्परागत पौराणिक आख्यानों से परिपूर्ण नाटकों से अपनी अलग पहचान बना सके। यह उल्लेखनीय है कि स्वांग गायकी ने भी ख्याल विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

हरियाणा -पंजाब में 'स्वांग' का विकास भी इसी काल में हुआ, जिन पर प्राचीन वीर एवं प्रेमगाथाओं का प्रभाव पड़ा। कैप्टेन टेम्प्ले ने सीलादाई, राजा गोपीचंद, राजा नल, गुरु गूगा आदि स्वांगों का विवरण 'दी लिजेण्ड ऑफ पंजाब' में दिया है। (1884 ए.डी.) इन स्वांगों का प्रदर्शन ब्राह्मण नटों द्वारा किया जाता था। राजा रसालू की गाथा का कथानक स्वांग में बहुत प्रसिद्ध और लोकप्रिय हुआ।

कश्मीर में कर्नाटक से आये हुए कुछ गायकों को वहाँ के नवाब अलीशाह एवं हसन शाह के दरबार में संरक्षण प्राप्त हुआ। इन गायकों द्वारा प्रस्तुत कर्नाटक संगीत की राग-रागिनियाँ कश्मीर में पहुँचकर 'मुकाम' शैली के रूप में स्थापित हुईं और उन्हें खूब लोकप्रियता प्राप्त हुई। उन्हीं दिनों सदफ नाम का एक भांड कश्मीर में आ पहुँचा और उसने भांड पर्थ नामक लोकनाट्य-विधा का विकास किया, जो आज भी 'भांड जश्न' के नाम से प्रसिद्ध है।

लोक-नाट्य का वर्तमान युग सन् 1800 ईस्वी के बाद से आरंभ हुआ माना जाता है। वर्तमान समय में नाट्य की जो शैलियाँ हमें दिखाई पड़ती हैं। उनकी पृष्ठभूमि अठारहवीं सदी एवं उसके पूर्व ही बन चुकी थी। जमींदारों एवं मालगुजारों से संरक्षण मिलने के कारण नाट्य मण्डलियाँ एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करने लगीं और स्थान-स्थान पर जाकर नाट्य प्रदर्शन करने लगीं। रामलीला और रासलीला की मण्डलियाँ अयोध्या, काशी, मथुरा, वृंदावन आदि स्थानों से सम्पूर्ण उत्तर भारत में प्रदर्शन हेतु जाने लगीं। इन मण्डलियों को जमींदार, मालगुजार तथा श्रेष्ठि वर्ग का संरक्षण प्राप्त था। इनके सम्पर्क में आकर अनेक क्षेत्रों में क्षेत्रीय मण्डलियाँ भी विकसित हुईं, जिन्होंने अवधी एवं बृजभाषा के

साथ-साथ क्षेत्रीय भाषाओं का भी समावेश पदों एवं संवादों में किया। छत्तीसगढ़ की 'रहस लीला' बृज की रासलीला के प्रभाव से उत्पन्न हुई एक विशिष्ट लोकनाट्य-विधा है, जिसमें छत्तीसगढ़ की संस्कृति के रंग भी घुल-मिल गये हैं।

इस दौर में पाश्चात्य प्रभाव के कारण नई नाट्य-शैलियों के प्रयोग भी होने लगे। बंगाल की जात्रा में पाश्चात्य-शैली के प्रयोग अपनाकर नई प्रस्तुतियाँ की जाने लगी। बम्बई में पारसी थियेटर का आरंभ हुआ। लखनऊ में पाश्चात्य-शैली में इंदर सभा का प्रयोग स्वांग और रासलीला के प्रदर्शन में किया गया।

वर्तमान युग में लोकनाट्य में नई रचनाएँ भी हुईं तथा नई विषय-वस्तु के समावेश के परिणाम स्वरूप लोकनाट्य शैली अधिक व्यापक एवं प्रभावशील बन पड़ी है। इस युग की सामाजिक चेतना को भी लोक मंच ने आत्मसात किया है। जमींदारों और सत्ताधारियों के अत्याचार से प्रताड़ित जनता की भावनाओं को राजस्थान के ख्याल, मालवा के माच और गुजरात के भवई में मार्मिक कथा प्रसंगों द्वारा प्रतिबिम्बित किया जाने लगा। बिहार के विदेशिया, हिमाचल के करियाला तथा छत्तीसगढ़ के नाचा आदि लोकनाट्यों के माध्यम से सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध भी विषय-वस्तु की प्रस्तुतियाँ की गईं। दो पत्नियों के पति या उड़ाऊ शराबी कृषक, जो कर्ज में डूबकर बरबाद हो जाता है... आदि विषयों पर छत्तीसगढ़ की नाचा शैली में नाटकों की रचना की गई। राजस्थान में 'ख्याल' के माध्यम से देहेज-प्रथा तथा बाल-विवाह आदि पर कटाक्षपूर्ण टिप्पणियाँ की गईं।

लोक-नाट्य हमारे देश की सांस्कृतिक सहिष्णुता तथा बहुविधता की उपज है। इसके कारण उनमें धर्म-निरपेक्षता का तत्त्व भी बहुत प्रबल है तथा वे सामुदायिक भावना के जबरदस्त उदाहरण हैं। ख्याल, स्वांग, माच, नौटंकी और नाचा के न केवल कलाकार भिन्न-भिन्न जातियों से इनमें सम्मिलित हुए हैं, वरन् इनके कथानकों के अनेक नायक भी इन्हीं समुदायों से लिए गये हैं।

वर्तमान युग में शिक्षित वर्ग का सम्बन्ध हमारी परम्पराओं से बहुत अधिक कट गया है। आज देश का शिक्षित वर्ग, जिसके हाथों में सांस्कृतिक चेतना का नेतृत्व है, वह पश्चिमोन्मुख हो गया है तथा अपनी कला-परम्परा की उपेक्षा कर, उनसे कटता

जा रहा है। लोकमंच की उपेक्षा कर हमने आधुनिकता के नाम पर जिस पाश्चात्य-शैली को अपना लिया है, वह नागर-शैली एक छोटे से प्रबुद्ध वर्ग की शैली बनकर रह गई है, जिसका दर्शक वर्ग लगभग नहीं के बराबर है। दर्शक वर्ग तो हम पीछे लोकनाट्यों की दुनिया में छोड़ आए हैं और उधार की नाट्य-शैली को हमारे परम्पराशील दर्शक ने लगभग अस्वीकार कर दिया है। परम्पराशील नाट्य शैलियाँ मध्ययुगीन धार्मिक वातावरण में विकसित हुई थीं, जिन्होंने हमारे जनमानस का एक लम्बे समय तक नैतिक-शिक्षण का पूर्ण उत्तरदायित्व के साथ निर्वाह किया है। ऐसी परम्पराशील सांस्कृतिक रूप से सम्पन्न एवं कलात्मक-शैली की शिक्षित मध्य वर्ग द्वारा उपेक्षा किये जाने के कारण उसका सांस्कृतिक रूप से विचलित (डिवेसमेंट) होना ही कहा जा सकता है। नई नागर संस्कृति और नागर वर्ग के विकास ने ग्राम्य संस्कृति और ग्राम्य समाज के प्रति तिरस्कार की भावना को बढ़ावा दिया है, जिसके परिणाम स्वरूप लोक-संस्कृति उपेक्षित होती जा रही है।

गत दो हजार वर्षों की सांस्कृतिक परम्परा के सूत्र हमारी परम्पराशील लोकनाट्य परम्परा में आज भी यत्र-तत्र सुरक्षित हैं। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम उन्हें पहचान कर अंगीकार करें। उधार का रंगमंच नागर जनों के अहम् की तुष्टि तो कर सकता है, किन्तु व्यापक जनाधार नहीं बना सकता और न ही ऊपर से जड़ों तक उतर सकता है। देश का व्यापक दर्शक वर्ग इस उधार की संस्कृति को कभी भी अंगीकार नहीं करेगा, हमें अपनी जड़ों की ओर वापस लौटना ही पड़ेगा। भारत में आधुनिक नाटक लोकनाट्यों की आधारशिला पर खड़ा किया जा सकता है।

## माच

उत्तर भारत के अनेक नाट्य स्वरूपों में विशेष रूप से हिन्दी क्षेत्र में प्रचलित नाट्य स्वरूपों में जो एक समान तत्त्व पाया जाता है, उनका समान उद्भव मूल। जिन अधिकांश नाट्य स्वरूपों का उद्भव 'संगीत' परम्परा से हुआ है, उनमें नौटंकी, स्वांग, ख्याल, सांग और माच प्रमुख हैं। ये सभी नाट्य स्वरूप एक ही शैली वर्ग के हैं। इन सबका उद्भव संगीत परम्परा से हुआ है और इन्हें अपने-अपने क्षेत्र की लोक परम्पराओं, क्षेत्रीय गुणों,

रंगों एवं सांस्कृतिक तत्त्वों को आत्मसात कर देशज शैलियों को विकसित कर अलग-अलग पहचान स्थापित कर ली है। इन क्षेत्रीय प्रभावों के परिणाम स्वरूप ही इन सभी नाट्य स्वरूपों के नामकरण भी स्थानीय प्रभाव से हुए हैं और सभी एक दूसरे से भिन्न हैं।

मालवा क्षेत्र राजस्थान का पड़ोसी है और इन दोनों क्षेत्रों में अनेक बातें समान हैं। यहाँ तक की मालवा की भाषा भी राजस्थानी भाषा से अत्यधिक मिलती-जुलती है। राजस्थान और मालवा के अनेक तीज-त्योहार, खान-पान और सांस्कृतिक परम्पराएँ भी एक समान हैं। माच नाट्य ख्याल विधा से ही हुआ है और इसी कारण से माच के उद्भव के आरम्भिक काल में इसे ख्याल-माच कहा जाता था। यहाँ तक कि अठारहवीं शताब्दी के अंत में और उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभिक काल में चित्तौड़ में भी लोक-नाट्य के लिए ख्याल-माच शब्द प्रचलित था। माच की आरंभिक पाण्डुलिपियाँ भी ख्याल-माच के रूप में लिखी गईं और इसी नाम से उनका प्रकाशन भी हुआ।

'माच' शब्द संस्कृत भाषा के मंच का अपभ्रंश रूप है, जो रंगमंच के पर्याय रूप में स्थापित हो चुका है। अतः वे नाटक जो मंच पर अभिनीत किए जाते हैं, वे सब माच है। यद्यपि माच का उद्भव एवं प्रारंभिक विकास प्राचीन नगर उज्जैन में हुआ था, परन्तु इसका मूलतत्त्व ग्रामीण कृषक समाज से ही अनुप्रेरित है। मालवा के ग्रामीणजन और आंशिक रूप में अर्ध नागरजन 'माच' को अपने मनोरंजन का एक प्रमुख साधन मानते हैं। जॉन मेलकम नामक अंग्रेज अधिकारी ने अपनी 'मेमायर्स ऑफ सेंट्रल इण्डिया' नामक संस्करण ग्रंथ में बालूबा नामक एक ब्राह्मण द्वारा प्रस्तुत किए गए एक माच का उल्लेख किया है। यह घटना उन्नीसवीं शताब्दी की है और संस्मरण भी उसी काल में लिखा गया था। बालूबा ने उस प्रदर्शन में न सिर्फ गणेश, शिव और दशावतार की ही प्रस्तुतियाँ की थीं, वरन् उसने जिले के तात्कालिक बड़े अधिकारी की भी नकल संयमित ढंग से हास्य एवं व्यंग्यपूर्ण शैली में प्रस्तुत की थी। उस प्रस्तुति में कुछ कटाक्ष भी अधिकारी एवं ग्राम पटेल के आचरण पर किए गए थे।

उस नाटक में ग्राम पटेल को अपना काम -धाम छोड़कर जिला अधिकारी की चापलूसी में पूरी तरह संलग्न दर्शाया गया

था, जिसे अंत में उसी अधिकारी से अपमानित होना पड़ा। उक्त माच अपने समय में दर्शकों में अत्यंत लोकप्रिय माना जाता था। दर्शक उस नाटक में किए गए कटाक्ष पर ठहाके लगाते थे।

माच नाट्य स्वरूप के उद्भव के पूर्व मालवा क्षेत्र में भी तुरा-कलंगी, ख्याल गायिकी एवं नाट्य दोनों ही रूपों में प्रचलित थे। मराठों के शासन काल में लावणी गायिकी और तुरा-कलंगी मालवा क्षेत्र में भी स्थापित होकर लोकप्रिय बन चुके थे। अठारहवीं शताब्दी तक दिल्ली की मुगल सल्तनत शक्तिहीन हो चुकी थी, जिसके परिणाम स्वरूप राजपूताना के रजवाड़ों को अपनी क्षेत्रीय कलाओं एवं दस्तकारियों को प्रोत्साहित करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। अठारहवीं सदी के इस काल को कला एवं शिल्प के उन्नयन के पुनर्जागरण का काल कहा जा सकता है।

चित्तौड़ के घोसुड़ा में इसी काल में तुरा-कलंगी गायिकी की शैली का प्रचलन हुआ। तुरा-कलंगी गायिकी के अखाड़ों की ही प्रेरणा से ख्याल-माच नाट्य स्वरूप का विकास घोसुड़ा में सर्वप्रथम परिलक्षित हुआ। किशनगढ़ के कला प्रेमी राजाओं ने अन्य कलाओं की भाँति ही तुरा-कलंगी गायकों एवं ख्याल नाट्यकारों को उदारतापूर्वक प्रश्रय एवं प्रोत्साहन प्रदान किया। ख्याल के उन्नयन ने पड़ोसी क्षेत्र मालवा को भी प्रभावित किया, जहाँ मराठा शासन के अधीन लावणी गायिकी और गम्मत के मनोरंजन प्रधान प्रहसन पहले ही दर्शकों में लोकप्रिय बन चुके थे। राजस्थान का ख्याल माच मालवा की गम्मत एवं लावणी जैसी लोकप्रिय विधाओं के सम्पर्क में आकर और अधिक समृद्ध हुआ। लावणी विधा जो गायिकी एवं अभिनय में समृद्ध थी और गम्मत विधा जो प्रहसन, नकल एवं हास्य तत्त्वों में समृद्ध थी दोनों ने मिलकर ख्याल माच को अत्यधिक प्रभावित किया। इस भाँति माच ने इन सभी स्थानीय एवं लोक तत्त्वों को आत्मसात कर एक स्वतंत्र नाट्य स्वरूप में अपनी पहचान स्थापित की।

माच आंदोलन के आरंभिक काल की एक प्रसिद्ध एवं दिलचस्प घटना का उल्लेख करना यहाँ प्रासंगिक होगा। उज्जैन में गुरु गोपालजी की माच मण्डली की बड़ी ख्याति थी। वे मेवाड़ से उज्जैन आए थे। वे भागसीपुरा में माच प्रस्तुतियाँ किया करते थे। रामकथा, भक्त ध्रुव, कृष्ण चरित्र और भक्त प्रहलाद उनके प्रमुख ख्याल-माच थे, जिन्हें वे सन् 1830 के आसपास खेला

करते थे। श्री बालमुकुन्द, सुखराम यतिजी उज्जैन के निवासी थे। वे एक दिन गुरु गोपालजी द्वारा प्रस्तुत ख्याल-माच देखने हेतु भीड़ अधिक होने के कारण मंच पर ही जाकर बैठ गए तो उन्हें मंच से उठा दिया गया। किसी ने उन पर कटाक्ष भी किया कि इतना ही ख्याल देखने का शौक है, तो अपनी ही एक माच मण्डली क्यों नहीं बना लेते। इस व्यवहार से अपमानित होकर जब वे वापस लौट रहे थे, तो सेठ मुकुन्दलाल ने बालमुकुन्दजी के समक्ष प्रस्ताव रखा कि वे एक माच मण्डली का गठन करें और उसके लिए जितना भी धन आवश्यक होगा, उसे वे सहर्ष प्रदान करेंगे। सेठ मुकुन्दलाल एवं यतिजी की प्रेरणा और आर्थिक सहयोग से प्रेरित होकर बालमुकुन्दजी ने एक नई माच मण्डली का गठन किया। सन् अठारह सौ पचास के आसपास ढोलामारू की प्रेमगाथा पर आधारित ठेठ मालवी बोली का माच उस मण्डली ने पहली बार प्रस्तुत किया। ठेठ मालवी भाषा में होने के कारण वह प्रस्तुति अत्यंत सफल रही।

उस नाटक की प्रस्तुति के बाद तो बालमुकुन्द-गुरु बालमुकुन्द कहलाने लगे। उसके बाद तो उन्होंने एक के बाद दूसरा-तीसरा माच लिखकर लगभग एक दर्जन से भी अधिक नाटकों की रचना की। इनमें राजा भर्तृहरि का माच, राजा हरिश्चंद्र का माच, नागाजी-ददूजी, सुध-बुध सालंगा, कृष्णलीला, रासलीला, शिवलीला, कुंवर खेमसिंह, देवर-भौजाई, सेठ-सेठानी, हीर-रांझा, चरण बंजारा और खेल रावत सिंह अत्यंत प्रसिद्ध हुए। इन सब खेलों की सफलता का प्रमुख कारण उनका ठेठ मालवी भाषा में प्रस्तुत किया जाना था। मालवी एक अत्यंत मीठी भाषा है और उसके मुहावरों एवं चुटीले संवादों में हास्य एवं व्यंग्य के सृजन की स्वभाविक क्षमता पाई जाती है। गुरु बालमुकुन्द स्वयं ही इन नाटकों का निर्देशन करते थे। इन नाटकों की जबरदस्त सफलता ने मालवा के क्षेत्र में माच का एक आंदोलन ही खड़ा कर दिया। बालमुकुन्दजी की सफलता से प्रेरणा ग्रहण कर अनेक माच मण्डलियों का गठन किया गया। मंदसौर, रतलाम, शाजापुर, देवास, धार तथा अन्य छोटे-छोटे कस्बों में अनेक माच मंडलियाँ बन गईं और माच का विस्तार ग्रामीण अंचलों तक पहुँच गया।

गुरु बालमुकुन्द को ग्वालियर नरेश महाराजा सिंधिया ने माच प्रस्तुति हेतु आमंत्रित किया। मध्य-भारत के छोटे-बड़े अनेक राजा-महाराजाओं ने माच को उदारतापूर्वक आश्रय प्रदान कर

प्रोत्साहित किया। इन राजाओं में इन्दौर के महाराज होल्कर, जावरा के नवाब, इन्दौर के रईस सर सेठ हुकुमचंद तथा अन्य सामन्त एवं जागीरदार सम्मिलित थे। गुरु बालमुकुन्द की सफलता से प्रेरित होकर उस्ताद भगतराम, उस्ताद गूजरमल, भैरोंलाल एवं अन्य अनेक लोगों ने अपनी-अपनी माच मण्डलियाँ ग्वालियर रियासत में भी बना डालीं।

ग्वालियर क्षेत्र में चूँकि नौटंकी का प्रचलन पहले से ही था, इसलिए उसके मुकाबिले में माच वहाँ जम नहीं पाया। नौटंकी के नगाड़ों का फड़कता हुआ संगीत, भड़कीले रेशमी जरीदार परिधान, भव्य एवं आकर्षक मंच सज्जा के सामने माच को ढोलकी का मध्यम संगीत, ग्रामीण एवं दैन्य वेशभूषा तथा साधारण रंगमंच एकदम फीके पड़ गए और परम्परागत नौटंकी का दर्शक उसे अपना नहीं पाया। ग्वालियर की अपनी नाट्य विधा वैसे भी नौटंकी ही थी। परन्तु मालवा में माच ने एक क्षेत्रीय नाट्य स्वरूप के रूप में अपनी जड़े जमा लीं। किंवदंती के अनुसार गुरु बालमुकुन्दजी का निधन अपने अंतिम माच की प्रस्तुति करते समय मंच पर ही हो गया था। गेंदापुरी का खेल उनका अंतिम माच था और मंच पर प्राण त्याग कर उन्होंने अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया। किसी भी नाट्य निर्देशक के जीवन में मृत्यु का ऐसा क्षण उसके जीवन का महानतम अवसर माना जाएगा।

गुरु गोपाल एवं गुरु बालमुकुन्दजी मालवा में माच के प्रवर्तक माने जाते हैं। इस परम्परा को जिन अन्य समकालीन गुरुओं ने समृद्ध एवं पुष्ट किया, उनमें गुरु राधाकिशन, गुरु कालूराम और गुरु भैरोंलाल का नाम प्रमुख है। इन माच गुरुओं के परिवार एवं मंडलियाँ अखाड़े कहलाती हैं और उनके जीवन काल में स्थापित ये अखाड़े आज भी सक्रिय हैं। माच के पूर्व तुरा-कलंगी के दलों द्वारा भी अपने लिए अखाड़े नाम का ही सम्बोधन किया जाता था। चूँकि ख्याल-माच की पृष्ठभूमि में कहीं न कहीं ये अखाड़े एक सौ से अधिक माच मण्डलियों में बटे हुए हैं। जो सम्पूर्ण मालवा क्षेत्र में फैले हुए हैं। माच का प्रमुख केन्द्र आज भी उज्जैन ही माना जाता है।

दौलतगंज अखाड़े के गुरु कालूराम ने भी लगभग एक दर्जन नाटक लिखे, जिनमें हीरा-मोती, राजारिसालू, धौलकुमार, सुल्ताना डाकू, सेठ रूपसेन का माच, जान-ए-आलम, मधुमालती,

इन्द्रसभा और महाराणा प्रताप अत्यधिक प्रसिद्ध हुए। गुरु राधा किशनजी ने सम्मत सिंह का माच, दरियाव सिंह का खेल, फूल कुंवर और लीलावती नामक माच लिखा। गुरु भैरोंलाल ने भी बहुत से माच लिखे, जिनमें 'मदन सेन का माच' 'चालम कुंवर', 'खेम सिंह' और सिंहासन बत्तीसी अत्यंत सफल एवं लोकप्रिय हुए।

गुरु राधा किशन अखाड़े के गुरु श्री सिद्धेश्वरसेन हुए, जिन्होंने बीस से भी अधिक माच की रचना की। इनके अनेक नाटक सामाजिक कुरीतियों पर भी हैं। वर्तमान युग की समस्याओं को भी सिद्धेश्वर जी ने अपने नाटकों का विषय बनाया। परिवार नियोजन, भू-दान आंदोलन और छूआछूत जैसे विषयों पर माच लिखकर श्री सेन ने सामाजिक चेतना से माच की धारा को जोड़ा है। श्री सिद्धेश्वर सेन अपने समय के सर्वाधिक प्रसिद्ध और सम्मानित माच गुरु थे।

### माच प्रस्तुति

माच की प्रस्तुतियों में कुछ तत्त्व देशी, कुछ तत्त्व मार्गी पाए जाते हैं। नाट्य के आरंभ में प्रस्तुत की जाने वाली गणेश वंदना मार्गी परम्परा के पूर्व रंग की ही छाया है, जो परम्परागत रूप से इस लोकनाट्य में आ गई है। इसी प्रकार मंच सज्जा, वेशभूषा एवं श्रृंगार तथा अंगराग आदि में नाट्य की प्रस्तुति से सम्बन्धित सभी बातों में देशी-मार्गी दोनों के ही तत्त्व समान रूप से विद्यमान हैं।

नाट्य प्रस्तुति के कम से कम एक पखवाड़े पूर्व ही माच के खम्ब की स्थापना की जाती है। नगर, कस्बे या ग्राम में जहाँ माच प्रस्तुत किया जाने वाला है, वहाँ उचित स्थान का चुनाव कर खम्ब गाड़ दिया जाता है, जो काष्ठ का बना होता है। आम के पत्तों की तोरण, सूखा धनिया, हल्दी गुड़, कुमकुम, लाल वस्त्र मौली आदि पूजन सामग्री एक थाल में रखकर माच गुरु सभी कलाकारों एवं आयोजनों के साथ माच खम्ब (स्तम्भ) की पूजा करते हैं। पूजा के पूरे समय तक ढोलक बजाई जाती है, जिसे शुभ मुहूर्त में मांगलिक माना जाता है। माच का खम्ब स्थापित होते ही सर्वत्र इस बात का प्रचार हो जाता है, कि माच का आयोजन अमुक तिथि से होने वाला है।

मंच भूमि से डेढ़ से तीन फीट ऊँचा उठाकर बनाया जाता है। मंच चौकोर आकृति में निर्मित होता है, जिसके चारों कोनों पर चार मजबूत बल्लियाँ भूमि में गाड़कर खड़ी की जाती हैं। मंच की ऊँचाई दस-बारह फुट होती है और चारों बल्लियों के शीर्ष भाग पर एक सफेद चादर बाँधकर चंदोबा तान दिया जाता है। माच का मंच कभी-कभी दो मंजिला और किसी-किसी नाटक में तीन मंजिला का भी होता है। ऐसे मंच की बनावट राजस्थानी मिनियेचर चित्रों की भाँति होती है, जिनमें भवन के अंदर एवं बाहर के क्रियाकलापों के दृश्यों को एक साथ दर्शाया जाता है। जॉन मेलकम ने उज्जैन के समीप किसी स्थान पर उन्नीसवीं सदी में ऐसे एक मंच को स्वयं देखा था, जिसका उल्लेख उन्होंने अपने ग्रंथ में किया है। कस्बे के चौराहे पर उस मंच का निर्माण किया गया है और तीन खम्ब के खेल की संज्ञा दी गई थी। उस माच की सतह वाली मंजिल पर कुछ लोगों को चौपड़ खेलते हुए प्रस्तुत किया गया था। पहली मंजिल पर एक नर्तक को नृत्य करते हुए दिखाया गया था और सबसे ऊपर वाली मंजिल पर कुछ लोग ताशपत्ती खेलते हुए प्रस्तुत किए गए थे। मंच के बहुमंजिले निर्माण की यह पद्धति एवं तकनीक भी राजस्थानी के ख्याल नाट्य से अपनाई गई है।

मंच की सजा हेतु आम के पत्तों की तोरण, फूल-माला, रंग-बिरंगे कागजों से बनी तोरण आदि वस्तुएँ उपयोग में लाई जाती हैं। मंच लगभग बीस से पच्चीस फुट चौड़ा और उतना ही लम्बा होता है, परन्तु आवश्यकतानुसार उसे बढ़ाया या घटाया जा सकता है। मंच चारों ओर से खुला और सामान्यतया पूर्व दिशा की ओर उसका सामना होता है।

मंच की व्यवस्था हेतु मंच के दोनों ओर दो-दो पाट और सामने वेदी के चार खम्बे खड़े किए जाते हैं। चार खम्ब के निकट सोलह युवक, एक जमादार, एक थानेदार और एक बादशाह बैठते हैं। यह व्यवस्था माच की शोभा वृद्धि हेतु की जाती है। मंच की पृष्ठभूमि में दो पाट होते हैं, पहला पाट टेक का पाट कहलाता है और दूसरा पाट होते हैं। टेक के पाट पर कुछ गायक कलाकार विराजमान होते हैं, जो मुख्य कलाकार या गायक द्वारा गाए या पद्य संवादों के अंश एवं टेक को दुहराते हैं। इस क्रिया को टेक झेलना कहते हैं।

माच के एक पार्श्व के कोने में गुरू का आसन भी बना होता है, परन्तु उस पर कोई बैठता नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह व्यवस्था किन्हीं नाट्यधर्मी मार्गी नियमों के अनुरूप परम्परा से चली आ रही है। मंच के एक ओर माच के कुछ नये-पुराने अनुभवी जन बैठते हैं। ये लोग माच के सभी क्षेत्रों में पारंगत होते हैं और माच का अवलोकन करने के साथ-साथ उसके दोषों की ओर कलाकारों का ध्यान आकर्षित करते हैं।

माच की प्रकाश व्यवस्था हेतु मंच के तीन कोनों में तीन खम्बों पर मशालें लगाई जाती हैं। आजकल विद्युत प्रकाश अधिकांश स्थानों पर उपलब्ध हो जाता है। अतः विद्युत के लट्टू जलाकर मंच को प्रकाशित किया जाता है। जहाँ बिजली नहीं पहुँची है, वहाँ पेट्रोमैक्स के प्रकाश में माच प्रस्तुतियाँ की जाती हैं। कुछ माच मण्डलियों के पास अपने विद्युत जनरेटर यंत्र भी है। मंच यद्यपि चारों ओर से खुला होता है, परन्तु दर्शक तीन ओर ही बैठते हैं। पीछे का भाग कलाकारों के विश्राम करने और वस्त्र आदि बदलने हेतु सुरक्षित रखा जाता है।

माच मंच पर संगतकार एक ओर कोने में बैठते हैं। वाद्यों में ढोलक, हारमोनियम और सारंगी प्रमुख वाद्य हैं। नौटंकी, ख्याल और स्वांग सदृश्य अन्य लोकनाट्यों में ढोलक के स्थान पर नगाड़ों का प्रयोग होता है, नगाड़ों के कारण ही उनके संगीत का स्वर ऊँचे स्तर पर प्रस्तुत किया जाता है। माच की सफलता एक सीमा तक तो ढोलकिये की दक्षता पर निर्भर होती है। ढोलकिया जितना निपुण होगा, वह दर्शक को उतना ही अधिक बाँधे रख सकेगा। चूँकि माच का प्रदर्शन सम्पूर्ण रात्रि तक चलता है। अतः ढोलकिया को सम्पूर्ण आयोजन में चुस्त एवं सक्रिय बना रहना होता है। ढोलकिया की भाँति ही सारंगी वादक को भी अपने वाद्य पर पूर्ण रूप से अधिकार प्राप्त होना चाहिए। गायकों द्वारा गाए सभी पदों को सारंगी पर बजाकर दुहराया जाता है। सारंगी अपने विशेष गुणों के कारण ही उत्तर भारत के लगभग सभी लोक-नाट्यों का अभिन्न अंग बन गई है। हारमोनियम के प्रचलन के पूर्व तक स्वर साधन का यह अनिवार्य वाद्य थी।

माच की वेशभूषा रंग-बिरंगी और आकर्षक होती है। पात्रों के वस्त्र रंग-बिरंगी सिल्क, साटिन एवं मखमल के वस्त्रों से बनाए जाते हैं, जिन पर जरी के गोटे, किनारी एवं सल्में-सितारों

का काम किया जाता है। आज से लगभग तीस-चालीस वर्ष पूर्व तक उपयोग में लाए जाने वाले मोटे-किनारी चाँदी तारों की बनी होती थी। पात्रों की वेशभूषा मध्ययुग में विकसित मुगल दरबार एवं राजपूत दरबार की वेशभूषा के अनुकरण द्वारा ही अपनाई गई है। कोटनुमा ऊपरी वस्त्र, जामा, चूड़ीदार पायजामा आदि परिधान पुरुष पात्रों द्वारा धारण किए जाते हैं। स्त्री पात्र साटिन के रंगीन कलीदार घाघरे व चूनड़ी और रेशमी पोलके धारण करते हैं। उच्चवर्गीय पात्र कमर में भी जरी-गोटों से सजाए हुए होते हैं। सिर पर सभी पात्र चरित्र की हैसियत के अनुकूल साफे व चीरे धारण करते हैं। राजा महाराजाओं के पात्र का अभिनय करने वाले कलाकार कीमती रेशमी के साफे धारण करते थे, जिन्हें मोतियों की लड़ियों तथा अन्य आभूषणों से सजाया जाता है। राजा तथा योद्धा पात्र सदैव अपने हाथों में तलवार लिए प्रस्तुत होते हैं, जो लाल-नीली मखमल के क्यानों में बंद होती है। ये सुमरनियाँ मानिक मोती या चन्द्रमणियों की बनी होती हैं। पुराने जमाने में ये सब आभूषण स्थानीय जौहरियों द्वारा प्रदान किए जाते थे, परन्तु आजकल उनके मूल्यवान हो जाने के कारण उपरतों के बने आभूषणों से काम चलाया जाता है।

स्त्री पात्र घाघरे, कुचली और ओढ़नी धारण करती है। ये सब वस्त्र साटिन, रेशम आदि के बने होते हैं। इन पर चाँदी के गोटी-किनारी एवं सल्में सितारों का काम किया जाता है। आजकल चाँदी के स्थान पर सस्ती धातुओं के बने गोटे भी बनने लगे हैं। वेशभूषा में आकर्षक, रंगीन एवं चमकदार भड़कीले वस्त्रों का प्रचलन अधिक पाया जाता है। बिजली एवं पेट्रोमेक्स के अविर्भाव के पूर्व मशालों के मद्धिम प्रकाश में खेल-तमाशे प्रस्तुत किए जाने के कारण ऐसे वस्त्रों का प्रचलन लोकनाट्य में हुआ था। प्रकाश की कमी के कारण उत्पन्न धुंध के प्रभाव को ऐसी वेशभूषा से काफी हद तक दूर किया जा सकता था। लहंगों के नीचे चूड़ीदार पायजामों पहनने का रिवाज है। नृत्य करते समय घेरदार लहंगे ऊपर उठ जाते हैं। अतः पैरों में सभी कलाकार चाहे वे स्त्री हों या पुरुष पैजामा पहनते हैं। स्त्री पात्रों के चेहरे चुनरी या ओढ़नी से ढके होते हैं।

शेरमार खाँ, और दीवान की वेशभूषा तुलनात्मक दृष्टि से अन्य पात्रों के मुकाबले साधारण स्तर की एवं सादगी लिए हुए होती है। सिर पर रंगीन साफे, अचकन, जामें तथा चूड़ीदार पैजामे

में वेशभूषा में ये ही प्रमुख वस्त्र का प्रचलन है, जो पात्र की हैसियत के अनुरूप मूल्यवान वस्त्रों के बने होते हैं।

पात्रों की रूप सजा हेतु स्थानीय रूप से उपलब्ध सामग्री का ही उपयोग किया जाता है। सफेद संगीरे का चूर्ण, आटा पिस्सी हुई हल्दी, कुमकुम एवं भोडर चूर्ण आदि वस्तुओं का उपयोग किया जाता है। चेहरे पर पहले सफेद रंग चढ़ाकर फिर गालों व ओठों पर लालिमा लगाई जाती है। आँखों में काजल लगाया जाता है। भौवों पर भी गहरा काजल लगाकर उन्हें गाढ़ा और लम्बा बनाया जाता है, जिसके कारण पात्र प्रभावशाली लगने लगते हैं।

राजा, मंत्री एवं भद्रलोक के पात्र चेहरे पर पीले एवं लालिमायुक्त रंगों का प्रयोग करते हैं, जिनके ऊपर भोडर चूर्ण चिपका कर पात्रों को आभामय बनाया जाता है। स्त्री का अभिनय करने वाले कलाकार नकली बाल व काले रेशमी धागों की बनी चोटियाँ व फीते इस्तेमाल करते हैं। पुरुष कलाकार नकली दाढ़ी-मूँछों का प्रयोग करते हैं। कभी-कभी काले रंग से रंगकर भी मूँछे बनाई जाती हैं।

माच में सभी पात्र पुरुष होते हैं और स्त्री-पात्रों का अभिनय भी पुरुष-पात्रों द्वारा सम्पन्न किया जाता है। ये कलाकार किसी विशेष वर्ग या जाति के न होकर सभी वर्गों एवं जातियों के होते हैं, जो माच में अपनी रूचि के कारण मंडली से जुड़ते हैं। इस मायने में माच नाट्य एक जनतांत्रिक एवं धर्मनिरपेक्ष मंच माना जा सकता है। मंच के विभिन्न पहलुओं पर माच गुरु कलाकारों को प्रशिक्षण देते हैं और उन्हें नृत्य एवं अभिनय की बारीकियाँ समझाते हैं। माच के अभ्यास के दौरान ही प्रशिक्षण कार्य भी चलता रहता है। माच गुरु ही बहुधा मंडली के संयोजक, व्यवस्थापक एवं निर्देशक भी होते हैं।

माच प्रस्तुति के समय माच के कलाकार एवं पुराने वयोवृद्ध कलाकार व नाट्य के प्रति अत्यधिक उत्साही लोग मंच के समीप बैठते हैं और नाट्य प्रस्तुतियाँ देख-देखकर तथा आपस में उसके विभिन्न आयामों पर विचार-विमर्श करके माच में दक्षता प्राप्त करते हैं। गुरु सम्भावनाशील किशोरवय के लड़कों को नृत्य हेतु चुनते हैं जिन्हें प्रशिक्षित करते हैं।

माच का आरंभ पूर्व रंगानुसार होता है, जिसमें सर्वप्रथम फर्राश एवं भिश्ती प्रवेश करते हैं। फर्राश मंच पर झाड़ू मारकर सफाई करता है और भिश्ती पानी डालकर उसे धोता है। इसके उपरांत गणपति का प्रवेश होता है। गणपति के स्वरूप में पात्र को लाल रंग के वस्त्र पहनाए जाते हैं, जो लाल रंग की धोती एवं उसी वर्ण का दुपट्टा कंधों पर धारण किए होते हैं। चेहरे पर कागज की लुग्दी का बना हुआ गणेश मुखौटा पहनाया जाता है, जिसकी लम्बी सूँड होती है। यह मुखौटा भी लाल रंग से रंगा हुआ होता है, जिस पर कलात्मक अलंकरण किए होते हैं। गणपति का उदर अत्यधिक बढ़ा हुआ दिखाया जाता है। गणपति के अगल-बगल दो पात्र होते हैं, जो उन्हें सम्मान पूर्वक मंच पर लाकर बीचों-बीच प्रतिष्ठित करते हैं। तत्पश्चात् माच गुरु के साथ सभी कलाकार एवं संगीतकार भी मंच पर प्रवेश करते और गणेशजी को प्रणाम कर दर्शकों की ओर मुख करके गणपति वंदना करते हैं। गणपति वंदना के उपरांत देवी सरस्वती या वाग्देवी की आराधना की जाती है, जो विद्या एवं बुद्धि की देवी है। तत्पश्चात् अन्य देवी-देवताओं की स्तुति की जाती है, जिनमें भैरव, भवानी, बजरंगबली एवं कुछ स्थानीय देवी-देवता तथा ग्राम-देवता सम्मिलित होते हैं, जिसे माच के पूर्वरंग में भी महत्त्वपूर्ण स्थान मिला हुआ है।

पूर्वरंग के उपरांत पुनः माच गुरु मंच पर प्रवेश करते हैं और वे दर्शकों की ओर अभिमुख होकर उस रात्रि में प्रस्तुत किए जाने वाले नाटक की घोषणा करते हैं। इस घोषणा के पूर्व तक दर्शक अटकल ही लगाते रहते हैं कि कौन-सा खेल प्रस्तुत किया जा सकता है। गुरु या निर्देशक आरंभ में 'बोल' प्रस्तुत करते हैं, जिसके माध्यम से वे दर्शकों को अपना परिचय देते हैं। इस पद को आगे बढ़ाते हुए वे प्रस्तुत किए जाने वाले नाटक के बारे में भी दर्शकों को आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण जानकारी प्रदान करते हैं। नाटक रात्रि में लगभग दस बजे आरंभ होता है और रात्रि के बारह बजे तक पूर्वरंग की ही प्रस्तुति चलती है। माच के संवाद अधिकतर पद्यबद्ध होते हैं। बीच-बीच में प्रसंग को आगे बढ़ाने हेतु गद्य का भी सहारा लिया जाता है। अधिकांश गानों की बंदिशें मालवा की लोक-धुनों पर बाँधी जाती हैं। मालवा की परम्परागत लोक-धुने अत्यंत मधुर हैं और दर्शक उनसे भलीभाँति परिचित हैं। माच के गुरुओं की मान्यता है कि ये धुनें अपने आपमें समृद्ध हैं और उनमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन करना अनुचित होगा। इन परम्परागत

राग-रागिनियों को छोटी रंगत, बड़ी रंगत, इकहरी रंगत दोहरी रंगत, राजे की रंगत, रंगत झेलकी, कारवाड़ी रंगत और रंगत हुलूर आदि नामों से जाना जाता है।

माच नाटकों की अधिकांश पाण्डुलिपियाँ हस्तलिखित हैं। यद्यपि अब उनमें से कुछ छप भी गई हैं। प्रत्येक कलाकार को अपनी भूमिका पूरी तरह कंठस्थ होती है। यद्यपि पाण्डुलिपियों को संगीतज्ञों के समीप मंच पर एक चौकी पर रखने की परम्परा अवश्य है, परन्तु ऐसे अवसर शायद ही कभी आते हों, जिनमें कलाकारों को 'प्राम्पटिंग' की आवश्यकता पड़ती हो।

माच नाट्य में शेरमार खाँ एक महत्त्वपूर्ण चरित्र है, जो संस्कृत नाटकों के पात्र सूत्रधार के सदृश्य ही होता है। वह माच विधा के सभी पक्षों में प्रवीण होता है और समय-समय पर वह अपने रोचक अभिनय एवं चुटीले संवादों के जरिये नाटक को जीवन्त बनाये रखता है। वह अपने नाट्य कौशल एवं सशक्त अभिनय पक्ष के माध्यम से न सिर्फ नाटक को गति प्रदान करता है, वरन् त्वरित हास्य उत्पन्न कर दर्शकों का मनोरंजन भी करता है। वह माच का विदूषक तो होता ही है, परन्तु साथ ही वह नायक का विश्वास पात्र भी होता है जो अधिकांश समय मंच पर विद्यमान रहते हुए नाटक को आगे बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण योगदान करता है।

माच में नायक को सदैव तलवार हाथ में लिए हुए प्रस्तुत किया जाता है। इसी भाँति अन्य विशिष्ट पात्रों को भी तलवार लिए ही दर्शाया जाता है। ये तलवारें रंग-बिरंगे मखमल के म्यानों में सावधानीपूर्वक रखी जाती हैं। जब कभी कोई पात्र थक कर विश्राम करना चाहता है तो वह अपनी तलवार मंच पर ही दूसरे कलाकार को सौंप देता है, जिसका तात्पर्य यह होता है कि जब तक वह तलवार उसके पास रहेगी, उस पात्र का अभिनय यह नया कलाकार करेगा, जिसने तलवार ग्रहण की है। माच की इस प्रथा को तलवार सौंपना कहते हैं। माच में इस तरह पात्र बदलना अत्यंत स्वाभाविक माना जाता है, और दर्शक भी इसे सहज रूप में स्वीकार करते हैं। चूँकि सभी पात्र नाट्य-विधा के सभी क्षेत्रों में प्रवीण एवं दक्ष होते हैं, अतः नाटक की स्वाभाविक गति एवं प्रस्तुतीकरण में कोई विशेष अंतर दिखाई नहीं पड़ता है।

माच में नृत्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है और सभी नृत्य तीव्र गति में प्रस्तुत किए जाते हैं। नर्तक चूँकि इन नृत्यों की प्रस्तुतियों



में पुरुषोचित्त ओजस्विता का समावेश सामान्य गुण ही माना जाता है। नृत्य में ढोलकिये और नर्तक के बीच अनेक बार प्रतिस्पर्धा होने लगती है और वे एक से बढ़कर एक टुकड़े प्रस्तुत करने लगते हैं। इस प्रतिस्पर्धा में ढोलक पर ऐसे-ऐसे तोड़े प्रस्तुत किए जाते हैं, जिससे दर्शक वाह-वाह कर उठता है। यदि नृत्य की ओजस्विता से कभी तखत टूट जाये अथवा ढोलक का चमड़ा फट जाये तो नर्तक और ढोलकिया दर्शकों की वाहवाही लूटने में कामयाब हो जाते हैं। दर्शक प्रसन्न होकर नोटों की बौछार करने लगते हैं और दर्शक अनेक वर्षों तक अपने संस्मरणों में ऐसी प्रस्तुतियों का बखान कर रोमांचित हो उठते हैं।

माच नाटकों के अधिकांश कथानक पौराणिक आख्यानों या मध्य युगीन प्रेम-गाथाओं पर आधारित हैं। ये प्रेम-गाथाएँ मध्ययुगीन सूफी संतों और घुमन्तू गायकों ने सम्पूर्ण भारत में एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाकर फैलायी थी। सूफी संतों की दृष्टि में ये प्रेम-गाथाएँ अटूट मानवीय करुणा एवं संवेदना के स्रोत हैं और उन्होंने मानवता के संदेश के रूप में इन गाथाओं को प्रचारित किया था। इसी भाँति मध्य-युग के वैष्णव संतों द्वारा भागवत धर्म के प्रचार हेतु गायी जाने वाली गाथाओं को नाट्यों के निर्देशकों द्वारा अपनाकर नाट्यरूप में परिवर्तन कर ली गई है। सम्पूर्ण भारत में लोकधर्मी नाट्य के क्षेत्र में यह प्रवृत्ति परिलक्षित हुई, जिसके माध्यम से भागवत भावना का प्रचार-प्रसार हुआ। राजा गोपीचंद्र, राजा भर्तृहरि, सत्यवादी हरिश्चन्द्र, भक्त प्रह्लाद, भक्त ध्रुव, भक्त श्रवण कुमार आदि ऐसी ही गाथाएँ थी, जिनका नाट्य रूपान्तरण हुआ।

माच के कुछ नाटक स्थानीय योद्धाओं एवं लोक-नायकों के चरित्रों पर भी केन्द्रित हैं। तेजाजी की कथा एक ऐसे ही लोक-नायक के चरित्र पर केन्द्रित नाटक है। तेजाजी की कथा राजस्थान और मालवा दोनों ही प्रदेशों में मिलती है। राजस्थान के ख्याल और मालवा के माच दोनों में ही इस कथा का नाट्य रूपांतरण हुआ है। तेजाजी ने गरीब एवं सर्वसाधारण जनों की सेवा में अपने प्राण न्योछावर कर दिए थे।

माच का मंच मूलरूप से पुरुष प्रधान रहा है और माच का आरंभिक विकास माच गुरुओं की आपसी प्रतिस्पर्धा स्वरूप ही सम्भव हुआ था। अतः सफलता प्राप्त करने के उद्देश्य से उसमें

उत्तेजक एवं कामुक संवाद आदि तत्त्वों को अत्यधिक महत्त्व दिए जाने के परिणामस्वरूप माच का दर्शक मूलतः पुरुषवर्ग ही बनकर रह गया। स्त्रियों का माच देखना लगभग वर्जित जैसा था। आज भी माच के प्रदर्शन में स्त्रियों की संख्या लगभग नगण्य ही होती है।

वर्तमान युग में माच गुरुओं ने कुछ नए प्रयोग किए हैं और समसामयिक समस्याओं को आधार बनाकर माच लिखे हैं। परिवार नियोजन, भूदान यज्ञ एवं छुआछूत जैसे विषयों पर माचगुरु श्री सिद्धेश्वर सेन ने नए माच लिखे हैं। बंशी कौल ने शूद्रक के संस्कृत नाटक 'मृच्छकटिक' का मालवी रूपान्तरण 'गारा की गाड़ी' माच-शैली में प्रस्तुत किया। माच की प्रस्तुतियों में कुछ स्त्री कलाकारों का भी समावेश किया गया है। परन्तु उसे दर्शकों की प्रशंसा नहीं मिल पाई। परम्परागत प्रमुख माच निर्देशकों का ऐसा मानना है कि ऐसे प्रयोगों की पृष्ठभूमि में माच विधा को समृद्ध एवं पुष्ट करने की भावना का अभाव है। व्यवसायिक सफलता या वाहवाही के लिए किए जाने वाले ऐसे प्रयोगधर्मी माच नाटकों को दर्शक (परम्परागत) स्वीकार कर पायेंगे, यह शंकास्पद है। माच के परंपरा से कटकर कुंठित होने का खतरा भी इन प्रयोगों में कुछ माच गुरुओं को महसूस होता है।

माच लगभग दो सौ वर्ष पुराना नाट्य स्वरूप है। यद्यपि माच भी संगीत परम्परा से ही उद्भूत हुआ है, जिससे नौटंकी - स्वांग एवं ख्याल लोकनाट्य शैलियों का विकास हुआ। माच-शैली ने भी इन सभी शैलियों की भाँति ही मालवा के स्थानीय तत्त्वों को आत्मसात कर अपना एक निजी स्वरूप एवं स्वतंत्र अस्तित्व बना लिया है। विभिन्न अखाड़ों में बंटी हुई माच की एक सौ के लगभग मण्डलियों और एक सौ से भी अधिक माच नाटकों के अस्तित्व में होने का संरक्षण तो मिला ही हुआ है। इसी के परिणामस्वरूप माच नाट्य मालवा के दर्शकों के मनोरंजन का सबसे प्रमुख माध्यम बना हुआ है।

## नाचा

भारतवर्ष के मध्यवर्ती क्षेत्र में अनेक लोकनाट्य स्वरूप विद्यमान हैं। नाट्य का उद्भव यहाँ के अत्यन्त आदिम कबीलों में भी हुआ है। बस्तर के माडिया-गोंडों का गौर नृत्य अत्यन्त भव्य

होता है, जिसे वे गौर बाइसन के सीगों से निर्मित मुकुट को धारण करके प्रस्तुत करते हैं। इस नृत्य में अत्यन्त सूक्ष्म अभिनय एवं मुद्राएँ कौशलपूर्ण ढंग से गूँथी गई हैं। घोटुल मुरिया जनजाति का 'माओपाटा' अपने आपमें पूर्ण विकसित नृत्य-नाट्य है। छेर-छेरा और नकटा-नकटी प्रहसन भी हास्य-नाट्य प्रस्तुतियाँ ही मानी जायेंगी। बस्तर का परम्पराशील नाट्य भतरा नाट, भतरा जनजाति में व्यापक रूप से प्रचलित है।

छत्तीसगढ़ के मैदानी क्षेत्र में दो पूर्ण विकसित नाट्य स्वरूप विद्यमान हैं- एक रहस और दूसरा नाचा। रहस भगवान कृष्ण के बाल्य स्वरूप पर केन्द्रित एक परम्पराशील नाट्य-विधा है। छत्तीसगढ़ का दूसरा नाट्य स्वरूप नाचा एक सर्वजातीय रंग विधा है, जिसका उद्भव एवं विकास ग्रामीण समाज में हुआ है तथा उसमें अनेक परम्परागत विधाओं ने सम्मिलित होकर उसे समृद्ध किया है। रहस रासलीला का छत्तीसगढ़ी नाट्य संस्कार है और नाचा गम्मत, नौटंकी, स्वांग आदि नाट्य स्वरूपों की तरह ही ग्रामीण संस्कारों में विकसित एक नाट्य स्वरूप है। यहाँ तक स्पष्ट कर देना उचित होगा कि नाचा का उद्भव और विकास भिन्न परम्पराओं एवं परिवेश में हुआ है और वे संगीत परम्परा से उद्भूत रंग-स्वरूपों स्वांग, नौटंकी, ख्याल और माच आदि से सर्वथा भिन्न हैं। नाचा का पूर्ण रूप से ग्रामीण परिवेश में विकास हुआ है, जबकि उपरोक्त लिखित नाट्य विधाएँ ग्रामीण एवं शहरी दोनों के मिले-जुले योगदान द्वारा विकसित हुईं। नाचा के विकास में नागरजनों का योगदान नगण्य ही कहा जाएगा।

नाचा का एक पूर्ण विकसित नाट्य स्वरूप बहुत प्राचीन नहीं है। मराठों के इस क्षेत्र पर आधिपत्य स्थापित करने के पश्चात् यहाँ इस नाट्य-विधा का उद्भव हुआ। भीमाजीराव भोंसले ने उड़ीसा पर आक्रमण करते समय मार्ग में पड़ने वाली कलचुरि रियासत रतनपुर पर भी विजय प्राप्त कर ली और परिणामस्वरूप छत्तीसगढ़ क्षेत्र पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। इस क्षेत्र में मराठों ने बिलासपुर एवं रायपुर में अपने प्रशासनिक अधिकारी नियुक्त किये। मराठा सरदारों एवं उनके ब्राह्मण अमीनों को मालगुजारियाँ प्रदान की गईं। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में मराठों एवं महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों की एक बड़ी संख्या छत्तीसगढ़ में आकर बस गई। आक्रमणकारी मराठा सेना के साथ उनके मनोरंजन करने वाले विभिन्न समुदाय जिनमें नाचने-गाने

वाले कलाकार एवं हास्य, गम्मत जैसे प्रहसन करने वाले लोग भी सम्मिलित थे।

गम्मत शब्द का मराठी में अर्थ 'हास्य-विनोद' के रूप में किया जाता है। मराठों की सेना में ये गम्मतिये सेना के अफसरों एवं सैनिकों का मनोरंजन हास्य एवं नृत्य-प्रधान प्रहसनों द्वारा किया करते थे। इन कलाकारों में नृत्य प्रदर्शन लड़कियाँ करती थी, जबकि गम्मत (नाट्य) की प्रस्तुति पुरुष कलाकारों द्वारा की जाती थी। इस तरह से आरंभ में गम्मत एवं कालान्तर में इसी स्वरूप का विकास तमाशा के रूप में मराठा राज्य में हुआ। गम्मत में स्त्री-पात्र की प्रस्तुति भी पुरुष कलाकारों द्वारा अभिनीत की जाती थी, जो स्त्रियों के वस्त्र धारण कर स्त्रियोचित हाव-भाव प्रस्तुत करते थे। गम्मत कायह पात्र 'नाच्या' कहलाता था। छत्तीसगढ़ी नाचा का विकास भी गम्मत से ही हुआ और गम्मत के इस 'नाच्या' पात्र के आधार पर ही छत्तीसगढ़ी गम्मत के विकसित नाट्य स्वरूप का नामकरण नाचा के रूप में पड़ा। नाचा में गम्मत का स्थान आज भी अत्यंत महत्वपूर्ण है, जिसकी प्रस्तुति नाट्य के बीच-बीच में हास्य-प्रहसन के रूप में की जाती है, तो कभी प्रमुख नाट्य को आगे बढ़ाने एवं अगले दृश्य की तैयारी करने के लिए कलाकारों को समय उपलब्ध कराने हेतु। ऐसा प्रतीत होता है कि नाचा का आरंभिक स्वरूप भी गम्मत ही रहा होगा, जो कालान्तर में नाचा के रूप में एक पूर्ण विकसित नाट्य-विधा के रूप में प्रचलित हुआ।

नाचा नाट्य स्वरूप को विकसित करने में गाण्डा जाति के संगीतकारों ने भी अहम् भूमिका निभायी है। गाण्डा जाति छत्तीसगढ़ की एक पिछड़ी जाति है जो ग्रामीण-क्षेत्र में शादी-विवाह एवं अन्य उत्सवों के अवसरों पर ग्रामीण संगीत बैण्ड के रूप में काम करती है। आज से लगभग 20-25 वर्ष पूर्व तक छत्तीसगढ़ के ग्रामीण अंचलों में बारातें तीन-तीन, चार-चार दिन तक ठहरा करती थीं, सम्पूर्ण विवाह सम्पन्न होने में कई दिन लग जाते थे। ऐसे अवसरों पर गाण्डा जाति के ये संगीतकार भी बारातों के साथ ठहरते थे। विश्राम के समय बरातियों के मनोरंजन हेतु गम्मत प्रस्तुत किया करते थे। इन बैण्ड-पार्टियों में एक व्यक्ति ढपड़ा, एक या दो व्यक्ति निशान (नगाड़े), एक व्यक्ति मोहरी बजाने वाला तथा एक व्यक्ति टिमकी वादक होता था। इस बैण्ड मण्डली में एक या दो नचकार भी हुआ करते थे। ये नचकार सदैव ही

पुरुष कलाकार होते थे, जो स्त्रीवेश धारणकर नृत्य एवं स्त्रियोचित भंगिमाएँ प्रस्तुत करते थे। गाण्डा जाति की इन बैण्ड मंडलियों का उपरोक्त स्वरूप आज भी छत्तीसगढ़ के ग्रामीण अंचल में विद्यमान है।

इन विवाहोत्सव में बारातियों के पास काफी खाली समय होता है। ग्रामीण परिवेश की शुष्कता में यह स्वाभाविक ही है कि किसी गाँव में लगातार कई दिनों तक ठहरने पर ऊब महसूस हो, ऐसी स्थिति में ये नचकार अपने हास्य-प्रधान अभिनय एवं नृत्यों के माध्यम से इन बारातियों का मनोरंजन करते हैं। ये नचकार वर एवं वधू पक्ष के प्रमुख व्यक्तियों की नकल उतारने में बड़े माहिर हैं। इन नकलों में अतिरंजना एवं हाव-भाव में अश्लीलता का पुट भी भारतीय ग्रामीण परिवेश में कोई अटपटी बात नहीं मानी जाती। नचकार सामान्यतः स्त्रियों की भाव-भंगिमाओं की अतिरंजित प्रस्तुतियाँ दिखाकर लोगों का मनोरंजन करते हैं। इस तरह की प्रस्तुतियों के लिए उन्हें ग्रामीणों से पुरस्कार व बख्शीश भी मिलती है। यह परम्परा अत्यंत पुरानी है, तथा वर्तमान में भी ग्रामीण क्षेत्र की शादियों में प्रचलित है। यदि किसी बैण्ड पार्टी में दो नचकार होते हैं। तो उनमें से पुरुष एवं दूसरा स्त्री का वेश धारण कर प्रहसन करते हैं। इस तरह की प्रस्तुतियों में नकल, चेहरे के हाव-भाव तथा ग्रामीणोचित परिहास का स्थान अत्यंत प्रमुख होता है। नाचा के आरंभिक विकास में इन गाण्डा नर्तकों ने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है और इन नचकारों एवं बजैइयों ने नाचा को अपने योगदान से समृद्ध किया है।

नाचा का संगठन अत्यंत सरल है। नाचा में रूचि रखने वाला कोई भी व्यक्ति अपनी पहल पर ऐसे कुछ ग्रामीणों को जिनकी रूचि प्रस्तुतियों में हो, जुटाकर एक मंडली का गठन कर लेता है। इनमें कुछ लोग वाद्य एवं संगीत में निपुण होते हैं और कुछ लोग अभिनय में। कुछ ऐसे कलाकार होते हैं, जो नाट्य के सभी अंगों पर समान अधिकार रखते हैं। ऐसा संयोजक ही मंडली के बन जाने पर उसका मुखिया बन जाता है। मण्डली के गठन पर होने वाले आरंभिक खर्च हेतु ये कलाकार आपस में ही धन एकत्रित कर लेते हैं और कुछ धन ग्रामीणों से सहयोग के रूप में मिल जाता है।

नाट्य की प्रस्तुतियों का ढंग एवं शैली अत्यंत सरल होती

है। मंडली के सभी कलाकार एक साथ बैठ जाते हैं तथा कोई ऐसा विषय नाट्य हेतु उठा लेते हैं जो ज्वलंत सामाजिक बुराई के रूप में उन्हें महत्वपूर्ण प्रतीत होता हो। वे तुरन्त उस विषय पर कार्य आरंभ कर देते हैं। नाचा के इन नाटकों का न तो कोई लिखित आलेख होता है और न ही नाट्य-विधा के अनुसार अलग-अलग दृश्य एवं कलाकारों के संवाद। यह सब कार्य के अपने नाट्य कौशल के जरिये अत्यंत कम समय में और बिना किसी कठिनाई के विकसित कर लेते हैं। प्रत्येक नाट्य प्रस्तुति में नाट्य के विभिन्न आयाम परिपक्व होते जाते हैं। प्रत्येक प्रस्तुति में समयानुकूल स्वविवेक से रद्दोबदल चलती रहती है और यही कारण है कि नाचा में एक ही खेल की प्रस्तुतियाँ सदैव कुछ परिवर्तन लिये हुए होती हैं। नाचा मूलतः एक हास्य-प्रधान नाट्य-विधा है, जिसमें ग्रामीण कलाकार अपनी तात्कालिक समस्याओं, सामाजिक बुराईयों एवं समाजिक विसंगतियों के खोखलेपन को उजाकर करते हैं। आरंभ में स्त्री एवं पुरुष दोनों ही पात्रों का अभिनय पुरुष कलाकारों द्वारा प्रस्तुत किया जाता था। आज भी अनेक गम्मत मंडलियों में यह परम्परा कायम है। लगभग तीस वर्षों पूर्व से कुछ लड़कियों ने भी नाचा में काम करना शुरू किया है। स्त्री पात्रों के अभिनय हेतु विशेषकर नृत्य प्रस्तुतियों के लिए कुछ स्त्री कलाकार नाचा में सम्मिलित होने लगी और उससे नाचा में एक नया आयाम जुड़ा।

बीसवीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों में चूँकि नाचा मनोरंजन का एक महत्वपूर्ण साधन बन चुका था, इसलिए कुछ मालगुजार इस नाट्य-विधा की ओर आकर्षित हुए। छत्तीसगढ़ के ग्रामीण अंचल के ये सम्पन्न मालगुजार अपने यहाँ शादी-विवाह, पुत्र जन्म आदि उत्सवों पर देवार युवतियों को नाचने हेतु बुलाते थे। इन नर्तकियों को गाँव के मेले-मड़ाई में भी आमंत्रित किया जाता था।

इन मालगुजारों में भी बड़े जमींदारों एवं राजा-महाराजाओं की हँसोन्मुख प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होने लगी थी। कुछ सम्पन्न मालगुजार बड़े जमींदारों की नकल कर लखनऊ, बनारस एवं कलकत्ते से मुजरा करने के लिए नर्तकियों को बुलाने लगे थे। जो लोग बाहर से इन नाचने वाली लड़कियों को नहीं बुला पाते थे, वे इस काम के लिए देवार जाति की लड़कियों को आमंत्रित करते थे। गरीबी के कारण आर्थिक रूप से विपन्न देवार जाति की ये

लड़कियाँ भी बाहर से आने वाली नर्तकियों की शैली पर मुजरा करने लगी। इस तरह से देवार कन्याओं एवं मालगुजारों में एक सम्बन्ध स्थापित हो गया था। जब कुछ प्रबुद्ध मालगुजारों की रूचि नाचा की ओर आकर्षित हुई, तब लोगों ने इन देवार कन्याओं को नाचा में सम्मिलित होने के लिए प्रेरित किया।

नाचा अपने आपमें एक सम्पूर्ण नाट्य-शैली है, जबकि गम्मत उसका एक हास्य-प्रधान प्रहसन स्वरूप, जो नाचा का पूरक है। भारतवर्ष के सभी लोक-नाट्यों में नृत्य एवं हास्य-प्रहसनों का प्रयोग प्रमुख नाट्य की ऊब एवं एकरसता को भंग करने के लिए किया जाता है। इसके साथ ही इस तरह के प्रहसनों का प्रयोग दृश्य परिवर्तन एवं नाट्य के प्रमुख कलाकारों को अगले अंक की तैयारी हेतु समय देने के लिये किया जाता है। नाचा में भी इस तरह का परिवर्तन दो प्रकार के प्रयोगों द्वारा अपनाया जाता है- एक पूर्णतः हास्य गम्मत का प्रदर्शन करके और दूसरा जोक्कड़ परी की प्रस्तुतियों के माध्यम से। गम्मतों का कथानक भोले-भाले ग्रामीणों के अज्ञान एवं दुनियादारी के प्रति उनके दहकानीपन को लोकनाट्य रूप में विकसित किया जाता है। इस तरह के छोटे-छोटे प्रहसनों में उन ग्रामीणजनों पर भी कटाक्ष किया जाता है, जो भोले-भाले को ठगकर नागरजनों के साथ जुड़ जाते हैं। ऐसे लोग दोनों ही समाजों में उपहास के पात्र बन जाते हैं, क्योंकि वे ग्रामीणों से तो कट ही जाते हैं और नगर समाज भी उन्हें आसानी से अपने बीच आत्मसात नहीं करता। इन गम्मतों के माध्यम से ग्रामीण कलाकार अपने दैनंदिन जीवन की विसंगतियों एवं समस्याओं पर सहज हास्य एवं व्यंग्यपूर्ण कटाक्ष एवं टिप्पणियाँ करते चलते हैं। किसी अन्य व्यक्ति पर हँसना एक सामान्य बात है, किन्तु स्वयं अपना उपहास करने में बड़े साहस की आवश्यकता होती है। अपनी आर्थिक रूप से विपन्न एवं कठोर परिस्थितियों में भी भारतीय ग्रामीण जन अपने सूक्ष्म हास्य बोध के कारण अपने पर भी हँसने में सक्षम हैं। यही कारण है कि भारतीय ग्रामीण तमाम विपरीत परिस्थितियों के बीच भी दृढ़तापूर्वक डटा हुआ है।

जोक्कड़परी की प्रस्तुतियों में एक सुन्दर युवक को परी के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। नाचा में परी की अवधारणा परीकथाओं की परी से सर्वथा भिन्न है, जिनमें परियों की अलौकिक दुनिया की सुन्दर स्त्रियों के रूप में दर्शाया जाता है और जिनके पंख होते

हैं, जिनकी सहायता से वे उड़कर एक लोक से दूसरे लोक में यात्रा करती हैं। यहाँ परी एक सुंदर, सुमुखी एवं मानवीय गुणों की प्रतीक है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि नाचा में स्त्री पात्रों का अभिनय स्त्रियाँ ही करने लगी है, लेकिन जोक्कड़परी प्रसंग में परी लड़का ही बनता है।

जोक्कड़ बहुधा संख्या में दो होते हैं और वे अपने हाथों में जलती हुई मशालें लेकर मंच पर प्रवेश करते हैं। उनके पीछे-पीछे संगतकार वादकगण मंच पर प्रवेश करते हैं, और मंच के बायीं ओर के कोने पर स्थान ग्रहण करते हैं। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना यथोचित होगा कि नाचा का जोक्कड़ सर्कस के जोकर या अंग्रेजी नाटक के क्लाउन अथवा संस्कृत नाट्य के विदूषक के सदृश्य नहीं है। नाचा का जोक्कड़ मनोरंजक प्रस्तुतियाँ तो करता ही है, परन्तु साथ ही वह स्वयं नृत्य एवं गान में दक्ष होता है। हास्य एवं विनोद से सराबोर एक अत्यंत जीवन्त चरित्र का प्रतीक बना रहता है। वह परी से इतने सहज और भोलेपन से बातें करता है कि प्रेक्षक उसके हर संवाद पर ठहाका लगाते हैं। परी प्रेक्षकों के बीच से प्रवेश करती है और उसका श्रृंगार अत्यंत सुरूचिपूर्ण किया जाता है और उसकी उपस्थिति अत्यंत आकर्षक बनी रहती है। वह सिर पर सदैव एक काँसे का लोटा लिए हुए प्रस्तुत होती है। और उसकी प्रत्येक चाल-ढाल व बातचीत नजाकत से भरी होती है। जोक्कड़ और परी की भोली-भाली अदाएँ एवं दहकानी ग्रामीण संवाद लगातार हास्य की सृष्टि करते हैं और उनसे नाट्य की विलक्षण स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। ठीक ऐसी ही स्थिति उत्पन्न होने पर दर्शक वृन्द एक ओर ठहाकों में डूब जाता है और दूसरी ओर दोनों मशालों को हाथ में लिए नृत्य करने लगते हैं। परी भी लोटे को एक हाथ से संभालते हुए तेज गति से नाचने लगती है। आजकल अनेक गाँवों में बिजली की रोशनी उपलब्ध हो गयी है, और जहाँ बिजली नहीं पहुँची है, वहाँ भी मशालों की जगह गैसबत्ती उपयोग में लायी जाती है, किन्तु फिर भी जोक्कड़ अपनी आदत के अनुसार हाथों में डण्डे लिए हुए इस तरह नृत्य करते हैं मानों कि वे मशालें थामें हुए हों। इस तरह जोक्कड़ और परी के सूक्ष्म हास्यबोध की प्रस्तुतियों के द्वारा दर्शक लगातार ठहाके लगाते हैं। यद्यपि यह हास्य बाह्य रूप में अत्यंत सहज प्रतीत होता है।

गत पच्चीस वर्षों में मुझे रायपुर, दुर्ग एवं बिलासपुर जिलों

में अनेक नाचा प्रस्तुतियाँ देखने का सुअवसर मिला है। ये सभी नाटक सामाजिक समस्याओं एवं विसंगतियों पर केन्द्रित हैं। इनमें दो पत्नी वाले व्यक्ति की दुर्दशा का प्रस्तुतीकरण पीपल की पत्तियों की उपमा से किया गया है, जो हवा के जरा से झोंके से कांपने लगती है। या ग्रामीण किसान के ऐसे भोले-भाले बेटे की कहानी प्रस्तुत की जाती है, जिसका मित्र उसे पापाचार की ओर धकेलता है और इस दुष्कृत्य के परिणाम स्वरूप स्वयं कोढ़ी हो जाता है। कोढ़, उस बिगड़े हुए व्यक्ति द्वारा एक भोले-भाले युवक को व्यभिचार की ओर प्रेरित करने के पाप की सजा के रूप में दर्शाया गया है। 'भरम के भूत' नामक नाचा में अन्धविश्वास पर व्यंग्य पूर्ण कटाक्ष किये गए हैं और यह नाटक अद्योपान्त हास्य से परिपूर्ण है। 'पोंगा पंडित' नामक एक अन्य नाचा में एक अनपढ़ ब्राह्मण पुरोहित और एक भोले-भाले कृषक पुत्र का प्रस्तुतीकरण किया गया है। इस नाटक में अपने पिता की मृत्यु के उपरांत कृषक-पुत्र अपने पिता के श्राद्ध के अंत में सत्यनारायण की कथा करवाना चाहता है। इस कार्य को सम्पन्न करने हेतु उसे गाँव का एक अनपढ़ पंडित मिलता है। दोनों ही पात्र अपने अज्ञान एवं सरल ग्रामीण भोलेपान की प्रस्तुति कर हास्य का सृजन करते हैं। 'गाँव के नाम ससुराल, मोर नाम दामाद' नाटक भी सहज हास्य से ओत-प्रोत है। इस नाचा को हबीब तनवीर ने भी प्रस्तुत किया है। हबीब तनवीर ने संस्कृत-साहित्य के कुछ प्रमुख नाटकों का प्रस्तुतीकरण नाचा-शैली में किया है, जिनमें शूद्रक का नाटक 'मिट्टी की गाड़ी' अत्यंत सफल रहा है। उनके द्वारा कुछ आधुनिक नाटक भी नाचा शैली में प्रस्तुत किए गए हैं।

नाचा का उद्भव गम्मत के 'नाच्या' पात्र एवं गम्मत नाट्य स्वरूप से हुआ है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि उसमें गम्मत के अनेक तत्व आज भी पाये जाते हैं। इसके साथ ही नृत्य-प्रधान नाट्य स्वरूप होने के कारण पात्रों का मंच पर प्रवेश सामान्यतः नृत्य करते हुए ही प्रस्तुत किया जाता है। नाचा का मंच अत्यंत साधारण कोटि का होता है और ग्रामीण परिवेश में उपलब्ध किसी भी उपयुक्त स्थान को मंच की तरह काम में ले लेते हैं। गाँवों की चौपाल या किसी बड़े किसान के घर के सामने का चबूतरा या किसी बड़े घर-आँगन ऐसे किसी भी स्थान पर नाचा की प्रस्तुति आसानी से की जा सकती है। मंच के बायीं ओर संगतकार बैठते हैं और मंच की तीन दिशाओं में दर्शक वृन्द।

नाचा के मंच सज्जा में न तो पर्दों का ही प्रयोग किया जाता है और न ही पार्श्व (विंग्स) बनाये जाते हैं। नाचा पात्रों की वेशभूषा सामान्य ग्रामीणों जैसी ही होती है। पात्रों का मेकअप गाँवों में उपलब्ध सामान्य वस्तुओं से कम से कम खर्च में निपटाया जाता है। हल्दी, कुमकुम, सफेद छुई मिट्टी, संग जीरे के चूर्ण तथा कालिख आदि से कलाकारों की सज्जा की जाती है। चरित्रों के अनुरूप और कभी-कभी प्रभाव पैदा करने के लिये नकली जटा और दाढ़ी-मूँछों का भी प्रयोग किया जाता है। सज्जा में चेहरे पर काले या गुलाबी रंग, ओठों पर लिपिस्टिक और आँखों में गहरा काजल आदि लगाये जाते हैं।

मंच पर सर्वप्रथम नचकार एवं नजरिया (नृत्यांगना) का प्रवेश होता है। वे दोनों मिलकर विघ्न विनाशक भगवान गणपति की आराधना करते हैं। तत्पश्चात् विद्या की देवी सरस्वती की भी आराधना करते हैं। इसके बाद स्थानीय देवी-देवताओं की आराधना करके उनसे आयोजन सफल बनाने की प्रार्थना करते हैं। उन सभी प्रसंगों में नाट्य-शास्त्र के पूर्वरंग की छाया परिलक्षित होती है।

मैंने आरंभ में इस नाट्य स्वरूप को कृषक एवं ग्रामीण समाज का नाट्य स्वरूप कहा है। इस मान्यता के अनुरूप ही नाचा के अधिकांश नाट्यों की विषय-वस्तु ग्रामीण समस्याओं एवं जन-जीवन पर केन्द्रित है। नाचा में संलग्न अधिकांश कलाकार छोटे किसान या कृषि मजदूर हैं। चौमासा की ऋतु में ये सब कलाकार अपनी खेती-बाड़ी का काम देखते हैं या अन्य खेतों पर मजदूरी करते हैं। और फसल कटने के उपरांत वे अपने स्वयं के मनोरंजन हेतु एवं ग्रामीण जनता को मनोरंजन प्रदान करने के उद्देश्य से नाचा में जुट जाते हैं। इनकी आजीविका का आंशिक आधार उनकी छोटी-मोटी खेती बाड़ी है और आंशिक आधार नाचा की प्रस्तुतियाँ हैं। नाचा मण्डलियों को नाट्य प्रस्तुतियों हेतु गाँव की मेला-मड़इयों में, शादी-विवाह के अवसर पर और गणेश एवं दुर्गा उत्सव के अवसरों पर गाँव और कस्बों के लोग आमंत्रित करते हैं। इन प्रस्तुतियों के लिये इन्हें पारिश्रमिक मिलता है तथा गाँव के लोग उनकी यात्रा तथा भोजन आदि की भी व्यवस्था करते हैं।

गत पचास वर्षों में जिन प्रमुख कलाकारों ने अपनी प्रतिभा

और कौशल से नाचा का सम्बद्धन किया है, उनमें ठाकुर राम, लालूराम, मदन निषाद, रामलाल, द्वारका, भुलवाराम, अमरसिंह, फिदाबाई, किस्मत बाई, माला बाई, गोविन्दराम आदि सैकड़ों ग्रामीण एवं अशिक्षित कलाकारों के नाम लिये जा सकते हैं। दाऊ महासिंह चन्द्रकार एवं दाऊ रामचन्द्र देशमुख ने भी नाचा से जुड़कर उसके कलाकारों को संरक्षण प्रदान किया है। हबीब तनवीर, महासिंह चन्द्राकर, रामचन्द्र देशमुख एवं अनेक छोटे बड़े नाचा निर्देशकों ने कई प्रयोगशील नाट्य प्रस्तुतियाँ की हैं। मेरी राय में इस तरह के प्रयास से नाचा का स्वरूप अपनी मूल परम्परा से दूर ही हटा है। कई ऐसे प्रयोग तो लोक-नाट्यों के लिये अत्याधिक घातक भी सिद्ध हुए हैं। हाँ, यह अवश्य ही देखा गया है कि नाचा-शैली की क्षमता एवं संभावना का उपयोग जिन नाट्य निर्देशकों न आधुनिक नाटकों की प्रस्तुति के लिये अपनाया है, उससे वे लाभान्वित हुये हैं। कुछ नाचा के कलाकार नाचा-शैली से बाहर जाकर बड़े एवं समर्थ कलाकारों के रूप में अपनी प्रतिभा को प्रतिष्ठित कर सके हैं। द्वारका एवं फिदाबाई उसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

यद्यपि नाचा स्वरूप का इतिहास लगभग एक सौ वर्षों का ही है, किन्तु उसने बीसवीं शताब्दी के समक्ष पूर्ण विकसित नाट्य स्वरूप में ग्रामीण छत्तीसगढ़ अंचल में गहरी जड़ें जमा ली हैं। इसके किसी भी रूप में नगरीकरण को इसका परम्परागत दर्शक स्वीकार नहीं कर पाता। मेरे विचार में नाचा के लोक स्वरूप में किसी भी प्रकार का बाह्य हस्तक्षेप उसके लिये घातक ही साबित होगा। अतः उसे स्वस्फूर्त एवं उसकी आंतरिक क्षमता के माध्यम से ही पुष्ट होने देना चाहिए। इसी यात्रा से नाचा लोक नाट्य-शैली का सम्बद्धन संभावित है।

## तमाशा

तमाशा महाराष्ट्र की एक प्रमुख लोक नाट्य-विधा है। महाराष्ट्र के ग्रामीण अंचल का प्रमुख रूप से और अंशों में कस्बों एवं औद्योगिक नगरों का यह एक प्रमुख मनोरंजन प्रदान करने वाला साधन रहा है। सम्पूर्ण महाराष्ट्र में लगभग एक सौ पचास से भी अधिक तमाशा मंडलियाँ कार्यरत हैं, जिनमें लगभग पाँच हजार कलाकार संलग्न हैं। इनमें से अधिकांश कलाकारों की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं कही जा सकती, यद्यपि इनमें से कुछ

तमाशा मंडलियाँ अवश्य ही बेहतर हालत में हैं। जो तमाशा मंडलियाँ अच्छी स्थिति में हैं, उनमें से कुछ के पास उनके अपने तम्बू, यात्रा एवं सामान लाने ले जाने हेतु मोटर- गाड़ियाँ एवं प्रकाश व्यवस्था हेतु छोटे जनरेटर सेट भी हैं। ऐसी मंडलियाँ वर्ष में आठ से दस माह लगातार नाट्य प्रदर्शन करती हैं। परन्तु ऐसी सुविधा सम्पन्न मंडलियाँ संख्या में बहुत थोड़ी ही हैं। शेष मंडलियाँ आर्थिक दृष्टि से विपन्न हैं, और उन्हें जो भी संरक्षण प्राप्त है, वह उसके ग्रामीण दर्शकों से है।

तमाशा नाट्य के वर्तमान स्वरूप का उद्भव काल तो अठारहवीं शताब्दी को माना जा सकता है, किन्तु इस विधा के विकास में महाराष्ट्र एवं तंजापुर के ही अनेक पूर्ववर्ती कला स्वरूपों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। तमाशा के उद्भव के पूर्ववर्ती जिन अनेक स्वरूपों का उल्लेख मराठी-साहित्य में मिलता है, उनमें कीर्तनिया, गोंधला, पुराणिका, भारूड, ललित एवं दशावतार प्रमुख हैं। गम्मत तमाशा की एकदम पूर्ववर्ती नाट्य-विधा मानी जा सकती है, जिसकी आधार भूमि पर तमाशा-नाट्य का उद्भव एवं विकास हुआ है। तमाशा नामक ही एक नाट्य स्वरूप महाराष्ट्र के महादेव कोलियों में भी प्रचलित था, जिसका आयोजन वे वर्तमान समय में भी ढोल एवं झांझ-मंजीरों के साथ करते हैं। इस आयोजन में उनकी जाति के ही कलाकार सम्मिलित होते हैं। और इनका आयोजन शिवरात्रि के समय ही किया जाता है। महादेव कोलियों की तमाशा मंडली को उन्हीं की जाति के लोग अन्य गाँवों में नियन्त्रित करते हैं। नियंत्रण स्वरूप नारियल एवं सुपारी भेजते हैं, जिन्हें स्वीकार करने पर सहमति मानी जाती है। नाट्य प्रस्तुति का आरंभ 'गणों' के गायन से होता है जो विघ्न विनाशक गणपति की आराधना में गाये जाते हैं। शिवरात्रि, अक्षय तृतीया एवं पितृपक्ष के अवसर पर इन तमाशों का प्रदर्शन सारी-सारी रात चलता है। महादेव कोली हिरवा पूजा के अवसर पर गोंधर का भी आयोजन करते हैं।

तमाशा ग्रामीण महाराष्ट्र के मनोरंजन का महत्त्वपूर्ण साधन है। उत्सव एवं मेले इत्यादि के अवसर पर तमाशा का आयोजन सामान्य रूप से किया जाता है। कस्बों में भी अनेक स्थानों पर तमाशा आयोजित होते हैं। बड़े औद्योगिक नगरों का मजदूर बस्तियों में तमाशों का आयोजन विशेष आकर्षण रखता है। तमाशा की मंडली 'फड़' कहलाती है। फड़ का मुखिया सरदार या कड़िया

कहलाता है। यह मंडली का संचालक एवं निर्देशक दोनों ही होता है तथा ढफ अथवा चंग बजाता है।

तमाशा शब्द नाट्य का ही पर्यायवाची है, जो इसी रूप में यहाँ प्रयुक्त होता है। नाट्य स्वरूप के रूप में तमाशा सोलहवीं एवं सत्रहवीं शताब्दी में भी विद्यमान था, जिसका उल्लेख कबीरदास ने भी अपने एक पद में किया है-

*कथा होय तहं स्त्रोतों स्त्रोता सोचे, वक्ता मूंड पचाया रे।  
होय जहाँ कहीं स्वांग तमाशा, तनिक न नींद सताया रे।।*

इनके पूर्व भी मराठी साहित्य में संत ज्ञानेश्वर कृत 'ज्ञानेश्वर' में (सन् 1290 ईस्वी) में नट-नटी, कलसूत्री सूत्रधार आदि शब्दों का वर्णन मिलता है, जो नाट्य स्वरूपों के विद्यमान होने को स्पष्ट संकेत करते हैं। तमाशा शब्द फारसी का शब्द है जो मुस्लिम शासकों के साथ इस क्षेत्र में पहुँचा, ऐसा प्रतीत होता है। राम जोशी नामक प्रसिद्ध लोक-गायक ने तमाशा के वर्तमान स्वरूप को विकसित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। राम जोशी की लावणियाँ, तुरा-कलंगी व गायिकी का प्रमुख आधार बनी थी। कालान्तर में उसी शैली पर अनेक कवियों ने अपनी काव्य रचनाएँ कीं। ये सभी लावणीकार शाहिर कहलाए। 'शाहिर' शब्द शायर का ही अपभ्रंश है।

ऊपर तमाशा के पूर्ववर्ती स्वरूप के रूप में गम्मत का उल्लेख किया गया है। महाराष्ट्र के ग्रामीण क्षेत्रों में यह विधा मनोरंजन का प्रमुख साधन थी। मेलों-ठेलों तथा उत्सवों के अवसरों पर गम्मत का आयोजन होता था, जिसमें विभिन्न कार्यों का विभाजन सामाजिक एवं जातीय आधार पर किया हुआ था। अलग-अलग जातियों के बारह व्यक्ति मिलकर गम्मत या हास्य प्रहसन प्रस्तुत किया करते थे, जिसमें गाँव के ही संगीत वाद्य भी बजाते थे। स्त्री वेशभूषा में एक पुरुष कलाकार नृत्य प्रस्तुत करता है, जो 'नाच्या' कहलाता था। गाँव का कुलकर्णी या पाटील गम्मत पर होने वाले खर्च का प्रबन्ध करता था। मराठा राज के उत्थान के साथ-साथ तमाशा का भी उन्नयन हुआ। तमाशा लोकनाट्य के रूप में सुदूर प्रदेशों तक फैलने में ही नहीं सफल हुआ, वरन् उसने अनेक सुदूर प्रदेशों के कला तत्त्वों को भी अपने अंदर अपना लिया, जिसके परिणामस्वरूप वह एक ओर तो अपने परम्पराशील धार्मिक लोक-नाट्यों गोंधर एवं दशावतारों से काफी

विलग हो गया और दूसरी ओर उसने बाह्य एवं लोक-तत्त्वों को आत्मसात करके एक स्वतंत्र रूप धारण कर लिया।

अठारहवीं शताब्दी में पेशवाओं के शासन काल में तमाशा को अत्याधिक राजाश्रय मिला, जिसके परिणामस्वरूप वह चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया। मराठा सेनाओं के साथ सैनिकों के मनोरंजन हेतु गम्मत एवं नर्तकियों की मंडलियाँ भी साथ जाती थी। उत्तर भारत के सम्पर्क में आकर इन नर्तकियों ने कत्थक-शैली से मिलते-जुलते नृत्यों का विकास किया और उनका समावेश कालान्तर में गम्मत के माध्यम से तमाशा में सम्भव हुआ। इसी काल में तमाशा में सोंगड़या नामक एक नए पात्र को जोड़ा गया। यह नया पात्र संस्कृत नाटकों के विदूषक सदृश्य ही है। लावणी शाहिरों की रचनाओं का प्रयोग गम्मत में ससम्मान धड़ल्ले से होने लगा। राम जोशी आनंद फंदी, बालाजी, हीनाजी, सगनभाऊ आदि अनेक लावणीकारों ने अपने साहित्यिक योगदान से तमाशा का संवर्धन किया। इन शाहिरों की अधिकांश रचनाएँ श्रृंगारिक हुआ करती थी, जिसके परिणामस्वरूप मध्ययुगीन दर्शकों के बीच उन्हें लोकप्रियता सहज ही प्राप्त हो गई।

सोंगड़या (विदूषक) नामक पात्र भीलों के स्वांग नामक नाट्य स्वरूप में भी पाया जाता है। सोंगड़या का अर्थ है स्वांग करने वाला या स्वांग भरने वाला व्यक्ति। ऐसा प्रतीत होता है कि भील जनजाति के नाट्य स्वरूप से ही इस पात्र को ग्रहण किया गया है। क्योंकि भीलों के स्वांग दो पात्रीय ही होते हैं और वे सदैव हास्य-प्रधान ही होते हैं।

आरंभ में गम्मत में स्त्री-पात्र का अभिनय भी पुरुष कलाकारों द्वारा ही प्रस्तुत किया जाता था, जो 'नाच्या' कहलाता था। यह 'नाच्या' नृत्य प्रस्तुत करता था तथा विदूषक के साथ जवाब-सवाल शैली में नोंक-झोंक प्रस्तुत किया करता था। कालान्तर में नर्तकियों ने अपना लिया। कोल्हाटी जनजाति करतब दिखाने वाले कलाकारों की नटों सदृश्य एक अत्यंत प्राचीन घुमन्तू जाति है, जिनकी युवतियाँ सुन्दर, चपल एवं आकर्षक नाक-नकश वाली होती हैं। संगीत रत्नाकर में 'कोल्हाटि' के लक्षण का उल्लेख इस भाँति किया गया है-

*भारस्य भूयसो वोढा ओढो भ्रमरिका दिषु।  
रञ्जु संचार चतुर छुरिका नर्तने कृती।।*

-अध्याय 7, श्लोक - 1330-31

अर्थात् - बहुत भार उठाने में समर्थ, भ्रमरी आदि में प्रौढ़, रस्सी पर संचार में चतुर, छुरिया नर्तन करने वाला आदि कलाओं में पटु कोल्हाटि को माना जाता है।

आजकल कोल्हाटी नर्तकियाँ अपने सौंदर्य, आकर्षक सौष्ठव एवं चपल और फुरतीले द्रुतगामी नृत्यों के बल पर तमाशा नाट्य-विधा पर हावी हो गई हैं। नर्तकियाँ ही तमाशा की जान होती हैं। यहाँ तक कि कुछ प्रसिद्ध नर्तकियों ने तो अपने ही नाम से तमाशा मंडलियों का गठन कर लिया है।

तमाशा को भी भारत के अन्य अनेक नाट्य स्वरूपों की ही भाँति मध्यमवर्गीय समाज ने अश्लील मान रखा था। इसके दो प्रमुख कारण थे- पहला कारण तो यह था कि सैनिकों के मनोरंजन एवं लोकरंजन हेतु अधिकाधिक श्रृंगार-प्रधान लावणियों का तमाशों में समावेश तथा नर्तकियों के अभिनय में भी सस्ते एवं फूहड़ हाव-भाव का प्रदर्शन तथा दूसरा कारण था द्विज समाज पर मध्यकाल में मुस्लिम प्रभाव से उपजे नैतिकता सम्बन्धी मूल्यों का दबाव। साहित्य एवं कला रूपों पर अश्लीलता का आरोप बहुधा भारतीय संदर्भों से हटकर मुस्लिम प्रभाव से पैदा हुए बोध से ग्रसित जान पड़ता है। तमाशा के अधिकांश कलाकार अशिक्षित थे, अतः उनकी नाट्य प्रस्तुतियों में पूर्ववर्ती संस्कृत नाटकों जैसी कलात्मकता का अभाव स्वाभाविक घटना थी। आज भी तमाशा का दर्शक मूलतः पुरुष वर्ग ही है। यह दर्शक वर्ग ग्रामीण कृषक समुदाय तथा कस्बों और नगरों में काम करने वाले औद्योगिक श्रमिकों का है। तमाशा का आलेख 'वाग' कहलाता है। इन 'वागों' के कुछ आख्यान पुराण-कथाओं पर आधारित हैं, तो कुछ आख्यान लोक-कथाओं एवं गाथाओं पर। इन नाट्यों की प्रस्तुतियों में फंतासी शैली का प्रयोग किया जाता है। अनेक नाट्य प्रेमखानों पर भी तैयार किए गए हैं। नाट्य प्रस्तुतियों के माध्यम से समसामयिक विसंगतियों पर भी भरपूर कटाक्ष पूर्ण टिप्पणियाँ की जाती हैं। हास्य एवं व्यंग्य ही तमाशा की मूल प्रवृत्ति है। गाँव के पाटील, पटवारी, पुलिसवाले और राजनीतिक नेता कोई भी व्यक्ति इनके व्यंग्य भरे संवादों का निशाना बन सकता है। रोजमर्रे की समस्याएँ, भ्रष्टाचार एवं घूसखोरी पर कटाक्षपूर्ण टिप्पणियाँ इन तमाशों में सामान्य रूप से प्रस्तुत की जाती हैं, यद्यपि नाट्य के 'वाग' और उनके पात्र सामयिक जीवन के यथार्थवादी चरित्र

नहीं होते। ऐसी कटाक्षपूर्ण टिप्पणियाँ इतनी सफाई से प्रस्तुत की जाती हैं कि दर्शक मुग्ध हो जाते हैं।

तमाशा के संवाद द्विअर्थी होते हैं। इनका ऊपरी अर्थ तो कथा का सहज अंग होता है। परन्तु गूढ़ अर्थ का इंगित श्रृंगारिक होता है, दर्शक जिनका पूरा मजा लेता है। सीधी-सादी शैली में बिना किसी बनावट के तमाशा में हास्य की प्रस्तुति की जाती है। उन्मुक्त हास्य और सहज पैने व्यंग्य के कारण तमाशा ग्रामीण दर्शकों के बीच अत्यंत रोचक मनोरंजन का माध्यम बन गया है। चटपटे हाजिर जवाबी सवाल-जवाब, भरपूर हास्य और श्रृंगार प्रधान लावणी गायन एवं उत्तेजक संगीत आदि गुणों के कारण ग्रामीण खुलेपन में विकसित हुए तमाशा नाट्य स्वरूप को दर्शकों ने अपने मनोरंजन के सर्वप्रमुख साधन के रूप में अंगीकार कर लिया है।

मराठा शासन के पतन का प्रभाव वहीं की कला और संस्कृति पर भी पड़ा। इस राजनीतिक परिवर्तन के परिणामस्वरूप महाराष्ट्र प्रदेश सामन्त, जागीरदार, मालगुजार आदि सम्पन्न एवं शक्तिशाली जनों की शक्ति का भी ह्रास हुआ और उनमें पतनोन्मुख लक्षण स्पष्ट रूप से परिलक्षित होने लगे। तमाशा भी ह्रासोन्मुख परिवर्तन से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। उसमें भी ह्रासोन्मुख विकृतियाँ समा गईं और लोकरंजन हेतु सस्ती, फूहड़ एवं अश्लील सामग्री, भाव-भंगिमाएँ एवं संवाद प्रस्तुतियों में अधिकाधिक स्थान पाने लगे। इन प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप द्विज एवं प्रबुद्धजनों द्वारा तमाशा को लगभग एक शताब्दी तक फूहड़, अश्लील एवं कुरुचिपूर्ण नाट्य स्वरूप माना जाने लगा।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप कुछ अति उत्साही अधिकारियों ने तमाशा को इन पतनोन्मुख प्रवृत्तियों से मुक्त करने हेतु तमाशा स्वरूप में हस्तक्षेप करने लगे। ऐतिहासिक एवं सामाजिक परिस्थिति जिनमें विकृतियाँ उत्पन्न हुई थी, समुचित ज्ञान के अभाव में इन अधिकारियों ने कानून के डण्डे की सहायता से ही तमाशा में सुधार के प्रयास हेतु कुछ प्रशासकीय कदम उठाये। उनका ख्याल था इन प्रशासकीय उपक्रमों में तमाशा को श्रृंगारिकता एवं अश्लीलता से मुक्त करके पवित्र एवं सुरुचिपूर्ण नाट्य स्वरूप बना लिया जाएगा। इस हेतु महाराष्ट्र शासन ने एक सेंसर बोर्ड का गठन किया। यह नियम बना दिया गया कि किसी



भी तमाशा खेल की प्रस्तुति के पूर्व उसके 'वाग' को सेंसर बोर्ड से स्वीकृत कराना आवश्यक होगा। इस हेतु तमाशा के निर्देशक 'वाग' को दस प्रतियों में स्वीकृति हेतु प्रस्तुत करेंगे। तमाशा संचालन अशिक्षित एवं निरक्षर कलाकारों द्वारा किया जाता था तथा उसमें नाटकों के लिखित आलेखों की कोई परंपरा थी ही नहीं, अतः इस नियम ने एक जबर्दस्त संकट खड़ा कर दिया। सामान्यतया किसी भी नाटक की प्रस्तुति के पूर्व कलाकार बैठकर उसकी विषय-वस्तु पर चर्चा कर लेते हैं और कलाकार अपनी प्रतिभा एवं अनुभव की शक्ति द्वारा नाट्य प्रस्तुतियाँ करने में दक्ष होते हैं। उनमें नाटक के आलेख का महत्त्व गौण होता है।

सेंसर बोर्ड के गठन और उसके नये-नये नियमों ने तमाशा के अस्तित्व के समक्ष संकटपूर्ण स्थिति उत्पन्न कर दी। इससे संपूर्ण तमाशा जगत में विवाद उत्पन्न हो गया। सेंसर बोर्ड ने तमाशा मंडलियों के लिए लायसेंस प्रणाली भी लागू कर दी। ये सभी नियम अनिवार्य थे। लायसेंस के लिए फीस भी पटानी अनिवार्य थी। इन सब जटिल नियमों एवं पाबंदियों से तमाशा का अस्तित्व ही संकट में पड़ गया। शासन की इस नीति के प्रति तमाशा मंडलियों में अत्यधिक उत्तेजना थी। इस संकट का मुकाबला करने हेतु तमाशा में संलग्न कलाकारों ने महाराष्ट्र तमाशा परिषद् का गठन किया और पुणे के आर्यभूषण थियेटर में एक विशाल सम्मेलन आयोजित कर इन नए नियमों एवं सेंसर बोर्ड के गठन के विरुद्ध जबर्दस्त विरोध प्रकट किया। इस विरोध के परिणामस्वरूप शासन ने नियमों में कुछ ढील दी और लायसेंस फीस में भी कुछ छूट प्रदान की, किन्तु सेंसर से स्वीकृति और लायसेंस प्रणाली बरकरार रही। शासन की इस नीति ने प्रबुद्धजनों को भी झकझोर दिया। अनेक प्रबुद्ध नाट्य कर्मी, लेखक एवं बुद्धिजीवियों ने अपना समर्थन तमाशा कलाकारों के साथ प्रदर्शित किया। मराठी साहित्य के कुछ यशस्वी महानुभावों ने भी शासन की नीति के विरुद्ध अपनी राय दर्शायी। इन लेखकों ने तमाशा हेतु नाटक लिखकर तमाशा-विधा की लोकधर्मी शक्ति को स्वीकार किया और उससे जुड़कर उसे अपना समर्थन प्रदान किया।

### तमाशा की प्रस्तुति

तमाशा का उद्भव चूँकि ग्रामीण परिवेश में हुआ है, और उसे ग्रामीण जनाधार ने ही संरक्षण प्रदान करके पृष्ठ किया है,

अतः उसने ग्रामीण परिवेश में उपलब्ध साधनों का ही अपनी प्रस्तुतियों हेतु समुचित विकास किया है। तमाशा की प्रस्तुति किसी भी खुले प्रांगण में, गाँव की चौपाल में, किसी पाटील के घर के विशाल आँगन में या किसी बड़े मकान के सम्मुख बने हुए चबूतरे पर किया जा सकता है। तमाशा के आधिकांश प्रदर्शन महाराष्ट्र के ग्रामीण क्षेत्र में अथवा शहरों की मजदूर बस्तियों में होते हैं। अतः वहाँ उपलब्ध सीमित साधनों का ही उपयोग कर मंडलियाँ खेल दिखाती हैं। कुछ शहरों में इन खेलों का प्रदर्शन नियमित रूप से रंग शालाओं में भी होता है, जिनमें पुणे का आर्यभूषण थियेटर, बम्बई के हनुमान थियेटर एवं बाम्बे थियेटर और शोलापुर का श्री थियेटर इन प्रदर्शन के लिए प्रसिद्ध है।

ग्रामीण क्षेत्र में प्रदर्शन हेतु तमाशा मंडलियाँ अपने तम्बू तथा सज्जा हेतु आवश्यक सामान, बिजली के जनरेटर इत्यादि स्वयं साथ ले जाती हैं। इनके ठहरने-रहने आदि की व्यवस्था उस गाँव के लोगों द्वारा की जाती है। इन्हें गाँव की धर्मशाला, पाठशाला या किसी सरदार या पाटील के बड़े मकान में की जाती है। उस गाँव के लोग मण्डली के कलाकारों को अपना अतिथि मानते हैं और उन्हें भोजन इत्यादि पर कुछ भी खर्च नहीं करना पड़ता। कुछ प्रसिद्ध मंडलियों के गाँव में आगमन पर गाँव के लोग अपनी शान समझते हैं और उनकी देखभाल एवं खातिरदारी को अपनी प्रतिष्ठा मानते हैं। कुछ प्रसिद्ध मंडलियाँ निर्देशकों के नाम पर चलती हैं, तो कुछ मंडलियाँ उनकी प्रसिद्ध नर्तकियों के नाम पर।

तमाशा की प्रस्तुति का आरंभ संगीतज्ञों के मंच पर प्रवेश से होता है। सर्वप्रथम ढोलकी वाले एवं हलगी वाले का मंच पर आगमन होता है। तमाशा में प्रयुक्त ढोलकी कुछ-कुछ पखावज जैसी होती है, जो आकार में मालवा के माच-नाट्य में प्रयुक्त होने वाली ढोलक से बड़ी और पखावज से छोटी होती है। ढोलकी वादक ढोलक को गले में लटकाकर सदैव खड़े-खड़े ही इस ताल-वाद्य को बजाता है। इनके बाद मंच पर तुनतुन वादक एवं मंजीरा वादक प्रवेश करते हैं। तुनतुन बंगाल के बाऊला के गोपीयंत्र के सदृश्य ही एकतार वाला वाद्य यंत्र होता है, जिसे नाखून या तार की रगड़ से बजाते हैं। संगीतज्ञों के प्रवेश के पश्चात् सरदार या कवि कड़िया प्रवेश करता है, जो निर्देशक के होने के साथ ही साथ स्वयं एक अच्छा गायक होता है और हाथ में डफ या चंग

लिए हुए गान प्रस्तुत करता है। कड़िया का गायन में सहयोग तुरतिया करता है जो गायन में दक्ष होता है। तमाशा में ढोलकिया एक महत्त्वपूर्ण कलाकार माना जाता है। उसके ढोलक बजाने पर ही खेल का सम्पूर्ण दारोमदार होता है, जितना महत्त्व ढोलकी वाले के तमाशा में है, उतना ही महत्त्व प्रमुख नर्तकी का होता है, जिसे नटुकनी कहते हैं।

सर्वप्रथम ढोलकी वाला ढोलक पर कुछ गतें प्रस्तुत करता है। यह क्रम लगभग पन्द्रह से बीस मिनट तक चलता है। ढोलक की फड़कती हुई ध्वनि कानों पर पड़ते ही दर्शकों का ध्यान मंच की ओर आकर्षित होता है और थोड़े ही समय में दर्शकगण मंच की ओर एकाग्रचित्त हो जाते हैं। इस तरह का विधान नाट्य-शास्त्र में भी बताया गया है।

जब दर्शक एकाग्रचित्त हो जाते हैं, तत्पश्चात् सरदार या सोंगड़या गणपति वेश में सजे हुए कलाकार मंच पर अपने साथ लेकर प्रवेश करते हैं। गणपति वेश में कलाकार पीताम्बरी धारण किए हुए तथा पीताम्बरी वर्ण का दुपट्टा कंधों पर धारण किए हुए होते हैं तथा चेहरा गणपति के लाल वर्णी मुखौटे से ढंका होता है। ये मुखौटे कागज की लुग्दी द्वारा निर्मित होते हैं, जो कलात्मक रूप से सजाए जाते हैं। कड़िया या सोंगड़या गणपति को मंच के बीच में अपने साथ लाकर खड़ा करते हैं, तत्पश्चात् अन्य सभी कलाकार मंच पर प्रवेश कर दर्शकों की ओर पीठ एवं गणपति की ओर मुख करके खड़े हो जाते हैं। ये सभी कलाकार मिलकर गणपति वंदना का गायन करते हैं। गायन करते समय मंच पर कभी आगे कभी पीछे होते रहते हैं। इस अवसर पर गायी जाने वाली वंदना को गण कहते हैं तथा यह सम्पूर्ण आयोजन आवाहन कहलाता है। कुछ मंडलियाँ गणेश वंदना के पश्चात् गणपति के माता-पिता के रूप में शिव-पार्वती का आवाहन भी करते हैं। आवाहन के पश्चात् गणपति दाहिना हाथ उठाकर सरदार सहित समस्त कलाकारों, संगीतकों, आयोजकों एवं दर्शकों को आशीर्वाद प्रदान करते हैं। नाट्य प्रस्तुति के निर्विघ्न सम्पूर्ण होने का आशीर्वाद प्रदान कर गणपति कलाकारों के साथ मंच से प्रस्थान करते हैं। पर्दा गिरता है और इस तरह तमाशा का पूर्वरंग सम्पन्न होता है। तमाशा के पूर्वरंग के विधान पर स्पष्ट रूप से नाट्य-शास्त्र की छाया दिखाई पड़ती है।

पर्दा पुनः उठता है और मंच पर संगीतज्ञ विद्यमान दिखाई पड़ते हैं। एक हारमोनियम वादक भी पार्श्व से सटकर बैठे हुए दिखाई पड़ते हैं। सभी संगीतज्ञ पार्श्व से सटकर एक ओर खड़े होते हैं। मंच के दाहिने पार्श्व से प्रमुख नर्तकी नृत्य करते हुए प्रवेश करती है। उसके साथ अन्य चार से छः नर्तकियाँ होती हैं। सभी दर्शकों की ओर पीठ किए हुए होती हैं। ये सभी नर्तकियाँ महाराष्ट्रीयन शैली की दसगजी रेशम भड़कीले रंगों वाली साड़ियाँ पहने हुए होती हैं, जिन पर जरी के तारों का काम किया हुआ होता है। ये नर्तकियाँ नृत्य करते हुए मंच पर प्रवेश करती हैं और अपने हाथों से साड़ी के पल्लू को फैलाकर ऊपर की ओर उठाए रखती हैं। मुझे तमाशा की वयोवृद्ध प्रसिद्ध नर्तकी वाइकर ने बताया कि यह मोर सदृश्य मद भी पूर्वरंग का ही एक अंग है, जिसमें देवी सरस्वती की आराधना स्वरूप नृत्य का प्रथम अंग प्रस्तुत किया जाता है। ढोलक की ताल के साथ-साथ नर्तकियाँ नृत्य करते हुए दर्शकों की ओर घूमती हैं और हाथ से ऊपर की ओर उठाए पल्लू को मुख पर खींच लेती हैं। साड़ी के पल्लू से मुख ढंककर दर्शकों के मन में कौतुहल उत्पन्न करते हुए मंच के अग्रभाग की ओर नृत्य करते हुए बढ़ती हैं और आहिस्ते से पल्लू हटाकर अपनी छवि प्रकट करती हैं।

गहरे-भड़कीले श्रृंगार एवं चमकदार रेशमी वस्त्रों में सजी-धजी ये नर्तकियों मंच पर अलौकिक अप्सराओं की छटा का सृजन करती हैं। पूर्व रंग के उपरांत तमाशा में दूसरी प्रस्तुति 'ग्वालन' की होती है। यह प्रसंग कृष्ण एवं गोपियों की छेड़-छाड़ एवं हास्य-विनोद का ही स्थानीय स्वरूप है। तमाशा में स्त्री-पात्रों का अभिनय स्त्रियों द्वारा ही किया जाता है। इस कार्य में कोल्हाड़ी जाति की लड़कियाँ विशेष रूप से कुशल हैं। उत्तर भारत के स्वांग, माच या ख्याल-नाट्यों में स्त्री-पात्रों का अभिनय पुरुष कलाकारों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है, परन्तु तमाशा में उसके आरंभिक काल से ही स्त्रियाँ अभिनय करती आ रही हैं।

'ग्वालन' प्रसंग की प्रस्तुति करते समय प्रमुख नर्तकी मंच के बीचोंबीच स्थान ग्रहण करती हैं, और उसके साथ तीन से पाँच तक अन्य सहायक नर्तकियाँ उसके अगल-बगल में स्थान ग्रहण करती हैं। नृत्य करते समय ये सहायक नर्तकियाँ प्रमुख नर्तकी का नृत्य में साथ देती हैं और नृत्य के पश्चात् पीछे पर्दे के समीप पंक्ति बनाकर खड़ी हो जाती हैं। सहायक नर्तकियाँ प्रमुख की

छोटी बहनें या सम्बन्धी होती हैं, जो उसके साथ-साथ नृत्य करना सीखती हैं। प्रस्तुति के समय कभी प्रमुख नर्तकी के साथ नृत्य करती है और कभी पीछे खड़ी होकर विश्राम करते हुए प्रमुख नर्तकी के नृत्य एवं उसकी भाव-भंगिमाओं का बारीकी से अवलोकन करती रहती हैं। प्रमुख नर्तकी की भाव-भंगिमाएँ कामोत्तेजक एवं शरारत से पूर्ण होती हैं और नृत्य में आंगिक चेष्टाएँ भी उन्हीं के अनुरूप होती हैं। तमाशा की इस प्रवृत्ति के कारण ही उसका दर्शक प्रमुख रूप से पुरुष वर्ग ही है।

तमाशा की ये नर्तकियाँ परंपरागत लावणी गायिकी अपनी माताओं या बड़ी बहनों से सीखती हैं, जो अपनी युवा अवस्था में स्वयं तमाशा की प्रमुख नर्तकियाँ एवं गायिकाएँ रह चुकी हैं। पुराने जमाने की बैठी लावणियाँ तो अब मंच पर प्रचलन में नहीं रहीं, परन्तु उनकी पुरानी नर्तकियों से नई नर्तकियाँ सीखकर अपने नाज-नखरों को उनकी सहायता से समृद्ध करती हैं और दर्शकों के मनोरंजन हेतु दक्षता प्राप्त करती हैं। इन नर्तकियों को सिनेमा के सभी प्रसिद्ध गाने याद होते हैं और बीच-बीच में दर्शकों की फरमाइश पर प्रस्तुत करती हैं। प्रसिद्ध 'शाहिरों' द्वारा लिखी ये लावणियाँ प्रश्नोत्तर शैली में साहित्य की अत्यंत लोक प्रसिद्ध रचनाएँ हैं, जिनसे तमाशा का दर्शक भलीभाँति परिचित है। शाहिर शब्द उर्दू के शायर का ही बिगड़ा हुआ रूप प्रतीत होता है।

बैठी लावणी की प्रस्तुति बैठकर ही की जाती है। अतः उसमें नृत्य का अभाव होता है। इसकी पूर्ति अभिनय के माध्यम से की जाती है। बैठी लावणी का यह अभिनय पक्ष कथक के अभिनय से बहुत समान है। तमाशा की नृत्य-शैली और कथक नृत्य-शैली में भी अत्याधिक समानता है। दोनों शैलियों में पद संचालन, गति-तोड़े आदि भी एक जैसे ही होते हैं। दोनों नृत्यों में अंतर इतना ही है कि तमाशा में सम्पूर्ण पैर को कथक की भाँति फर्श पर पूरी तरह न रखकर पाँव के अंगूठे, पंजे या एड़ी को नजाकत के साथ टिकाया जाता है।

तमाशा की नर्तकियाँ निःसंकोच व खुलेपन के नृत्य एवं अभिनय प्रस्तुत करती हैं। बिना किसी लज्जा, संकोच एवं अंतर्बाधा के ये नर्तकियाँ कामुक एवं उत्तेजक हाव-भाव प्रदर्शित करती हैं। महाराष्ट्र के खुले ग्रामीण परिवेश में ऐसे प्रदर्शन जरा भी अस्वाभाविक एवं अटपटे नहीं लगते। ये नर्तकियाँ मंच पर सदैव सहज व स्वाभाविक बनी रहती हैं। अल्हड़पन से कभी अपनी

साड़ी के पल्लुओं से खेलती रहती हैं, तो कभी आपस में वार्तालाप करती रहती है, या कभी वे मंच के समक्ष बैठे अपने प्रशंसक दर्शकों से आँखें लड़ाते हुए उत्तेजक इशारे करती हैं। अनेक बार यह खुलापन और इशारेबाजी अश्लीलता की हद तक बढ़ जाते हैं, किन्तु फिर भी ग्रामीण परिवेश में इसे बुरा नहीं माना जाता। तमाशा लोकनाट्य में इन प्रवृत्तियों का विकास उसी काल में हो चुका था, जब इन नृत्यों की प्रस्तुति मराठा शासन काल में सैनिकों के मनोरंजन हेतु की जाती थी। तमाशा अपनी इन प्रवृत्तियों के कारण ही द्विज और भद्रजनों में अश्लील एवं मनोरंजन का फूहड़ साधन माना जाता है। नागर स्त्रियों में तमाशा देखना लगभग वर्जित ही माना जाता है। पुणे-बम्बई एवं कोल्हापुर में शिक्षित मध्य एवं उच्च वर्ग की स्त्रियों के लिए तमाशा देखना वर्जित सदृश्य ही है।

तमाशा के ग्वालन प्रसंग की प्रेरणा यद्यपि कृष्ण एवं गोपियों के रास-लीला प्रसंग से आई है, परन्तु तमाशा में गोपियों के साथ छेड़छाड़ और द्विअर्थी संवादों के कारण उसका स्वरूप यहाँ पूर्णतः बदल गया है। इसने तमाशा को एक स्वतंत्र नाट्य स्वरूप में परिवर्तित कर दिया है। इस प्रसंग में रोजमरों की छेड़छाड़, प्रेमालाप और उत्तेजक भाव-भंगिमाओं का प्रदर्शन किया जाता है। श्रीमती कपिला वात्स्यायन के मतानुसार 'दालला' में कृष्ण द्वारा ग्वालिनों से कर वसूली की प्रस्तुति वर्तमान छेड़छाड़ के रूप में की जाती है। इस प्रकार का मसखरापन एवं लौकिक व्यवहार भारतीय एवं अन्य कुछ एशियाई देशों के नाट्य स्वरूपों में देवीपात्रों को करते हुए प्रस्तुत किया जाना, अपने आपमें विलक्षण है, क्योंकि देवतागण मूर्ति रूप में मंदिरों में स्थापित करके मात्र पूजा करने के उपकरण नहीं हैं। वे भी लौकिक जीवन की लीला के पात्र हैं जो मानवीय हैं- भावना एवं वास्तविक रंगों से ओत-प्रोत एवं आमोद-प्रमोद एवं हँसी-मजाक से परिपूर्ण हैं।

'ग्वालन' प्रसंग के उपरांत तमाशा का तीसरा प्रसंग रंगबाजी आरंभ होता है। रंगबाजी में ही प्रमुख खेल प्रस्तुत किया जाता है। जो उस रात्रि की अंतिम प्रस्तुति होती है। रंगबाजी में प्रहसन एवं नकल आदि प्रस्तुत किए जाते हैं जो लिखित नाटकों के आधार पर खेले जाते हैं। इन लिखित नाटकों को वाग कहते हैं- 'तमाशा में लिखित वागों की कोई पुरानी परम्परा नहीं है। स्वतंत्रता के पश्चात् शासन द्वारा अपनाई गई नीति के कारण वागों के आलेख

तमाशा की प्रस्तुति के पूर्व सेंसर बोर्ड से स्वीकृत कराने के नियम के कारण उनके लिखने का प्रचलन शुरू हुआ है। इन वागों का विषय किसी पौराणिक, ऐतिहासिक या सामाजिक कथाओं पर आधारित होता है। कुछ वाग प्रेम-गाथाओं पर भी आधारित हैं। अन्य कुछ वागों में समसामयिक विषयों को लेकर सामाजिक विसंगतियों पर कटाक्ष किए गए हैं। 'बाबूराव पेंढारकर ने एक सौ से अधिक ऐसे वाग लिखे हैं। वर्तमान समय में सामाजिक समस्याओं पर केन्द्रित कुछ वागों की रचनाएँ भी हुई हैं। यौन रोगों के भयावह परिणामों से लोगों को अवगत कराने के उद्देश्य से एक वाग 'गर्भीची लावणी' लिखा गया है, जो अत्याधिक लोकप्रिय है।

तमाशा में नृत्य प्रस्तुतियाँ कोल्हाटी जाति की युवतियों द्वारा की जाती है। ये नर्तकी नटुकनी कहलाती हैं, जो संस्कृत-नाट्य के नटी शब्द का ही मराठी रूपांतरण है। सूत्रधार को तमाशा में सरदार कहते हैं। सरदार एवं संगीत दल खड़े-खड़े ही प्रस्तुति करते हैं और अधिकांश समय प्रमुख नटुकनी एवं सोंगड़या के पीछे-पीछे चलते हैं। नृत्य प्रस्तुति के समय बायें पार्श्व में खड़े होकर संगत देते हैं। नृत्य प्रस्तुति स्त्री पात्र नटुकनी एवं उसकी सहायक नर्तकियाँ ही करती हैं। इन नृत्यों के माध्यम से वे अनेक अत्यंत नयनाभिराम प्रतिरूपों का सृजन करती हैं।

दर्शक लावणी गायन या नृत्य प्रस्तुति से प्रसन्न होकर नटुकनी को उत्साहित करने हेतु एक-दो रुपये के नोट उपहार स्वरूप प्रदान करते हैं, जिसे वह आगे बढ़कर दर्शकों के हाथों से खुशी-खुशी स्वीकार कर लेती है। उपहार स्वरूप प्राप्त रूपयों को वह हारमोनियम वादक के पास जमा कर देती है, और हारमोनियम वादक ऐसे प्रशंसक श्रोता को आशीष देता है कि उनकी दौलत में वृद्धि हो। इसी कारण तमाशा के इस पथ को 'दौलत ज्यादह' कहा जाता है। तमाशा समाप्त होने पर यह राशि संगीत दल में बंट जाती है।

तमाशा कलाकारों की आर्थिक स्थिति विशेष अच्छी नहीं कही जा सकती। तमाशा मंडलियाँ थियेटर मालिकों के साथ अनुबंध कर काम करती हैं। कलाकारों को प्रत्येक दिन की प्रस्तुति हेतु एक निश्चित रकम प्रदान की जाती है। प्रत्येक कलाकार को उसकी प्रसिद्धि के अनुरूप पारिश्रमिक दिया जाता है। प्रत्येक

पुरुष कलाकार एवं संगीतज्ञ को एक-एक हिस्सा मिलता है और नर्तकी को दो हिस्से मिलते हैं। सहायक नर्तकियों को भी एक-एक हिस्सा मिलता है। तमाशा के इस पारिश्रमिक को स्थानीय भाषा में सीधा कहते हैं। तमाशा के कलाकारों का अधिकांश पैसा मदिरापान पर खर्च होता है। तमाशा की नर्तकियाँ भी मदिरापान करती हैं, और अपनी कमाई को इस प्रकार से उड़ाती है। इन नर्तकियों के लिए विवाह करना वर्जित माना जाता है और ये येल्लम्मा देवी को समर्पित कर दी जाती हैं। इन्हें इस बात की छूट होती है कि वे या तो तमाशा के ही किसी व्यक्ति से यौन सम्बन्ध रख सकती हैं। वे इन व्यक्तियों से गर्भ धारण कर बच्चे को जन्म भी दे सकती हैं, जिसे बुरा नहीं माना जाता। यदि कोई नर्तकी वैवाहिक बंधन स्वीकार कर लेती है तो उसे तमाशा का परित्याग करना पड़ता है।

मराठा राज्य के उत्थान एवं विस्तार के साथ-साथ तमाशा नाट्य का विस्तार भी तंजावुर से राजपुताना तक एवं गुजरात से कटक (उड़ीसा) तक भारत वर्ष के व्यापक क्षेत्र में हो गया था। इस विशाल क्षेत्र की संस्कृति का तमाशा पर गहरा प्रभाव पड़ा और उसमें अनेक कलास्वरूपों ने समाविष्ट होकर उसे समृद्ध एवं पुष्ट किया। अठारहवीं शताब्दी के हिन्दू एवं मुस्लिम दरबारों के अनेक प्रभावों को भी इस नाट्य स्वरूप ने अपने भीतर आत्मसात कर लिया।

## भतरा नाट

बस्तर के आदिवासियों में नृत्य का उद्भव एवं विकास सभ्यता के उन्हीं बिन्दुओं एवं विकास की वैसी ही स्थितियों में हुआ होगा, जैसा विश्व के किसी भी अन्य क्षेत्र के कबीलों में। यही कारण है कि बस्तर के आदिवासियों के नृत्यों में भी वे सब तत्त्व विद्यमान हैं। इन नृत्यों में हिंसक पशुओं से मुठभेड़ और उनके आखेट से सम्बन्धित नृत्य तथा देवी-देवताओं एवं पूर्वजों को प्रसन्न करने हेतु व उनके प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करने हेतु किये जाने वाले नृत्य सभी आदिवासी कबीलों में समान रूप से पाये जाते हैं। इसी प्रकार पशु-नृत्य जिनमें पशुओं के सींग या मुखौटे अथवा उनका चमड़ा आदि धारण कर प्रस्तुत किये जाते हैं। इसका कारण समाज विकास की लगभग समान स्थितियाँ एवं लगभग एक समान विश्वासों का होना माना जाता है।

आखेट या युद्ध नृत्यों में नृत्य के साथ-साथ कथानक के जुड़ जाने से किसी बिन्दु पर नाट्य की उत्पत्ति हुई होगी। बस्तर के नृत्यों में भी नाट्य के तत्त्व कई स्तरों पर दिखाई देते हैं। मुरिया जनजाति का माओपाटा, डंडामी माड़ियों का गौर नृत्य, भतरों के खेलुक में कुछ न कुछ नाटकीय तत्त्व निहित हैं। बस्तर में छेरछेरा त्योहार तो सभी आदिवासी मनाते हैं, जो फसल के समारोह के रूप में मनाया जाता है। इस उत्सव के अवसर पर कौतुक एवं हास्य का सृजन करने की दृष्टि से किशोर युवक अनेक प्रकार के मुखौटे लगाकर या काठ के कुछ अश्लील संकेत करने वाली पुतलियाँ लेकर गाँव के सभी लोगों के घरों पर जाकर अन्न माँगते हैं। मुखौटों के माध्यम से जो हास्य पैदा किया जाता है, उसमें अभिनय के सशक्त लक्षण विद्यमान हैं। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि नाट्य के उद्भव की यह अत्यंत आरंभिक अवस्था है। इसे पूर्ण विकसित नाट्य तो कदापि स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

बस्तर की पूर्वी सीमा पर स्थित भतरा जनजाति में नाट्य का एक पूर्ण विकसित एवं सशक्त स्वरूप पाया जाता है। बस्तर में इसे भतरा नाट के नाम से ही जाना जाता है। भतरा नाट से मेरा परिचय सन् 1962 के दशहरा पर्व के अवसर पर पहली बार तब हुआ, जब दंतेश्वरी के रथ के आगे-आगे बस्तर के आदिवासियों की नर्तक टोलियों के बीच में कुछ नर्तक चेहरों को रंगे हुए, कुछ मुखौटे लगाए हुए व हाथ में ढाल-तलवार, धनुष-बाण आदि धारण किये हुए नृत्य एवं प्रहसन करते शोभायात्रा में दिखाई दिए। रथ के सम्मुख चलते-चलते अभिनय करते हुए इन कलाकारों का पद संचालन एवं अभिनय कुछ-कुछ छारू नृत्य की भाँति लग रहा था। मैंने उनसे पूछताछ की तो मुझे सिर्फ इतना ही पता चल सका कि वे 'नाट' करने वाले कलाकार हैं तथा उनके साथ उनके गुरु भी हैं। भाषा की कठिनाई तथा दशहरा उत्सव में उनकी सक्रिय भागीदारी के कारण उस समय उन लोगों से और कोई बात नहीं हो सकी।

एक बार उड़ीसा के जयपुर शहर से जगदलपुर वापस आ रहा था, तो मैंने रास्ते के एक गाँव में सड़क किनारे ही एक नाटक होते हुए देखा। अपनी कार को एक ओर खड़ी करवाकर मैं कुछ देर तक उस नाटक को देखता रहा। ग्रामीणों ने मुझे मंच के समीप ही बैठने को एक चटाई दे दी। नाट्य का प्रसंग पौराणिक कथा

पर आधारित था, किन्तु उसकी भाषा मेरे पल्ले नहीं पड़ रही थी। गाँव के दर्शकों में काफी उल्लास था तथा दर्शकों की भीड़ से कुछ दूरी पर चाय के ठेले व पान-बीड़ी की कई छोटी-बड़ी दुकानें लगी हुई थी। मैं उठकर एक पान दुकान पर पान खाने गया तो एक कुछ पढ़े-लिखे से लगने वाले व्यक्ति ने मुझसे पूछा कि क्या मैं जगदलपुर से आया हूँ? उसकी टूटी-फूटी हिन्दी सुनकर मैंने स्वीकारोक्ति में अपना सिर हिलाया। वह युवक उसी गाँव की प्रायमरी स्कूल में शिक्षक था। मैंने उससे उस नाटक के बारे में कुछ पूछताछ की तो उसने बताया कि उस विधा को स्थानीय लोग नाट कहते हैं। यह बस्तर व बस्तर से लगे उड़ीसा दोनों ही स्थानों पर प्रचलित है। बस्तर में विशेषकर भतरा जाति के लोग इसका मंचन करते हैं, वैसे उनके साथ-साथ अन्य लोग भी इसमें भाग लेते हैं। नाट के बारे में उस युवा शिक्षक से और बहुत-सी उपयोगी जानकारी मुझे मिली। इसके बाद नाट देखने के अनेक अवसर मुझे बस्तर में रहते हुए मिले। नाट के बारे में जैसे-जैसे मेरी जानकारी बढ़ने लगी, वैसे-वैसे ही नाट के प्रति मेरा आकर्षण भी बढ़ता गया।

भतरा नाट बस्तर में उड़ीसा से आया है, इसलिए कुछ लोग इसे उड़िया नाट भी कहते हैं। बस्तर में नाट के आने की कहानी भी दिलचस्प है। बस्तर के एक राजा पुरुषोत्तम देव (1407-1438) जगन्नाथपुरी की यात्रा पर गये थे। वे अपने साथ ही बड़ी संख्या में अपने अनुचरों एवं प्रजाजनों को साथ ले गये थे। जगन्नाथपुरी में रथयात्रा पर महाराजा पुरुषोत्तम देव ने अपने प्रजाजनों के साथ भगवान जगन्नाथ का रथ खींचा। जगन्नाथपुरी के राजा जो मंदिर के प्रमुख पुजारी भी होते हैं, गजपति की उपाधि से विभूषित थे। उत्कल के सभी राजा उनके अधीन माने जाते थे। गजपति ने महाराजा पुरुषोत्तम देव को अपने राज्य में सोलह पहियों का रथ बनाने की अनुमति प्रदान की। महाराजा अपने साथ जगन्नाथपुरी से ही काष्ठ की भगवान जगन्नाथ, सुभद्रा व बलराम की प्रतिमाएँ साथ लेकर आए। जिन प्रजाजनों ने महाराज के साथ पुरी की यात्रा की थी, वे अन्य आदिवासियों से जगन्नाथपुरी यात्रा करने के कारण भद्र हो गये थे तथा हिन्दू धर्म के प्रभाव में आ गये थे। अतः भद्र कहलाने लगे। महाराजा अपने साथ अनेक उत्कल ब्राह्मण परिवारों को भी साथ लेकर आए तथा उन्हें दान में भूमि प्रदान की। इन्हीं ब्राह्मणों ने महाराजा के कहने पर इन

प्रजाजनों को जनेऊ प्रदान कर इन्हें हिन्दूधर्म में मिलाने का कार्य सम्पन्न किया। तभी से ये आदिवासी भद्र कहलाए, जिसका अपभ्रंश भतरा हो गया। जगन्नाथपुरी यात्रा के अवसर पर ही महाराजा व उनके अनुचरों तथा प्रजाजनों ने भगवान जगन्नाथ की शोभायात्रा के सामने अनेक नाट्य मंडलियों एवं नर्तक मंडलियों को देखा। उन नाट्य मंडलियों से प्रभावित होकर साथ आए हुए ब्राह्मणों के निर्देशन में नाटक सीखकर भतराजन नाटक करने लगे। इस तरह नाटक इस जनजाति में प्रचलित होता गया।

उत्कल से बस्तर का सांस्कृतिक सम्बन्ध कालान्तर में बढ़ता ही गया। केसरपाल नामक पुरातात्विक महत्त्व के स्थान से प्राप्त एक शिलालेख से पता चलता है कि उत्कल के पापड़ाहांडी क्षेत्र से आए हुए तीन सौ धारिया ब्राह्मण परिवारों को बस्तर के महाराजा रक्षपाल ने सन् 1703 में लाकर बस्तर में बसाया था तथा उन्हें निर्वाह हेतु कृषि भूमि दान में दी थी। उत्कल से ब्राह्मणों का बस्तर में आगमन लम्बे काल तक चलता रहा। इन ब्राह्मणों के साथ उत्कल की कला परम्पराएँ भी बस्तर में आकर स्थापित होती रहीं।

नाट, नाट्य से ही बना हुआ शब्द है। नाट की परम्परा बहुत कुछ संस्कृत एवं उड़िया की परम्परा के सम्मिश्रण से विकसित हुई परम्परा है, जिसमें गत छः शताब्दियों में स्थानीय तत्त्वों का व संस्कृति का रंग घुलमिल गया है। नाट ने बस्तर में आकर प्रजातांत्रिक एवं धर्म-निरपेक्ष चरित्र विकसित किया है। बस्तर में नाट का बाकायदा प्रशिक्षण दिया जाता है, जिसके संचालन का दायित्व नाटगुरु को सौंपा जाता है।

जब किसी गाँव के युवकों के मन में 'नाट' को संगठित करने की अभिलाषा पैदा होती है तो वे गाँव के प्रमुख जनों के पास जाकर उन्हें अपनी इच्छा से अवगत कराते हैं। गाँव के पटेल तथा परम्परागत पंचायत में नाट के गठन पर विचार-विमर्श किया जाता है। पंचायत फिर गाँव के सभी महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों को बुलाकर व्यापक स्तर पर युवकों की इच्छा की जानकारी गाँव के सभी लोगों को देती है। बैठक में इस बात का भी आकलन किया जाता है कि नाट के गठन हेतु कितना धन आवश्यक होगा। उतना धन इस गाँव से एकत्रित किया जा सकता है अथवा नहीं, इस पहलू पर भी विचार किया जाता है। गाँव में इतनी संख्या में

युवक उपलब्ध हो सकेंगे या नहीं, जो नाट हेतु आवश्यक होंगे। सभी पहलुओं पर विचार-विमर्श के पश्चात नाट के गठन पर निर्णय लिया जाता है। नाट का गठन किया जाए या न किया जाये। नाट के गठन के पक्ष में निर्णय होने पर किस नाट गुरु से प्रशिक्षण लिया जाए, यह निश्चित कर उस नाट गुरु को आमंत्रित करते हैं। नाटगुरु नाट हेतु प्रशिक्षण के लिए अपनी दक्षिणा एवं शर्तें तथा प्रशिक्षण हेतु तिथि आदि मुद्दों पर गाँव के प्रमुख लोगों के साथ बातचीत करते हैं। सभी बातों पर सहमति हो जाने पर नाट गुरु नारियल स्वीकार कर निश्चित तिथि से नाट प्रशिक्षण आरंभ करते हैं। यह परम्परा संस्कृत-नाट्य परम्परा से ही अपनाई गई है।

नाटगुरु गाँव के युवकों को उनकी प्रतिभा, उनके रूप-रंग तथा कद-काठी के अनुरूप 'पाठ' देते हैं। विभिन्न पात्रों के पाठ नाटगुरु कलाकारों से रटवाते हैं तथा उन्हें उन पात्रों के अभिनय का अभ्यास भी साथ-साथ कराते हैं। अभिनय की सूक्ष्म जानकारी के साथ ही कथा-वस्तु की जानकारी, वेशभूषा तथा साज-संगत पर होने वाले खर्च का अनुमान लगाते हैं। नाट के गठन तथा प्रशिक्षण हेतु फसल कटने के बाद का समय चुना जाता है। गाँव के लोग अपनी-अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार चंदा एकत्रित करते हैं। कुछ लोग धान के रूप में चंदा देते हैं, जिसे बेचकर धनराशि एकत्रित की जाती है।

एक नाट पर पाँच से दस हजार रुपयों का खर्च आता है। एक गाँव में एक ही 'नाट' होता है और उसी के पात्रों के अनुरूप वस्त्र, वेशभूषा तथा साज-सज्जा की सामग्री खरीदी जाती है। धनराशि जुटा लेने के पश्चात वेशभूषा तथा प्रसाधन आदि क्रय करने हेतु गाँव के एक-दो प्रमुखजन नाटगुरु को साथ लेकर जयपुर (कोरापुर) जाते हैं। कभी-कभी तो इस उद्देश्य हेतु जगन्नाथपुरी तक की यात्रा पर लोग निकल पड़ते हैं, क्योंकि वहाँ की वेशभूषा एवं मुखौटे प्रमाणिक माने जाते हैं। आजकल किसी-किसी नाट की वेशभूषा पर दस हजार रुपये तक खर्च होने लगा है। नाट की सभी सामग्री के साथ-साथ नगाड़ा, तबला, हारमोनियम, मृदंग व एक या दो पेट्रोमेक्स भी खरीदे जाते हैं। नाट का प्रथम प्रदर्शन नाट के लोग अपने ही गाँव में नाटगुरु की देखरेख में ही करते हैं। नाटगुरु नाट में तो दक्ष होते ही हैं, वे स्वयं एक अच्छे कलाकार व गायक भी होते हैं। नाटक की विषय-सामग्री हेतु जो

पुस्तिकाएँ या गुटके प्रयोग में लाये जाते हैं, उन्हें 'चम्पू' कहते हैं। यह शब्द भी संस्कृत में लोकनाट्य के लिए प्रयोग में लाया जाता है।

अधिकांश चम्पू हस्तलिखित हैं, जिनकी भाषा भतरी बोली है। भतरी बोली बस्तर की पूर्वी सीमा वाले क्षेत्र में प्रचलित है तथा उसे भाषाविद् हल्बी का एक रूप मानते हैं जिस पर उड़िया का काफी प्रभाव है, साथ ही जिसमें गोंडी व छत्तीसगढ़ी के भी काफी शब्द पाये जाते हैं। भतरा जनजाति के लोग बस्तर से लगे उड़ीसा प्रदेश में भी बड़ी संख्या में निवास करते हैं। कुछ नाट्यगुरु उड़िया भाषा में लिखे चम्पू भी प्रयोग में लाते हैं, किन्तु प्रस्तुति में भतरी बोली का ही प्रचलन अधिक है।

कुछ नाट्य गुरुओं के कथनानुसार पहले ये चम्पू ताड़पत्र की पोथियों के रूप में भी प्रचलित थे, जो उड़िया ब्राह्मणों के पास थे। इन पोथियों का क्या हुआ, कहना कठिन है। हो सकता है ये पोथियाँ बार-बार उपयोग में लाये जाने के कारण नष्ट हो गई हों या फिर उन्हें दीमक आदि कीट व फंगस ने नष्ट कर दिया। यह भी सम्भव है कि ऐसे कुछ चम्पू आज भी किसी उड़िया परिवार के किसी बस्ते में पूजापाठ की अन्य पुस्तकों के साथ रखे हों। यदि ऐसी कोई पोथी प्राप्त हो सके तो वह नाट्य के अध्ययन में अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगी।

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र को पंचम वेद कहते हुए तीन बातों पर जोर दिया है। ऐसे लोग जो वेद-पाठ से वंचित थे। उनके लिए ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता महसूस की गई जो सभी वर्गों को शिक्षित एवं संस्कारित करने हेतु सुलभ हो। नाट्य में चारों वेदों के मूल तत्त्वों को अपनाकर उनका समावेश किया गया। ऋग्वेद से पाठ, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस लेकर नाट्य में उनका समावेश किया गया। तीसरी बात जिसे भरतमुनि ने महत्वपूर्ण माना, वह थी कि नाट्य-विधा को सभी प्रकार के शिल्प, कलाओं तथा ज्ञान से सम्पन्न होने के कारण पंचम वेद तुल्य प्रतिष्ठा देनी चाहिए। देवासुर नाट्य के मंचन के समय उठे विवाद के प्रसंग में ब्रह्मा ने दैत्यों के नेता विस्वाक्ष को आश्वासन दिया था कि नाट्य का उद्देश्य देवताओं या दैत्यों तक सीमित न रहकर तीनों लोकों के लिए होगा तथा जीवन के प्रत्येक वर्ग के लोगों के समग्र पहलुओं की अभिव्यक्ति हेतु होगा। किसी

सीमित वर्ग विशेष हेतु या मात्र मनोरंजन हेतु कदापि नहीं। संस्कृत नाटककार भरतमुनि द्वारा स्थापित उद्देश्य से भटक गये तथा परिणामस्वरूप नाटक समग्र लोक से कटकर उच्च वर्ग के मनोरंजन तक सिमटता चला गया। संस्कृत नाटकों के हास का प्रमुख कारण ही यही है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र की रचना उस काल विशेष में विद्यमान नाटकों के गहन अध्ययन से की थी। नाट्य सम्बन्धी अपने अध्ययन, अनुभव एवं ज्ञान को शास्त्रबद्ध करते समय भी उन्होंने बार-बार लोक का स्मरण दिलाया है। जिन प्रश्नों का उत्तर नाट्य शास्त्र में न मिले, उसके लिए लोक में जाकर देखने को कहा गया है।

ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी तक भारत में सामन्तवाद की शक्ति भी क्षीण होने लगी थी। बाह्य आक्रमणों एवं ह्रासोन्मुख होने के कारण सामन्तवाद और भी जर्जर हो गया था। संस्कृत नाटकों को प्राप्त राज्याश्रय नष्ट होने लगा था। इसी काल में लोकशक्ति पर आधारित नाटकों को सामाजिक प्रश्रय मिला और नाटक राजप्रसादों से निकलकर मंदिरों, मेलों, उत्सवों एवं ग्रामीण अंचलों में प्रतिष्ठा प्राप्त करने लगे। इन नाटकों में विभिन्न कलाओं का तथा जीवन के विभिन्न आयामों का समावेश होता था। इस काल में जिस नाट्य-शैली का उद्भव तथा विकास हुआ, वही नाट्य-शैली अनेक कलारूपों में आज तक हमारे देश के विभिन्न अंचलों में जीवंत नाट्य-शैली के रूप में प्रतिष्ठित है। ये लोक-नाट्य अंग्रेजी के 'फोक प्ले' के पर्याय कदापि नहीं हैं और न ही अंग्रेजी भाषा का 'फोक' शब्द संस्कृत या हिन्दी के लोक का पर्यायवाची है। हमारे सम्पूर्ण देश में प्रचलित विभिन्न नाट्य शैलियाँ यूरोप के 'ममर्सप्ले' या 'फोक प्ले' की तुलना में बहुत अधिक साहित्यिक, कलात्मक एवं संस्कारपूर्ण हैं, जिनमें हमारी लम्बी परम्पराएँ सुरक्षित हैं। श्री जगदीश चंद्र माथुर ने इन नाटकों को ठीक ही 'परम्पराशील नाट्य' की संज्ञा दी है।

बस्तर के भतरा नाट्य में वे सभी तत्त्व विद्यमान हैं, जो भारतवर्ष की परम्परागत एवं प्रतिष्ठित अन्य नाट्य-शैलियों में पाये जाते हैं। भरतमुनि ने जिस सोद्देश्यता की अपेक्षा नाटकों में की है, वह नाट्य जैसी शक्तिशाली रंगमंच विधा में पूरी तरह मौजूद है। वर्तमान रंगमंच भी संस्कृत रंगमंच की भाँति ही उद्देश्यपूर्ण लक्ष्य से विचलित होता जा रहा है। बिना सोद्देश्यता के प्रबुद्ध नागरजनों की कला एवं साहित्य अपनी सार्थकता एवं प्रासंगिकता

खोते जा रहे हैं। कला के लिए कला, एक्सर्ड थियेटर आदि इस तरह की प्रवृत्ति उपजी है। नाट जैसी रंगमंचीय विधा में परम्परा के समाहित होने के कारण उद्देश्यपूर्ण नाट्य कहीं भी अस्वाभाविक नहीं लगते हैं।

नाट की कथावस्तु के उद्गम पौराणिक प्रसंग ही हैं। परम्परागत आंचलिक नाटकों का विषय सम्पूर्ण भारत में पुराणों की कथाओं से अपनाया गया है। रामायण एवं महाभारत जैसे महान ग्रंथों में असंख्य कथा प्रसंग हैं, जो सीधे भारतीय जन-मानस से जुड़े हैं। बारहवीं शताब्दी के आसपास जब संस्कृत नाटकों का प्रभाव क्षीण होने लगा, तब उसी काल में परम्पराशील नाट्य-शैलियाँ अलग-अलग क्षेत्रों में विकसित हुईं। इन लोक-शैलियों का राज-दरबार आश्रित नाटकों के एवं धार्मिक कर्मकांड के प्रति विद्रोह की भावना के परिणाम स्वरूप ही विकास हुआ था। मध्यकाल में मुस्लिम शासन में भारतीय मूल्यों के रक्षार्थ सांस्कृतिक स्तर पर रंगमंच ने पौराणिक कथाओं को नाट्य के माध्यम से प्रचारित कर भागवत धर्म में समकालीन जन-मानस को बाँधकर रखा। रामलीला, रासलीला एवं अन्य अनेक पौराणिक आख्यानों को रंगमंच के माध्यम से विशाल जन समुदाय में लगातार जीवंत रखते हुए भागवत धर्म को बचाये रखा। यह कोई छोटी उपलब्धि नहीं थी।

बस्तर के नाट में प्रमुख नाट पार्टियों के जो विषय मुझे अपने अध्ययन के समय ज्ञात हुए, वे लगभग सभी पौराणिक कथाओं पर आधारित थे। अभिमन्यु वध, जरासंघ वध, कीचकवध, हिरण्यकश्यप वध, दुर्योधन वध, रावणवध, लक्ष्मीपुराण नाट, मेघनाद शक्ति वध, रूक्मिणी हरण, लंका दहन एवं कंस वध नामक नाट बस्तर के भतरा नाटों में सर्वाधिक प्रचलित हैं। इन सभी नाटों में अनीति पर सुनीति की, बुराई पर अच्छाई की विजय के माध्यम से रंगमंच की सोद्देश्यता को प्रतिष्ठित किया गया है। अभिमन्यु वध में अनैतिकता की शक्तियों का संगठित होकर नैतिकता व अच्छाई की शक्तियों के विरुद्ध युद्ध दर्शाया गया है। अनैतिकता की शक्तियों का साथ देने वाले योद्धा भीष्म पितामह का भी अंत नहीं टाला जा सकता। इस नाट में अभिमन्यु, अर्जुन, कर्ण, भीष्म आदि पात्रों के माध्यम से नैतिकता तथा अनैतिक शक्तियों का संघर्ष दर्शाया गया है, जिसमें किशोर अभिमन्यु बड़े-बड़े योद्धाओं के छक्के छुड़ा देता है और अंत में

मारा जाता है। इस नाट में एक जबर्दस्त संदेश निहित है कि अनीति के सम्मुख कभी आत्मसमर्पण मत करो, चाहे जान भी गंवानी पड़े। सम्पूर्ण नाट में दर्शक की भावनाएँ व मानसिकता अत्याचारी खलनायकों के विरुद्ध हो जाती है और जब खलनायकों का वध होता है तो दर्शक करतल ध्वनि से अपने हर्षोल्लास को अभिव्यक्त करते हैं। सम्पूर्ण नाट एक सोद्देश्य रंगमंच के रूप में नैतिक मूल्यों की विजय का सिर्फ संदेश ही नहीं देता, वरन् सांस्कृतिक प्रक्रिया के सूक्ष्म स्तरों पर जनमानस को नैतिक मूल्यों से जोड़कर अच्छाई की ओर उन्मुख भी करता है।

यद्यपि नाट के कथानक पौराणिक प्रसंगों से ग्रहण किए गये हैं, किन्तु आंचलिक नाट्य होने के कारण समसामयिक परिस्थितियों के प्रति सचेत दृष्टि के कारण सामाजिक विसंगतियों पर भी तीखे व्यंग्य एवं कटाक्ष किये जाते हैं। भारतीय लोकजीवन के ठेठ दहकानीपन से ऊपजे हास्य व्यंग्य से दर्शकों का मनोरंजन तो होता ही है, पर किसी न किसी स्तर पर वह समाज में व्याप्त अनाचार, शोषण एवं कुरीतियों पर प्रहार किए बिना भी नहीं रहता। 1964 की एक घटना का उल्लेख मैं यहाँ करना चाहूँगा। जगदलपुर से कोई नौ-दस मील की दूरी पर एक गाँव में नाट चल रहा था। नाट का प्रसंग था रावण वध। लंका-दहन के उपरांत कुंभकर्ण को रावण के अनुचर उसका संदेश पहुँचाने जाते हैं। वह छः मास की गहन निद्रा में सोया हुआ है। अनुचर वापस आकर रावण को इस बात की सूचना देते हैं। रावण और अधिक अनुचरों को आदेश देकर कुंभकर्ण को हर हालत में जगाने का आदेश देता है। अत्यंत हास्यपूर्ण वातावरण में भिन्न-भिन्न प्रकार की हरकतों द्वारा कुंभकर्ण को जगाया जाता है। नींद टूटने पर वह झल्लाकर चीखता है कि मैं राजा हूँ, मुझे क्यों जगाया जा रहा है। तब जगाने वाले अनुचरों में सम्मिलित विदूषक कटाक्ष करता है कि यह सरकारी राजा है। उन दिनों बस्तर के महाराजा प्रवीरचन्द्र को शासन ने गद्दी से हटाकर उनके छोटे भाई विजयचन्द्र को महाराजा बना दिया था, जिसे आदिवासी अस्वीकार करते हुए सरकारी राजा कहने लगे थे। यह कटाक्ष अपनी जगह बस्तर की उस समय की परिस्थितियों पर इतना सटीक था कि दर्शक कुंभकर्ण के रूप में सरकारी राजा का उपहास कर रहे थे।

इसी प्रकार का एक प्रसंग नाट में ही 1964-65 में ही देखने को मिला, जिसमें लंका दहन करने के पश्चात् वापस



लौटकर हनुमान ने राम को सम्पूर्ण घटना का वर्णन सुनाया। लंका दहन में अनेक स्थानों एवं भवनों के जलने के साथ ही लेवी के धान से भरे गोदामों का भी उल्लेख किया गया था। इस अवसर पर दर्शकों ने ठहाका लगाकर अपनी भावनाओं का प्रदर्शन किया। बात दरअसल यह थी कि उन दिनों बस्तर में फसल खराब हो गई थी, इसके बावजूद शासन ने जबरिया लेवी लगाकर घर-घर जाकर धान वसूला था, जिसके विरुद्ध आदिवासियों में गहरा असंतोष था।

नाट का मंचन खुले मैदान में आयोजित किया जाता है। भूमि से लगभग नौ इंच लकड़ी की पट्टियों को जोड़कर मंच बनाया जाता है। पात्रों के प्रवेश की ओर तखत व भूमि पर ढाल बनाते हुए तखते लगाये जाते हैं। ताकि पात्रों को आते-जाते व अभिनय करते समय किसी प्रकार की असुविधा न हो। मंच चारों ओर से खुला होता है, जिसके चारों किनारों पर लकड़ी के खम्बे गाड़कर ऊपर मण्डप चंदोबा तान दिया जाता है। मंच के ठीक पीछे भूमि पर साज-संगत एवं नाट गुरु बैठते हैं। नाटगुरु अपने सामने चौकी पर नाट चंपू रखते हैं। साज में मृदंग, हारमोनियम, नगाड़ा, मंजीरा व कभी-कभी प्रसंगानुकूल मोहरी (शहनाई सदृश्य सुषिर वाद्य) का भी प्रयोग किया जाता है। अधिकांश नाट युद्ध-प्रधान होते हैं। युद्ध दृश्यों के मंचन के समय नगाड़े बजाये जाते हैं। पात्रों के प्रवेश, विशेषकर योद्धाओं एवं खलनायकों के प्रवेश के अवसर पर भी तीव्रगति से उच्च स्वरों में बजाये जाते हैं। नृत्य या प्रणय आदि प्रसंगों पर हारमोनियम व मृदंग संगीत प्रस्तुत किया जाता है।

मंच के पार्श्व में लकड़ी के खम्बों पर दोनों ओर प्रकाश व्यवस्था हेतु गैस बत्तियाँ लटकाई जाती हैं। किसी-किसी स्थान पर युद्ध के दृश्य के समय युद्धरत पात्र लड़ते-लड़ते छोड़कर दूर तक चले जाते हैं, तब दोनों ओर की गैस बत्तियों को दो लोग उठाकर पात्रों के साथ-साथ आगे-पीछे होते रहते हैं।

मंच के चारों ओर दर्शकों के बैठने की व्यवस्था होती है। धान के पुआल को खुले प्रांगण में फैलाकर बिछा दिया जाता है, जिस पर दर्शक बैठते हैं। कुछ दर्शक विशेषकर महिलाएँ अपने साथ बोरे या गमछे लेकर आती हैं, जिन्हें पुआल पर बिछा कर अपने बैठने की व्यवस्था करती हैं। आमतौर पर मंच के समीप बच्चों व स्त्रियों के बैठने की व्यवस्था होती है। पात्रों का प्रवेश

दर्शकों के बीच से होता है। दर्शकों के बीच लगभग दस से बारह फीट चौड़ा गलियारा छोड़ा जाता है। पात्रों की वेशभूषा एवं श्रृंगार हेतु लगभग सौ गज की दूरी पर किसी घर में या बाँस के टट्टों से घेर कर व्यवस्था की जाती है। नाटगुरु द्वारा प्रसंग गायन से सम्बद्ध नाट के पात्र दर्शकों के बीच छोड़े गये गलियारे से नृत्य एवं अभिनय करते हुए मंच पर प्रवेश करते हैं। योद्धा पात्र अपनी गदा को हवा में नचाते हुए व नृत्य करते हुए तीव्रगति से प्रवेश करते हैं। उस समय पार्श्व में बैठे वादक तीव्र गति से नगाड़ा बजाते हैं। सम्पूर्ण गलियारे की लम्बाई लगभग दो सौ फुट होती है, जिसका उपयोग भी प्रवेश के साथ-साथ रंग-मंच की भाँति ही किया जाता है। प्रत्येक नाट में श्रोताओं की संख्या दो हजार से दस हजार तक होती है। दर्शकों के कुछ दूरी पर पान-बीड़ी, चाय-फल, खोंचे आदि की दुकानें लग जाती हैं। ग्राम में आने वाले सभी मार्ग पर गाँव के लोग दर्शकों के स्वागत में आम के पत्तों व टहनियों से स्वागत द्वार बनाते हैं तथा पत्तों की बंदनवार रास्तों पर जगह-जगह बाँध देते हैं। सम्पूर्ण आयोजन उत्सव एवं समारोह का रूप ग्रहण लेता है।

जब किसी गाँव में नाट का आयोजन किया जाता है तो उस गाँव के आसपास लगने वाले साप्ताहिक हाट में कोटवार आम की एक टहनी को तोड़कर हिला-हिलाकर उद्घोषण करता है। कोटवार का आम की टहनी को हाथ में लेकर हिलाना आदिवासियों में किसी महत्वपूर्ण उद्घोषणा का सूचक माना जाता है। वह हाट के सभी हिस्सों में जाकर घोषित करता है कि अमुक दिन अमुक गाँव में अमुक नाट का आयोजन किया गया है। यदि नाट के आयोजन की तिथि के पूर्व उस क्षेत्र में एक से अधिक हाट लगती है तो उन सभी में इसी तरह की उद्घोषणा की जाती है। नाट की रात्रि में आसपास के लगभग बीस-बीस किलोमीटर दूर तक से दर्शक सायकिलों पर या पैदल चलकर आते हैं। नाट नौ-दस बजे रात्रि में आरंभ होता है और प्रातःकाल तक चलता है।

नाट में काम करने वाले सभी रंगकर्मी पुरुष होते हैं और वे जहाँ तक सम्भव हो सके, एक ही गाँव के होते हैं। नाट में स्त्री पात्रों की भूमिका भी पुरुष कलाकार ही निभाते हैं। मध्यकाल में विकसित हुए अधिकांश आंचलिक नाटकों में स्त्री पात्रों का निर्वाह पुरुष कलाकार ही करते हैं।

नाटक का पूर्वरंग से आरंभ नाटगुरु द्वारा मंगलाचरण से किया जाता है। गणेशजी का मुखौटा लगाकर एक पात्र सूत्रधार के साथ मंच पर उपस्थित होता है। गणेश मंच के बीचों-बीच आकर खड़े होते हैं। नाटगुरु सूत्रधार के साथ गणेश वंदना करते हैं और उनसे नाट के आयोजन को निर्विघ्न सम्पन्न होने का आशीर्वाद प्राप्त करते हैं। आशीर्वाद प्रदान कर गणेश जी सूत्रधार के साथ प्रस्थान करते हैं। इसके उपरांत नट-नटी एवं सूत्रधार का आगमन होता है। नट-नटी व सूत्रधार नृत्य प्रस्तुत करते हैं और फिर आपस में संवाद होता है। नटी इतने दर्शकों के एकत्रित होने का अभिप्राय सूत्रधार से जानना चाहती है। सूत्रधार बताते हैं कि आज यहाँ नाट का आयोजन किया गया है। नटी पूछती है कि सूत्रधार आज किस नाट का मंचन होगा। सूत्रधार किसी नाट का नाम लेता है और नटी से पूछता है कि क्या उसे वह नाट पसंद है?... नहीं अस्वीकृति की मुद्रा में सिर हिलाती है। सूत्रधार एवं नटी में एक के बाद दूसरा तथा दूसरे के बाद तीसरा अनेक नाटों के प्रस्ताव एवं अस्वीकृति के संवाद चलते जाते हैं, तब अंत में खीझकर सूत्रधार ही नटी से पूछता है कि उसे कौन-सा नाट प्रिय है? नटी अपने प्रिय नाट का नाम बताकर उसके गुणों का वर्णन करती है और अंत में सूत्रधार नटी के प्रस्ताव पर सहमति में नाट प्रस्तुत करना स्वीकार कर लेता है। इस सम्पूर्ण प्रसंग में आधे घण्टे का समय लग जाता है। तब तक दर्शक की मानसिकता नाट से जुड़ चुकी होती है और सभी दर्शक शांत भाव से अपने-अपने स्थान पर नाट आरंभ होने की प्रतीक्षा करने लगते हैं। पूर्वरंग में वाद्य, संगीत, गणेश-वंदना, हास-परिहास तथा मंच की व्यवस्था तथा नाट की प्रस्तावना आदि कार्य सम्पन्न हो जाते हैं।

### प्रसाधन एवं वेशभूषा

नाट में प्रसाधनों का अत्याधिक महत्त्व है। चूँकि नाट के कथानक पौराणिक आख्यानों से लिए गए हैं, इसलिए सभी पात्रों का प्रसाधन मार्गीय अंगराग विधि से ही किया जाता है। कलाकारों के चेहरों पर चरित्र के अनुरूप रंगों का प्रयोग किया जाता है। लाल-पीले एवं हरे रंगों से चेहरों को रंगा जाता है तथा काले रंग से आँखों की पलकों एवं भौहों तथा मूँहों को बनाया जाता है। नाट में यक्षगान एवं कथकली की भाँति ही रंगों का चयन किया जाता है। जिन पात्रों को मुखौटे लगाकर अभिनय करना होता है, उनके हाथों-कंधों आदि पर रंगों के लेप किए जाते हैं। पात्रों की सज्जा,

उत्कल में प्रचलित आंचलिक नाटकों के पात्रों की सज्जा के अधिक समीप प्रतीत होती है।

नाट की वेशभूषा अत्यंत भव्य एवं कीमती होती है। वेशभूषा साटिन, मखमल, रंग-बिरंगी मोतियों एवं रंगीन रेशमी धागों के कसीदे से तैयार की जाती है। योद्धाओं के लिए केवल ऊपर का वस्त्र ही प्रयोग में लाया जाता है। अधोवस्त्र के स्थान पर रंगीन जांघिये या रंगीन धोतियाँ पहनाई जाती हैं। आदर्श पुरुषों हेतु उत्तरीय एवं अधोवस्त्र दोनों का ही प्रयोग किया जाता है। राम-लक्ष्मण, कृष्ण-अर्जुन आदि पात्र इसी श्रेणी में आते हैं। लंका दहन नाट में हनुमानजी को सिर्फ लाल रंग का लंगोट पहनाया जाता है, जिसके किनारे पर चमकीला गोटा लगा होता है तथा कलाकार के सम्पूर्ण शरीर को लाल रंग दिया जाता है। उत्तरीय वस्त्रों के नीचे की पट्टी के साथ तिकोनी पट्टियाँ काटकर सिलाई कर दी जाती हैं जो प्राचीन काल के यूनानी योद्धाओं की वेशभूषा के समान दिखाई पड़ती है। वेशभूषा का विकास मुसलमान शासन काल में दरबारों में प्रचलित वेशभूषा एवं प्राचीन यूनानी नाट्य प्रभाव से विकसित वेशभूषा का मिला-जुला स्वरूप है। मुस्लिम शासन में जामा पहनने का प्रचलन था। नाट के योद्धा पात्रों के पैरों को घुटनों के ऊपर जंघा तक रंग दिया जाता है। अधिकांश पात्र नंगे ही रहते हैं।

नाट में चमकदार चटकीले रंगों के कपड़ों के प्रयोग का एक कारण तो पौराणिक पात्रों की भव्यता को स्थापित करना है तथा दूसरा गाँवों में प्रकाश की कमी को वस्त्रों की तड़क-भड़क से पूरा करना होता है। दर्शक इस तरह की वेशभूषा से ही सज्जित होते हैं, किन्तु साधारण पात्रों, भीड़ के पात्रों को और विदूषक को साधारण वस्त्र पहनाये जाते हैं।

गणेश, जामवंत, हनुमान, ताड़का, नृसिंह, बालि, सुग्रीव आदि पात्रों हेतु मुखौटे प्रयोग में लाये जाते हैं, जो कागज की लुगदी के बने होते हैं। ये मुखौटे जगन्नाथपुरी के बने होते हैं तथा आकार में मथुरा व काशी के मुखौटों से बड़े तथा अधिक कलात्मक होते हैं। रावण बने कलाकार के दस सिरों को दर्शाने हेतु कभी-कभी गत्ते के एक लम्बे पुट्टे पर लगे मुखौटों का प्रयोग किया जाता है, किन्तु अधिकांश समय रावण एक ही सिर में प्रस्तुत किया जाता है। दस सिर वाले मुखौटे छोटे मंच पर अभिनय में अवरोध

उत्पन्न करते हैं। उड़ीसा के दशपल्ला कस्बे में रामलीला नाट में काष्ठ के बने मुखौटों का प्रयोग भी होता है। साधारण दैनिक जीवन में आए हुए पात्र, साधु, भिखारी, भृत्य आदि को स्वाभाविक वेशभूषा में ही प्रस्तुत किया जाता है। हाँ, साधुओं एवं ऋषिओं के लिए लम्बे सफेद बालों की दाढ़ी-मूँछ लगा दी जाती है।

अपनी गदा को नचाते हुए गलियारे से मंच तक कई चक्कर लगाकर यह स्थापित किया कि वे योद्धा हैं तथा लंका में निर्भीक होकर भ्रमण कर रहे हैं। इसी नाट के एक अन्य दृश्य में राम और लक्ष्मण धीमी गति से मंच पर प्रवेश करते हैं, पीछे-पीछे मुखौटा लगाए जामवंत काले रंग के वस्त्रों में प्रवेश करते हैं। गलियारे से गुजरते समय जामवंत का अभिनय करने वाला रंगकर्मी दर्शकों के साथ भी छेड़छाड़ करते हुए मंच की ओर बढ़ता है। उसने कुछ आगे की ओर झुके हुए कुबड़े की भाँति तथा अपनी दोनों भुजाओं को मानों लटकाये हुए सर्वप्रथम तो यह स्थापित किया कि वह भालू है। मंच पर पहुँचते ही राम जब जामवंत से परामर्श लेने लगते हैं तथा लंका जाने हेतु समुद्र पार करने में आए हुए अवरोध के प्रति अपनी चिंता प्रकट करते हैं, तो वही रंगकर्मी अपनी गदा एवं तलवार को जिस तरह लेकर खड़ा होकर राम को परामर्श देता है, तो दर्शकों पर तुरंत यह प्रभाव पड़ता है कि वह कोई वयोवृद्ध एवं अनुभवी सेनापति है।

रावण का प्रवेश जब-जब मंच पर होता है, तब-तब जोर-जोर से नगाड़े बजने लगते हैं। हाथ में तलवार लिए रावण दर्शकों के बीच से होता हुआ अपने पैरों की ठोकर से धूल उड़ता हुआ तीव्रगति से मंच पर प्रवेश करता है। रावण के पीछे-पीछे राक्षसी मुखौटे लगाए उसके अनुचर ऊट-पटांग हरकतें करते हुए मंच पर आते हैं। रावण अकारण ही जोर-जोर से हँसता है, और फिर क्रोध होकर राम की वानर सेना को उठाकर समुद्र में फेंक देने का आदेश अपने अनुचरों व सैनिकों को देता है। रावण के क्रोधित होने का अभिनय करते समय रंगकर्मी नेत्रों को विस्फारित करता है। उसके नथुने फूल जाते हैं, क्रोध से उसके कंधे काँपने लगते हैं और फिर एकाएक वह उसी मुद्रा में अट्टहास कर उस क्षण अत्यंत नाटकीय स्थिति उत्पन्न करता है। रावण के लिए अभिनेता का चुनाव करते समय उसके शारीरिक सौष्ठव एवं डील-डौल का ध्यान रखा जाता है। रावण के अनुचरों का मेकअप व राक्षसों के मुखौटे गहरे हरे-काले व नीले रंगों में होते हैं। रावण गले में

मोटे-मोटे स्वर्णिम कंठे व गुरियों की मालाएँ धारण किए हुए होता है। रावण के खलनायक चरित्र का स्वरूप सम्पूर्ण भारत के आंचलिक नाटकों में प्रायः एक सा ही होता है। हाँ, रंगकर्मी अपने अनुभव एवं अपनी प्रतिभा से उसमें वैविध्य उत्पन्न कर रस पैदा करता है। राम, सीता, लक्ष्मण जैसे पौराणिक पात्रों को किरीट धारण किए हुए दर्शाया जाता है। रावण व दुर्योधन को भी नाट में किरीट धारण किए हुए प्रस्तुत किया जाता है, जिसका उद्देश्य यह स्थापित करना है कि वे राजा हैं। राम व कृष्ण के लिए अधिकतर कम उम्र के सुन्दर सुकुमार पात्रों का चयन किया जाता है।

रथ, नौका या राजगद्दी आदि की प्रस्तुति कलाकार अभिनय द्वारा ही करते हैं। कीचक वध में कीचक तथा उसकी रानी के बीच के संवादों में कीचक एक पैर का घुटना मोड़कर बैठता है तथा दूसरे पैर की जंघा पर अपनी रानी को बैठाकर यह स्थापित करता है कि वह सिंहासन पर बैठे हैं। लोकजीवन से उपजे हुए अनुभव का पुट नाट में अनेक स्थानों पर स्पष्ट दिखाई पड़ता है। कीचक वध में रस एवं नाटकीय स्थिति के उत्कर्ष हेतु रंगकर्मियों ने अनेक प्रकार के मल्लयुद्ध, गदायुद्ध एवं तलवार बाजी आदि का दक्षतापूर्वक समावेश किया है। मल्लयुद्ध के करतब व तलवार बाजी के अत्यंत सुदीर्घ दृश्यों का संयोजन इस नाट में किया जाता है, जो दर्शकों को रस प्रदान करते हैं तथा उन्हें नाट में बाँधे रखते हैं।

### पाठ, वाचन, नाटगुरू

नाट की पोथी या चम्पू के विषय में पहले ही लिखा जा चुका है। नाट गुरू जो स्वयं भी एक अच्छे गायक होते हैं। चम्पू से नाट के दृश्यों का वाचन करते हैं। जो पद्यबद्ध होता है। वाचन में कभी-कभी नाट के गुरू के साथ एक या दो सहयोगी गायक भी होते हैं। पात्र अपने संवाद स्वयं बोलते हैं जो भतरी बोली में गद्य में रचित होते हैं। कभी-कभी कुछ संवाद विशेषकर युद्ध के अवसर पर नाट गुरू ही बोलते हैं, रंगकर्मी उसके अनुरूप अभिनय करते हैं। नाट में वाचन एवं संवादों को उच्चस्वर में उच्चारित किया जाता है, जिससे कि दूर तक बैठे हुए श्रोता भी ठीक प्रकार से सुन सकें। आजकल कहीं-कहीं माइक्रोफोन का प्रयोग होने लगा है। सहयोगी वाचक ही कालांतर में प्रशिक्षित होकर नाट गुरू बन जाते हैं।

नाट में सूत्रधार की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। वह नाट की प्रस्तावना तो प्रस्तुत करता ही है, परन्तु साथ ही साथ वह बाद के सम्पूर्ण दृश्यों में विदूषक का भी अभिनय करता है। नाट के सम्पूर्ण कथ्य से विज्ञ होने के कारण उसके महत्वपूर्ण स्थलों पर वह टिप्पणियाँ भी करता जाता है। विदूषक दर्शकों के मनोभावों पर भी ध्यान रखता है, वह नाट में ऊब या एकरसता पैदा होने पर हास्य उत्पन्न करने की चेष्टाएँ करता है। सूत्रधार नाट के विभिन्न स्थलों पर समकालीन समस्याओं पर टिप्पणियाँ भी बीच-बीच में करता रहता है, जिससे दर्शकों का मनोरंजन होता है।

दृश्य परिवर्तन में जब विलम्ब होने लगता है तो रंगमंच पर नट-नटी या विदूषक और नटी आकर नृत्य एवं गान प्रस्तुत करने लगते हैं। ऐसे ही अवसरों पर दर्शक अपने मनपसंद लोकप्रिय गीतों की फरमाईश भी करते हैं, जिनकी प्रस्तुति के बाद दर्शक प्रसन्न होकर मंच पर पहुँचकर नटी की साड़ी पर नोट को पिन से लगाने की भाँति अटका देते हैं। विदूषक उस दर्शक नाम घोषित कर कृतज्ञता प्रकट करता है। माड़पाल के लक्ष्मीधर द्वारा दो टका भारतीय मुद्रा की भेंट ... धन्यवाद। इस तरह दर्शक का आत्मीय सम्बन्ध रंगमंच से सतत् बना रहता है। विदूषक कभी हाथ में आड़ी-टेढ़ी लकड़ी लेकर, तो कभी उल्टी-सीधी मूँछे लगाकर, तो कभी विचित्र मेकअप करके या विचित्र ढंग से कपड़े पहनकर रंगमंच पर भिन्न-भिन्न मुद्राओं व रूपों में आता है और सदैव कौतुक व हास्य की सृष्टि करता रहता है।

### नाट एवं दर्शकों का सम्बन्ध

बस्तर के भतरा आदिवासियों में नाट अत्यंत लोकप्रिय है। वैसे तो नाट का मौसम फरवरी से ही आरंभ हो जाता है। किन्तु अप्रैल और मई में सर्वाधिक नाटों का मंच न होता है। अप्रैल-मई बस्तर में ग्रीष्म ऋतु के महीने हैं, जून में वर्षा आरंभ हो जाती है। अतः ग्रामीण अपने कृषि कार्य में लग जाते हैं। ग्रीष्म ऋतु में कुछ स्थानों पर देवताओं की जात्राएँ होती हैं। अक्षय तृतीया के आसपास सर्वाधिक विवाह सम्पन्न होते हैं। ग्रामीणों के लिए ये महीने फुर्सत के होते हैं। इन महीनों में ही नाट के आयोजन किए जाते हैं। दर्शक नाट देखने हेतु दूर-दूर से आते हैं। जगदलपुर में मजदूरी करने हेतु जाने वाले अनेक ग्रामीण नाट के दिनों में अपने काम पर दो-दो सप्ताह नहीं जाते और घूम-घूमकर आसपास के गाँवों

में नाट देखते रहते हैं। नाट के दर्शकों की संख्या कहीं-कहीं दस हजार से भी अधिक हो जाती है। नाट कलाकार पहले बैलगाड़ियों पर अपना साज-सामान लाद कर आते थे। आजकल ये कलाकार साइकिलों पर ही अपना साज-सामान रखकर नाट स्थल पर पहुँच जाते हैं। बस्तर में नाट के दो क्षेत्र प्रमुख हैं- पहला जगदलपुर के पूर्व में उड़ीसा सीमा से लगा क्षेत्र, दूसरा मानपुरी से केसरपाल तक के क्षेत्र में लगभग पंद्रह से बीस नाट पार्टियाँ सक्रिय हैं। नाट के रंगकर्मियों को गाँव में सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है।

बस्तर में नाट की वर्तमान स्थिति एक पूर्ण विकसित नाट्य-विधा के रूप में है। पश्चिमी उड़ीसा के विस्तृत क्षेत्र में भी नाट एक सशक्त नाट्य-शैली के रूप में सक्रिय है। भतरा लगभग पाँच शताब्दियों की रंगमंचीय यात्रा के दौरान नाट बस्तर में पहुँचकर वहाँ की जनजातियों के प्रभाव से सम्पृक्त हुआ है और उसमें बस्तर की जनपदीय संस्कृति ने उसमें रंग भरे हैं। बस्तर के आंचलिक तत्त्वों को समाहित कर बस्तर का नाट अपनी स्वतंत्र और अलग पहचान रखता है। उड़िया नाट से वह अनेक मायनों में न सिर्फ अलग एवं स्वतंत्र है, वरन् वह कई दृष्टियों से अधिक रोचक व सम्पन्न भी है। आदिवासियों के जीवन में घुल-मिलकर वह अनेक रूढ़ियों से मुक्त हुआ है। और लोक के जीवंत तत्त्वों को, विशेषकर उन्मुक्त हास्य को समाहित कर अधिक प्रभावशाली बन गया है।

नाट की लोकप्रियता व उसका व्यापक दर्शक वर्ग देखकर सुखद आश्चर्य होता है कि बस्तर जैसे आदिवासी अंचल में रंगमंच का इतना बड़ा दर्शक वर्ग है। नाट की लोकप्रियता पिछले बीस वर्षों में जरा भी कम नहीं हुई। कुछ ग्रामीणों का तो कहना है कि नाट का प्रचलन व उसकी लोकप्रियता गत आठ-दस वर्षों में और भी अधिक बढ़ी है। इसका एक कारण इस मौसम में इमली व साल बीज के संकलन में होने वाली आय में वृद्धि भी है। इन वर्षों में साल बीज के संकलन से आदिवासियों को अच्छी आय के दो श्रोत मिल गये हैं, इसलिए ग्रीष्म ऋतु में जो नाट के आयोजनों का भी मौसम है, नाट के प्रति दर्शकों में एक नया उत्साह पैदा हुआ है। नाट का भविष्य तो बस्तर में सुरक्षित एवं उज्ज्वल है ही, किन्तु उसमें नई संभावनाएँ भी रंगकर्मी विकसित कर रहे हैं। यदि नाट की यात्रा पौराणिक पृष्ठभूमि वाले तथ्य से आधुनिक भावबोध से जुड़ने की ओर उन्मुख होती है तो उसके

परिणाम चमत्कारिक होंगे। नृतत्व शास्त्रियों एवं समाजशास्त्रियों के अध्ययन हेतु यह एक नई चुनौती होगी कि कैसे आदिवासियों ने एक बाहर की रंगमचीय शैली अपनाया और समकालीन वास्तविकताओं के दबाव से प्रेरित होकर उसे आधुनिक भावबोध की ओर उन्मुख किया।

## साँग

स्वाँग हरियाणा का एक लोकनाट्य स्वरूप है। यह लोकनाट्य उत्तरप्रदेश एवं राजस्थान के भी कुछ क्षेत्रों में विद्यमान है। परन्तु उत्तरप्रदेश में स्वाँग एक प्रकार से वहाँ के दूसरे लोकनाट्य स्वरूप नौटंकी में घुल-मिल गया है। राजस्थान में इसके साथ-साथ एक अन्य लोकनाट्य स्वरूप ख्याल विद्यमान है जो इस नाट्य रूप से कहीं अधिक विकसित है। दरअसल नौटंकी, ख्याल एवं स्वाँग तीनों ही लोकनाट्यों का उद्भव एक ही परंपरा से हुआ है। वह परंपरा है ख्याल गायिकी एवं लावणी। ख्याल गायिकी के साथ अभिनय के तत्त्व जुड़ने के फलस्वरूप ही इन तीनों लोकनाट्यों का विकास हुआ। इन लोकनाट्यों ने उत्तरप्रदेश, राजस्थान एवं हरियाणा में वहाँ के जीवन में रचबस कर वहाँ के सांस्कृतिक तत्त्वों को आत्मसात् कर लिया और अपनी स्वतंत्र पहचान स्थापित कर ली। हरियाणा पूर्व में पंजाब का ही एक अंग था। अतः स्वाँग का विस्तार पंजाब में भी हो गया था। यह एक विचित्र बात है कि पंजाब में लोकनाट्य का अपना स्वतंत्र कोई स्वरूप विद्यमान नहीं है। वहाँ नकल जैसे कुछ हल्के-फुल्के प्रहसन होते हैं, जो भांड जाति के लोग विवाह आदि उत्सवों में प्रस्तुत करते हैं या होली के अवसर पर स्वाँग भरकर लोग मनोरंजन कर लेते हैं। पंजाब के लोकनृत्य तो काफी समृद्ध हैं, परन्तु लोकनाट्य का वहाँ विकास न होना कुछ विचित्र लगता है।

ख्याल एवं नौटंकी की तुलना में स्वाँग कुछ कम विकसित लोकनाट्य प्रतीत होता है। हरियाणवी उच्चारण के कारण यहाँ इसे साँग कहते हैं। उत्तरप्रदेश, राजस्थान तथा हरियाणा तीनों ही स्थानों के स्वाँग में स्थानीय जीवन के रंगों की क्षेत्रीय समृद्धि तो दिखाई पड़ती है, परन्तु साथ ही इनमें काफी समानता एवं एकरूपता भी विद्यमान है। ख्याल की ही भाँति इस लोकनाट्य का उद्भव भी आगरा और दिल्ली के दरम्यान हुआ, जहाँ से इसका विस्तार राजस्थान, उत्तरप्रदेश, हरियाणा और पंजाब में हुआ। इस लोकनाट्य

की आंतरिक संरचना एवं इनके द्वारा प्रस्तुत नाटकों एवं उनके विषय में भी काफी समानता मिलती है। स्वाँग शब्द काफी पुराने समय से प्रयोग में मिलता है। स्वाँग करना, स्वाँग भरना, स्वाँग रचना कुछ ऐसे मुहावरे हैं, जो हम अपने दैनन्दिन जीवन में प्रयोग करते रहते हैं। स्वाँग नकल उतारने, अभिनय कर ढोंग करना, दिखावा या प्रदर्शन करना, प्रहसन (Farce) आदि के लिये प्रयुक्त होता है। किसी व्यक्ति के ढोंगी चरित्र के अपकर्ष हेतु भी स्वाँग जैसे शब्द का प्रयोग होता है। उत्तर भारत में होली के अवसर पर सर्वत्र ही स्वाँग भरे जाते हैं, परन्तु हम उन्हें नाट्य की श्रेणी में नहीं रख सकते। हरियाणा का स्वाँग एक पूर्ण विकसित नाट्य रूप है।

हरियाणा में ख्याल की परम्परा भी रही है। दरअसल वह राजस्थान की ख्याल परम्परा का ही विस्तार। मुंडावर के अलीबख्श अपने ख्यालों का प्रदर्शन हरियाणा रेवाड़ी गुड़गाँव, नारनौल एवं दिल्ली आदि शहरों में किया करते थे। रेवाड़ी उनका प्रिय स्थान था। उन्होंने अपने सभी ख्यालों का मंचन वहाँ किया था। अपने एक ख्याल में उन्होंने इस बात का उल्लेख इस रूप में किया है—

*रेवाड़ी बना रहे गुलजार।*

*तमाशा किया बीच बाजार।।*

ख्यालों की यह परम्परा हरियाणा में दो कारणों से क्षीण हो गई। पहला कारण तो वहाँ साँग के रूप में उनके अपने लोकनाट्य का विकास होना था और दूसरा कारण यह था कि अलीबख्श की मृत्यु पैंतालीस वर्ष की उम्र में ही हो गई और उनकी मंडली उनकी मृत्यु के उपरांत धीरे-धीरे बिखर गई। मथुरा, कामा, हाथरस आदि क्षेत्रों की नौटंकी मंडलियाँ अपने प्रदर्शन करने के लिये आती अवश्य थी, परन्तु उनका स्थायी प्रभाव वहाँ नहीं बन सका।

स्वाँग में चरित्रों के द्वारा वहाँ समाज के अलग-अलग वर्गों के चरित्रों की नकल एवं अभिनय को देखकर भी सामान्यजन मनोरंजन कर लेते हैं। हरियाणा के साँग शब्द की उत्पत्ति अनेक विद्वान 'सांगीत' से मानते हैं जो संस्कृत भाषा के शब्द संगीतक से उद्भूत है।

इन विद्वानों के मतानुसार सांगीत शब्द साँग और गीत से निकलकर बना है, जिसका अर्थ है अभिनय और गान का योग।

डॉ. जगदीश चन्द्र माथुर इस शब्द की उत्पत्ति संस्कृत शब्द संगीतक से मानते हैं। मेरे पास दिल्ली की एक लिथोप्रेस से छपी हुई लोकनाट्य की पुस्तक है, जिस पर 'सांगीत' छपा हुआ है।

स्वाँग लोकनाट्य का विकास ख्याल और नौटंकी के रूप में अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में हुआ, या उसके भी बाद में उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभिक 'ब्रिटिश शासन के कायम होने के साथ स्वाँग का उद्भव उत्तरी, पश्चिमी और पूर्वी भारत की भाषाओं के विकास के समकालीन रूप में हुआ। इनका इतिहास बहुत प्राचीन समय तक नहीं जाता।' रामनारायण अग्रवाल इन लोकनाट्यों का उद्भव पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में मानते हैं या उससे भी पहले। मेरे विचार से ख्याल, नौटंकी एवं स्वाँग बहुत अधिक प्राचीन लोकनाट्य रूप नहीं हैं। इन सभी नाट्य रूपों का सम्बन्ध शहरों, कस्बों और गाँवों से रहा है और ये सभी इनके प्रदर्शन स्थल रहे हैं।

स्वाँग, नौटंकी और ख्याल जितना समृद्ध लोकनाट्य नहीं बन पाया। स्वाँगों की विषय-वस्तु यद्यपि प्रेम-गाथाओं पर या ऐतिहासिक चरित्रों पर आधारित हैं, परन्तु हरियाणा के कलाकार अपनी विनोदवृत्ति एवं सहजवृत्ति के बल पर सामाजिक विसंगतियों पर पैसे कटाक्ष व्यंग्यपूर्ण टिप्पणियाँ करने में सक्षम हैं। ये ही गुण स्वाँग को समसामयिकता से जोड़ते हैं। स्वाँग के कलाकारों द्वारा सामाजिक विसंगतियों पर की जाने वाली स्वाँगपूर्ण टिप्पणियाँ ऐतिहासिक एवं प्रेम-प्रसंगों पर आधारित नाटकों को भी समकालीन परिवेश से जोड़ देती है, और ऐसा प्रतीत नहीं होता कि हम कोई ऐतिहासिक नाटक देख रहे हैं। सम्बन्धों पर आधारित प्राचीन गाथाएँ या ऐतिहासिक वीर पुरुषों की गाथाएँ स्वाँग नाटकों का आधार हैं। ऐसी प्राचीन गाथाओं का अठारहवीं शताब्दी के आरंभिक काल से नाट्य रूपांतरण होने लगा और उनका प्रदर्शन मंचीय कला के रूप में स्थान पाने लगा। शहजादी नौटंकी कथा या लैला-मजनूँ और शीरी-फरहाद की ऐसी ही हैं जिनका पहले गाथाओं के रूप में विकास हुआ और कालान्तर में नाटकों के रूप में। ये सभी कथाएँ ख्याल, नौटंकी और स्वाँग में समान रूप से विद्यमान हैं। पंजाब में हीर-राज्ञा और राजस्थान में ढोलामारू की अत्यंत प्रसिद्ध प्रेम-गाथाएँ हैं, जिनका नाट्य रूपांतरण क्रमशः स्वाँग और ख्याल लोकनाट्यों में हुआ है। शशि पुन्नु भी राजस्थान की एक प्रसिद्ध लोकगाथा है, जिस पर ख्याल बन चुके हैं। इन

गाथाओं का प्रचार-प्रसार मध्ययुग में सूफी संतों ने प्रेम के संदेश के रूप में किया। ये गाथाएँ सम्पूर्ण उत्तर भारत में व्याप्त हैं और उन्होंने स्थानीय तत्त्वों का भी अपने में समावेश कर लिया है। गंगा के उत्तरी जनपद की गाथा लोरिकी छत्तीसगढ़ में लोरिकचन्दा के रूप में भी प्रचलित है और यहाँ के लोग यह मानते हैं कि यह गाथा यहीं की है और उसका सम्बन्ध आरंग नामक प्राचीन नगर से है। नौटंकी की कथा का सम्बन्ध भी पंजाब के सियालकोट से है, परन्तु इस नाटक का प्रभाव उत्तरप्रदेश के सांगीत पर ऐसा जबरदस्त पड़ा कि इस विधा का नाम ही नौटंकी हो गया, परन्तु हरियाणा और पंजाब में इसका नाम स्वाँग ही बना रहा।

उत्तरप्रदेश एवं हरियाणा में प्रेम-गाथाओं पर आधारित और भी नौटंकियों और स्वाँगों की रचना हुई है। प्रेमगाथाओं को लोक नाटकों का विषय बनाकर पंडित नत्थाराम शर्मा ने एक दर्जन के लगभग नौटंकियाँ लिखी हैं। वहीं हरियाणा के लक्ष्मीचंद और दीपचन्द ने लगभग एक दर्जन स्वाँग लिखे हैं, जिनमें कुमार निहालदे, चन्द्र किरण और सारंदा बहुत प्रसिद्ध हुए। लक्ष्मीचंद एवं मास्टर हरिराम ने निरंतर स्वाँगों के प्रदर्शन हरियाणा के ग्रामीण अंचल में आयोजित करके इस नाट्य रूप को काफी फैलाया है। हरियाणा में इन दोनों स्वाँग कर्त्ताओं के नाम से हरियाणा के ग्रामीण अंचल का प्रत्येक व्यक्ति परिचित है।

स्वाँग का मंच साधारण होता है, जो भूमि से लगभग चार-पाँच फीट ऊँचा होता है। इस मंच को कुछ तख्तों को जोड़कर बनाया जाता है। हरियाणा में ऐसे तख्त अनेक परिवारों से मिल जाते हैं। यदि किसी मकान का अच्छा बड़ा-सा चबूतरा गाँव में उपलब्ध हो तो उसे ही मंच के रूप में उपयोग कर लिया जाता है। मंच के पीछे की ओर संगत बैठती है। ये लोग मंच का एक तिहाई स्थान अपना लेते हैं। बिजली आने के पूर्व ऐसे आयोजन पचास और साठ के दशक में मिट्टी तेल के पेट्रोमेक्स की रोशनी में प्रस्तुत किये जाते थे। इन पेट्रोमेक्स का ग्रामीण अंचल में गैस का हंडा कहते हैं। आमतौर पर चार-छः हंडे पर्याप्त होते थे। अब भी मण्डलियाँ आपात स्थिति हेतु कुछ हंडे साथ रखती हैं। दो हंडे मंच पर तथा शेष दो या चार हंडे सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करने हेतु उपयोग में लाए जाते थे। वर्तमान समय में हरियाणा के प्रत्येक गाँव में बिजली उपलब्ध है। स्वाँग में प्रयोग लाये जाने वाले संगीत वाद्यों में ढोलक, तबला, हारमोनियम और कहीं-कहीं एक जोड़ी नगाड़े प्रमुख हैं।

स्वाँग की वेशभूषा अत्यंत सामान्य है। हरियाणा के ग्रामीण जिस प्रकार की वेशभूषा धारण करते हैं, वैसी ही वेशभूषा स्वाँग के पात्र भी पहनते हैं। पुरुष पात्र धोती-कमीज पर जैकेट या कोट सिर पर रंगीन साफा, जिसका एक छोर पीछे की ओर लटकता रहता है और दूसरा छोर तुरे की भाँति लहराता रहता है। स्त्री-पात्रों की भूमिका भी पुरुष कलाकार ही करते हैं। स्त्रियाँ स्वाँग में अभिनय नहीं करती। स्त्रियों की वेशभूषा में टखनों से छः-सात इंच ऊँचा कलीदार घाघरा जिसका घेर काफी अधिक होता है। उसके नीचे घुटनों या पिण्डलियों तक लम्बा चिपकता हुआ पैजामा, ऊपर हरियाणा शैली की कुर्ती और ओढ़नी। स्त्री-पात्रों के चेहरे घूँघट से आधे ढके हुए होते हैं। सभी स्त्री पात्र पाँवों में घुँघरू बाँधते हैं।

स्वाँग के अधिकांश कलाकार वयस्क होते हैं तथा उनका शरीर सौष्ठव से बलिष्ठ होता है। स्त्री पात्रों हेतु अन्य लोक नाट्यों की भाँति कमसिन एवं सुन्दर चेहरों वाले कलाकार आवश्यक नहीं समझे जाते। स्त्रियों का अभिनय करने वाले पात्र ही अधिकतर नृत्य करते हैं। इनके नृत्य ओजपूर्ण एवं तीव्रगति वाले होते हैं। नृत्य में नर्तक ऊँचे उछल-उछल कर कूदते हैं। अनेक बार इन नृत्यों में तख्त भी टूट जाते हैं। जितने ओजपूर्ण नृत्य होते हैं, उतने ही ऊँचे स्तर पर नगाड़े बजाये जाते हैं। कभी-कभी नगाड़ों का चमड़ा भी फट जाता है। इन नृत्यों को व्यंग्यपूर्वक दर्शक तख्ततोड़ भी कहते हैं। तखत के टूटने पर या नगाड़े के फटने पर दर्शक वाह-वाह कर उठते हैं और ऐसे नर्तक एवं वादक को वे इनाम से नवाजते हैं।

एक ही कलाकार एक से अधिक पात्रों का अभिनय कर सकता है। इस हेतु वह अपनी वेशभूषा में थोड़ा-सा परिवर्तन कर लेता है, जैसे जैकेट के स्थान पर कोट पहन लेता है या सिर पर दूसरे रंग का साफा बाँध लेता है या साफा बाँधने के ढंग में परिवर्तन कर लेता है। स्वाँग के कलाकारों की सबसे बड़ी खूबी यह है कि सभी कलाकार सभी तरह के पात्रों का अभिनय करने एवं वाद्य बजाने में पारंगत होते हैं। सभी कलाकार नृत्य, अभिनय गायन एवं वादन में कुशलता पूर्वक कार्य कर सकते हैं। जैसे ही किसी कलाकार का किसी दृश्य में अभिनय पूर्ण होता है और किसी वाद्य को या तो बजाने लगता है या दूसरे पात्रों के गायन को उठाने में सहयोग प्रदान करता है। ज्यों ही उसके अभिनय का

अवसर आता है तो वह पुनः उठकर अपना अभिनय करने लगता है। स्वाँग मंच हेतु न तो किसी सज्जागृह (ग्रीन रूम) की आवश्यकता होती है और न ही कोई पर्दे की। कलाकार अपना-अपना श्रृंगार करके मंच पर आते हैं और खेल खत्म होने तक मंच पर ही रहते हैं। यदि किसी अन्य पात्र के अभिनय हेतु वेशभूषा में किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता पड़ती है तो वे मंच पर ही ऐसा कर लेते हैं। स्वाँग के दर्शक ऐसी स्थितियों के अभ्यस्त होते हैं। स्वाँग का मंच एवं सम्पूर्ण वातावरण बहुत ही अनौपचारिक होता है, जो हरियाणा के ग्रामीण परिवेश से पूरी तरह मेल खाता है।

स्वाँग का अंगराग या रूप-सज्जा भी सामान्य होती है। गालों पर लाली और ओठों पर लिपिस्टिक का प्रयोग होता है। आँखों में काजल लगाया जाता है तथा भौंहों पर काजल लगाकर आँखों को आकर्षक बनाया जाता है। स्त्री-पात्र नकली बालों की लम्बी चोटियाँ बालों के साथ गूँथते हैं, जो नृत्य करते समय हवा में लहराती है। स्त्री-पात्र रंग-बिरंगे घाघरे, ओढ़नियाँ और कमीज धारण करते हैं, जैसे वस्त्र हरियाणा के ग्रामीण जाट कृषक पहनते हैं। नाचते समय जब ये कलाकार तीव्र गति से गोल चक्कर लगाते हैं तो घाघरे फैलकर कई प्रकार के दृश्याकारों की रचना करते हैं। इनके नृत्यों में कोमलभाव एवं नजाकत के स्थान पर पौरुषेय तत्त्व अधिक होता है। नृत्यों में गति एवं ओज की ही प्रमुखता होती है। नृत्य की समाप्ति तीव्र गति से चक्कर लेकर ऊँची कूद से होती है। तखत पर कूदने से जो 'धम' की आवाज उत्पन्न होती है, उसका साथ नगरची नगाड़े पर जोरदार वैसी ही ध्वनि निकालता है। यही नृत्य का 'सम' होता है। हरियाणा के ग्रामीण नृत्य की इस तीव्र गति एवं पुरुषोचित ओजपूर्ण स्वभाव को बहुत पसन्द करते हैं।

स्वाँग का आरंभ पूर्वरंग से होता है। सभी कलाकार एवं संगत मंच पर आकर एक कतार में खड़े होकर गणेश एवं सरस्वती की वंदना करते हैं। ठीक इसके उपरांत सूत्रधार का मंच पर प्रवेश होता है। वह संक्षेप में प्रस्तुत किये जाने वाले स्वाँग की घोषणा करता है और उसके विषय में जानकारी प्रदान करता है। उसके हाथ में सदैव एक छड़ी होती है। यह स्वाँग का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति है। वह सूत्रधार स्वाँग का निर्देशक एवं प्रमुख पात्र का अभिनेता है, वह ये सभी कार्य सहज रूप से सम्पन्न

करता है और साथ ही यदि कोई पात्र कहीं संवाद भूलता है तो उसका अनुबोधन ( Prompting ) भी करता है। दर्शक इस स्थिति के अभ्यस्त होते हैं। उन्हें इसमें कुछ भी अटपटा महसूस नहीं होता है। संवाद बहुत ही पैनापन लिये हुए प्रस्तुत किया जाता है। जब कोई पात्र अपने संवाद प्रस्तुत कर रहा होता है, तब दूसरा पात्र दर्शकों की ओर मुखातिब होकर अंगुली ऊपर की ओर इंगित किये हुए या हाथ की छड़ी को ऊपर उठाए हुए ऐसा भाव दर्शाता है, जैसे वह ध्यानपूर्वक संवाद को सुन रहा है। नाट्य की प्रस्तुति का अधिकांश भाग प्रश्न-उत्तर शैली के संवादों में होता है, जो वार्तालाप की भाँति सहज रूप में प्रचलित तथा अपनाई जाती है। बीच-बीच में नाट्य का प्रमुख पात्र जो निर्देशक भी है, वह बीच-बीच में व्यंग्य एवं हास्यपूर्ण टिप्पणियाँ भी करता जाता है, जिसका दर्शक मजा लेते हैं। इससे नाट्य में नीरसता नहीं आ पाती। आजकल बहुत से संवाद द्विअर्थी भी होते हैं। एक तो सीधे प्रसंग से सम्बन्धित अर्थ लिये हुए होते हैं और दूसरा अर्थ श्रृंगारिकता की ओर इंगित होता है। ऐसे भी संवादों की प्रस्तुति होती है, जिनमें संवाद के एक अर्थ में राजनीतिक एवं सरकारी तंत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार की ओर संकेत किया है। स्वाँग शैली को वाचिक एवं गायिकी का सुंदर मेल कहा जा सकता है। नृत्यों के द्वारा इसमें मनोरंजक रंग भरे जाते हैं।

गायन में देशी रागों का प्रचुरता से प्रयोग होता है। हरियाणा की लोकधुनों का भरपूर उपयोग होता है, परन्तु मार्गी रागों को भी आवश्यकतानुसार अपनाया जाता है। ये सभी राग-रागिनियाँ हरियाणा में काफी लोकप्रिय हैं। गायन में टेक और धुनों का प्रयोग गायन के आधार हेतु किया जाता है और उनके निरंतर प्रयोग के कारण स्वाँग के दर्शक उनसे न केवल परिचित हैं, वरन् अभ्यस्त भी हैं। स्वाँग की इसे विशिष्टता कह सकते हैं।

स्वाँग का आरंभ रात्रि में नौ-दस बजे होता है और वह प्रातःकाल तक चलता है। दर्शकगण विशेष रूप से स्त्रियाँ चूल्हे चौके के कार्य से निवृत्त होकर स्वाँग देखने आती हैं और उन्हें बीच में घर लौटने की कोई उलझन नहीं होती। स्वाँग देखने हेतु आसपास के गाँवों से भी दर्शक आते हैं। जिन दिनों आवागमन के पर्याप्त साधन नहीं थे और सड़के भी पर्याप्त नहीं थी, तब लोग अपनी बैलगाड़ियों पर या पैदल अथवा किसी सवारी पर स्वाँग देखने आते थे। आजकल आवागमन के पर्याप्त साधन हरियाणा

के ग्रामीणों को उपलब्ध हैं और सभी गाँव सड़कों से जुड़ गये हैं। दर्शक गट्टू, टेम्पों, ट्रेक्टर-ट्राली मोटरसायकल एवं सायकल पर बैठकर आते हैं। स्वाँग स्थल पर मेले या उत्सव जैसा माहौल बन जाता है। चाट-पकौड़ों की दूकानें सज जाती हैं। चाय-पान के ठेले लग जाते हैं और उत्सव का वातावरण निर्मित हो जाता है।

आजकल कुछ स्वाँग मंडलियों ने स्वाँगों की प्रस्तुति में लगने वाले समय को चार घण्टों में सीमित कर लिया है। पूर्व में जब प्रस्तुतियाँ सारी-सारी रात तक चलती थी, तब उनमें भी बीच-बीच में इतर नाच-गाने या प्रहसन जोड़ने पड़ते थे। कुछ प्रसिद्ध स्वाँग नाटकों का उल्लेख यहाँ करना उचित होगा। रंगीली रेशम लीलोचमन, खुदादोस्त, स्याहपोश, पानसिंह का स्वाँग, सब्जपरी, गुलफानी, शहरयार गुलबदन और भगत पूरणमल यहाँ के कुछ प्रसिद्ध और लोकप्रिय स्वाँग हैं।

## नौटंकी

नौटंकी उत्तरप्रदेश का एक अत्यंत समृद्ध लोकनाट्य स्वरूप है। इसका विस्तार पूर्व में बिहार तथा पश्चिम में राजस्थान तथा उत्तर में हरियाणा प्रदेशों तक है। नौटंकी का पूर्ववर्ती नाट्य रूप सांगीत रहा है। सांगीत शब्द संस्कृत भाषा के 'संगीतक' से उद्भूत है, जिसका अर्थ है संगीत-नृत्य प्रधान गायन। इसे हम संगीत-नृत्य प्रधान नाट्य भी कह सकते हैं। सांगीत के पूर्व एक लोकनाट्य-विधा स्वाँग के नाम से स्थापित हो चुकी थी।

भक्ति आंदोलन के प्रभाव स्वरूप वृन्दावन-मथुरा में कृष्ण एवं राम की भक्ति का एक अत्यंत प्रभावशाली वातावरण तैयार हो गया था। विशेष रूप से कृष्ण भक्ति का अयोध्या, बनारस के क्षेत्र में भक्ति आंदोलन के प्रभाव स्वरूप राम भक्ति का वातावरण निर्मित हुआ। इसमें वैष्णव भक्ति का कृष्ण जन्मभूमि के प्रति उत्पन्न नवउत्साह सक्रिय था। वृन्दावन में पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम काल में और सोलहवीं सदी के आरंभिक काल में वैष्णव भक्ति की धार्मिक यात्रायें एकाएक चरम पर पहुँच गईं। आसाम से शंकर देव, बंगाल से चैतन्यदेव और उनके शिष्य जीव गोस्वामी, रूप गोस्वामी और उनकी शिष्य मंडली, आन्ध्र से स्वामी नारायण भट्ट तथा स्वामी वल्लभाचार्य, गुजरात से स्वामी हरिदास, हितहरिवंश वृन्दावन से, ओरछा से हरिराम व्यास तथा उत्कल से



श्री माधवेन्द्रपुरी आदि अनेक वैष्णव भक्तों का अपने-अपने शिष्यों के साथ यात्रा पर वृन्दावन में आगमन हुआ। इससे भक्ति के वातावरण में रासलीला नाट्य रूप का उद्भव हुआ। इसे नाट्यरूप प्रदान करने का महत्त्वपूर्ण कार्य आन्ध्र के भक्त नारायण भट्ट ने किया और प्रथम नाट्य मंडली का गठन स्वामी वल्लभाचार्य ने किया। उनके निर्देशन में ही प्रथम लीला का मंचन हुआ था।

दूसरी ओर अवध में गोस्वामी तुलसीदास की रामचरित मानस रचना प्रकट हो चुकी थी। तुलसीदास स्वयं काशी और चित्रकूट गंगातट के घाटों पर मानस का परायण करते हुए विष्णु के रामावतार की महिमा का प्रचार करने में संलग्न थे। उन्होंने अपने मित्र मेघा के साथ मिलकर रामलीला की प्रस्तुतियाँ आरंभ की और लीला नाट्य के माध्यम से रामभक्ति का प्रचार आरंभ किया। भक्ति आंदोलन ने ऐसा धार्मिक एवं सांस्कृतिक वातावरण उत्पन्न किया, जिसके परिणाम स्वरूप दो महत्त्वपूर्ण नाट्य रूपों का उद्भव हुआ— रासलीला और रामलीला। ये दोनों ही नाट्य रूप धार्मिक एवं मंदिरों की परिधि में विकसित हुए थे और उन पर ब्राह्मण एवं अन्य सवर्णों का वर्चस्व था।

उपरोक्त नाट्य रूपों के समानान्तर एक पंथ निरपेक्ष अंतर्धारा समाज में प्रवाहित थी, जिसमें ब्राह्मणोत्तर जातियाँ, अल्पशिक्षित एवं अशिक्षित एवं भक्ति आंदोलन की परिधि से बाहर अनेक कलाकार-संगीतकार सक्रिय थे। ऐसे लोगों को अपने विचारों की अभिव्यक्ति एवं मनोरंजन हेतु एक कलामंच की आवश्यकता थी। इसी काल में कट्टरपंथी इस्लाम के मुकाबले किसी अधिक उदार विचारधारा की भी आवश्यकता महसूस हो रही थी। इस जरूरत की पूर्ति सूफीवाद ने की। ईरान से चलकर सूफीवाद भारत पहुँचा और सूफी संतों ने प्रेम को आधार बनाकर साहित्य सृजन किया और कव्वाली के रूप में गायन की एक नई विधा को जन्म दिया। भक्ति के इस नये आंदोलन को जनमानस ने खूब पसंद किया और अपनाया।

एक ओर वैष्णव भक्ति की सगुण उपासना की धारा का फैलता हुआ प्रभाव सवर्ण जातियों में व्याप्त हो रहा था, वहीं कबीरदास और सूफी संत एवं निर्गुणिया संतों का दार्शनिक प्रभाव भी आमजनों को अपनी ओर आकर्षित कर रहा था। इन निर्गुणिया

संतों और कवियों ने जनता से सीधा सम्पर्क स्थापित किया और इस हेतु उन्होंने लावणी की गायन-शैली को अपनाया। लावणी की गायन शैली का उद्भव महाराष्ट्र में हुआ। आरंभिक काल में हिन्दी क्षेत्र में इस शैली को मरहटी लावणी कहा गया। महाराष्ट्र में लावणी का उदयकाल सोलहवीं शताब्दी माना जाता है। वहाँ इस शैली का प्रचलन नाथपंथी तथा सूफी संतों की दार्शनिक विचारधारा के परिणाम स्वरूप हुआ। लावणीकार वहाँ शाहिर कहलाते हैं, जो फारसी के शायर शब्द का ही मराठी रूप है। रामनारायण अग्रवाल के मतानुसार वास्तव में लावणी का उदय नाथों और सिद्धों की दार्शनिकता तथा सूफियों की प्रेम की पीर के सामंजस्य का प्रतिफल था। बाद में इसमें संतों के प्रतीकों और रूपकों वाली बंदिशों का भी समावेश हो गया। लावणी के व्यापक प्रचार के लिए इसके संस्थापकों ने दंगलों की परम्परा अपनायी, जिसमें दो पक्ष आमने-सामने बैठकर लावणी-गायन करें, विभिन्न विषयों पर रोचक बहस करते थे, जिससे आम जनता का आकर्षण इस साहित्य के प्रति विशेष रूप से हो गया, क्योंकि यह उनका मनोरंजन के साथ-साथ ज्ञानवर्धन भी करती थी। लावणी गायक दंगलों की प्रतिद्वंद्विता में अपने पक्षों की पुष्टि के लिए पुराण, उपनिषद्, कुरान जैसे ग्रंथों से प्रमाण भी प्रस्तुत करते थे। वेदान्त, योग, न्याय, निर्गुण-निराकार ब्रह्म, मायावाद तथा शक्ति की महिमा का वर्णन राम, कृष्ण, शंकर आदि देवताओं के चरित्र सभी लावणियों के विषय थे। सोलहवीं शताब्दी तक महाराष्ट्र में लावणी पूर्णतः लोकप्रिय और विकसित हो चुकी थी और उस समय श्रृंगार इसका मुख्य विषय हो गया था।'

हिन्दी में लावणी को आरंभ करने का कार्य संत तुक्कन गिरि और सूफी संत शाहअली ने किया। इन दोनों ही संतों का सम्बन्ध महाराष्ट्र के निकटवर्ती क्षेत्र मालवा (मध्यप्रदेश) से माना जाता है। इन दोनों ही संतों का सम्बन्ध चंदेरी से माना जाता है। चंदेरी में तुक्कनगिरी की मजार भी बनी हुई है, जिस पर लोग अपनी मन्नत पूरी होने पर चंग चढ़ाते हैं, जो लावणी गायकों का वाद्य है। कालान्तर में इनके अनुयायियों ने अपने-अपने अखाड़े बना लिये, जो तुरें वाले और कलंगी वाले कहलाने लगे। प्रतिस्पर्धा में तुरें वाले शिव की महिमा को गाया करते थे और उसे बड़ा बताया और कलंगी वाले शक्ति की महिमा को गाया करते थे, जिसे श्रेष्ठ बताते थे। परन्तु इनमें आपस में कोई वैमनस्य नहीं था।

ऐसी किंवदन्ती प्रचलित है कि एक बार दोनों संतों की गायन प्रतियोगिता का आयोजन चंदेरी के राजा (नवाब) ने आयोजित किया। रातभर चलने वाले इस आयोजन में किसी भी गायक की श्रेष्ठता स्थापित नहीं हो सकी। दोनों ही समान रूप से श्रेष्ठ ठहराये गये। राजा ने प्रसन्न होकर एक को अपने मुकुट की कलंगी भेंट में प्रदान की और दूसरे को मुकुट में लगाने वाला तुरा। इसके आधार पर ही अनेक अखाड़ों के नाम तुरा वाले एवं कलंगी वाले पड़ गए। कालान्तर में लावणी गायिकी की इस शैली का नाम ही तुरा-कलंगी पड़ गया। महाराष्ट्र में भी तुरा-कलंगी का प्रसार हुआ और यह रूप वहाँ भी प्रचलित हो गया।

लावणी की लोकप्रियता का एक ऐतिहासिक कारण यह भी था कि इसी दौर में अर्थात् अठारहवीं सदी के आते-आते दिल्ली की सल्तनत कमजोर हो चुकी थी और उत्तर भारत के राजे-रजवाड़े भी हासो-मुख हो चले थे। ऐसे वातावरण में हासो-मुख सामन्तवाद विलासी हो गया। दरबारी कवि उन्हें प्रसन्न करने हेतु या तो उनके सम्मान में काव्य रचना करने लगे थे या सुन्दरियों के नखशिख का वर्णन करने वाली कविताएँ लिख रहे थे। यह काल ही हिन्दी साहित्य का रीतिकाल कहलाता है। दूसरी ओर लावणीकार अपने अखाड़ों के माध्यम से सीधे जनता से सम्पर्क कर रहे थे। एक बड़ा महत्वपूर्ण कार्य इन लावणीकारों ने यह भी किया कि उन्होंने हिन्दू और मुसलमानों के बीच सौहार्द्र स्थापित किया। अखाड़ों में सभी बराबर थे, न ऊँच-नीच का भेद था और न ही हिन्दू-मुसलमान में कोई फर्क। इन प्रवृत्तियों के कारण आम जनता के बीच लावणी के प्रति आकर्षण बढ़ने लगा और लोगों ने इस शैली को अभिव्यक्ति एवं मनोरंजन के साधन के रूप में अपना लिया।

अठारहवीं शताब्दी के आरंभिक काल में आगरा के आसपास एक नाट्य-शैली का विकास हो रहा था, जिसे वहाँ के लोग 'भगत' नाम से जानते थे। सम्भवतः इस शैली का भगत नाम इसलिये पड़ा होगा कि इसके प्रदर्शनों में धार्मिक विषयों पर आधारित कथाओं का मंचन होता होगा। कालान्तर में इन कलाकारों ने अन्य प्राचीन कथाओं, गाथाओं, ऐतिहासिक घटनाओं एवं चरित्र नायकों पर आधारित नाट्यों की रचना करके उनका मंचन आरंभ किया होगा, किन्तु पूर्व में भगत नामकरण हो जाने के कारण इस विधा का नाम 'भगत' पड़ गया। भगत-शैली की मंडलियों ने

लावणी को अपना लिया। इस शैली से ही जो सांगीत परम्परा उद्भूत हुई थी, उसका आगे चलकर उत्तरप्रदेश में नौटंकी, राजस्थान में ख्याल, हरियाणा-पंजाब में स्वाँग, मालवा में माच के रूप में विकास हुआ। अनेक विद्वान विचार में एकमत है कि चारों नाट्य रूप मूलरूप से एक ही विधा से उद्भूत हैं, जो आरंभ में सांगीत कहलाती थी। इस नाट्य-विधा ने अलग-अलग सांस्कृतिक जनपदों की भाषा एवं लोक तत्त्वों का आत्मसात करके अपनी-अपनी स्वतंत्र पहचान स्थापित की। राजस्थान में इस विधा को ख्याल इसलिए कहा गया, क्योंकि इसका आरंभ ख्याल गायकों ने किया। वैसे ख्याल वहाँ खेल (Drama) का पर्यायवाची बन गया।

सांगीत शब्द का उद्भव संस्कृत के संगीतक से हुआ है, जिसका उपयोग ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में लिखे गये संस्कृत भाषा के नाटकों के लिए प्रयुक्त होता था। यह काल संस्कृत नाटकों के ह्रास का काल था। जनपदीय लोक भाषाओं में लिखे जाने वाले नाटकों को भाषा संगीतक कहा जाने लगा। कालान्तर में संगीतक शब्द का अंतिम अक्षर 'क' विलुप्त हो गया और 'स' के साथ 'आ' की मात्रा उच्चारण की सुविधा हेतु जुड़ गई और इन भाषा नाटकों को 'सांगीत' नाम से पहचाना जाने लगा। नौटंकी नामकरण के पूर्व इस नाट्य स्वरूप को सांगीत ही कहा जाता था, जो इस बात से भी सिद्ध होता है कि हाथरस से प्रकाशित नौटंकी के ग्रंथों का प्रकाशन सांगीत के नाम से ही हुआ है। कुछ विद्वानों के मतानुसार सांगीत शब्द की उत्पत्ति 'स्वाँग' और 'गीत' दो शब्दों को मिलाने से हुई है, जिसका अर्थ है 'अभिनय' या 'नकल' और 'गायन' जो इस नाट्य स्वरूप की प्रवृत्ति की ओर इंगित करता है। परन्तु मेरी इस विचार से सहमति नहीं है। मैं सांगीत के मूल में संस्कृत के शब्द 'संगीतक' को ही स्वीकार करता हूँ और मुझे यह दूसरा मत तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता।

सांगीत नौटंकी कैसे बना, इसकी कहानी भी दिलचस्प है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरकाल में खुशीराम विप्र नामक एक सांगीतकार ने 'सांगीत रानी नौटंकी' का नाम सांगीत लिखा। यह सांगीत नाट्य एक प्राचीन गाथा पर आधारित था। नौटंकी नाम की एक शहजादी और एक साधारण ग्रामीण फूलसिंह की प्रेमकथा इस सांगीत का विषय बनी। इस नाटक का पुनर्लेखन हाथरस के प्रसिद्ध नौटंकी लेखक पंडित नत्थाराम शर्मा ने किया और उसे अधिक विस्तार प्रदान किया। यह कार्य बीसवीं सदी के आरंभिक

काल में सम्पन्न हुआ, जिसका प्रकाशन हाथरस से उनके लेखकीय नाम से हुआ। खुशीराम विप्र जो गुड़गाँव के निवासी थे उनके द्वारा लिखित इस नाटक के प्रदर्शन ने चारों ओर तहलका मचा दिया। इस नाटक के मंचन जगह-जगह होने लगे और इसे 'सांगीत नौटंकी' नाम से पुकारा जाने लगा। इस सांगीत का ऐसा जबरदस्त प्रभाव पड़ा कि इस नाट्य स्वरूप को ही 'नौटंकी' कहा जाने लगा।

नौटंकी का कथानक एक प्राचीन कथा पर आधारित है, जो पंजाब के क्षेत्र के शालिवाहन के एक राजा रसालू के बारे में है। राजा रसालू अपने जमाने में उस क्षेत्र का एक प्रभावशाली एवं प्रसिद्ध शासक था। यह गाथा भारत के उत्तरी सीमावर्ती प्रदेश में बसने वाले कबीले (जनजातीय समुदायों) के आपसी संघर्षों की गाथा है, जिसे इतनी खूबसूरती और कौशल के साथ नाट्य रूप प्रदान किया गया है कि जब इसका मंचन हुआ तो उसके जबरदस्त प्रभाव ने सांगीत नाट्य-शैली के नाम को ही नौटंकी नाट्य के नाम से बदल दिया। राजकुमारी नौटंकी जिसे बाद के लेखकों ने शहजादी नौटंकी भी कहा है, कि कथा इस प्रकार है- भूपसिंह और फूलसिंह दो भाई थे, भूपसिंह बड़ा भाई था और फूलसिंह छोटा। भूपसिंह विवाहित था और फूलसिंह कुँवारा। एक दिन फूलसिंह जब काम से घर वापस आया तो उसे तेज भूख लगी थी। उस समय तक घर में भोजन तैयार नहीं हुआ था। जब फूलसिंह ने अपनी भाभी से जल्दी भोजन तैयार करने को कहा तो उसकी भाभी ने उसे व्यंग्यपूर्वक कहा- 'देवर जी अच्छा मन-माफिक खाना खाने की ऐसी ही जल्दी पड़ी है तो क्यों नहीं शहजादी नौटंकी से ब्याह कर लेते।' शहजादी नौटंकी अपने जमाने की मशहूर सुन्दरी थी। फूलसिंह को अपनी भाभी का यह कटाक्ष चुभ गया और उसने निश्चय किया कि अब वह शहजादी से विवाह करके ही घर वापस लौटेगा।

फूलसिंह मुल्तान शहर चला गया और जब वह शहर की सीमा पर पहुँचा तो उसे वहाँ एक सुन्दर बाग दिखाई पड़ा, उसने अपनी थकान उतारने हेतु उस बाग में ही विश्राम करने का निश्चय किया। उसने देखा कि एक नवयुवती जो मालन थी, वह वहाँ फूल तोड़ रही थी। उसने मालन से पूछा कि वह किसके लिये फूल तोड़ रही है और वह बाग किसका है? मालन ने फूलों की माला गूँथते हुये बताया कि वह बाग राजा का है और वह

राजकुमारी के लिये माला गूँथ रही है। उसने मालन से कहा- 'लाओ आज मैं तुम्हारे साथ में सहयोग करता हूँ और माला मैं बना देता हूँ।' मालन ने फूलसिंह से माला बनवायी और उसे लेकर राजकुमारी के पास गई। माला अत्यंत सुन्दर बनी थी। राजकुमारी ने माला को देखकर मालन से पूछा- 'यह माला तुम्हारी बनाई हुई नहीं हो सकती, तुम्हारी बनाई मालाएँ तो मैं रोज ही देखती हूँ। बताओ यह माला किसने बनाई?' पहले तो मालन यह कहती रही कि माला उसी ने बनाई है, परन्तु जब राजकुमारी ने क्रोध दिखाया, तब मालन ने कहा कि उस माला को गाँव से आई हुई उसकी चचेरी बहन ने बनाया है। तब राजकुमारी ने उससे कहा कि वह उसकी बहन को देखना चाहती है। अतः वह उसे अपने साथ लेकर दूसरे दिन महल में आये। वह अपने झूठ पकड़े जाने के डर से बहुत चिंतित थी, परन्तु फूलसिंह ने कहा- 'तुम चिंता मत करो। मुझे अपने कपड़े पहना दो। मैं स्त्री वेष में तुम्हारे साथ महल में चलूँगा। मैं ऐसा वेष धारण करूँगा कि मुझे कोई भी व्यक्ति पहचान नहीं पाएगा।' जब राजकुमारी ने मालन के वेश में फूलसिंह को देखा तो वह उसकी सुन्दरता को देखती ही रह गई। उसने मालन से पूछा- 'तुम्हारी बहन इतनी सुन्दर है, फिर अब तक इसका विवाह क्यों नहीं हुआ?' मालिन की बहन ने कहा- 'आज तक उसे किसी ने भी पसन्द नहीं किया। जब भी कोई उसे पसन्द कर लेगा, वह उसके साथ विवाह कर लेगी। उसके अप्रतिम सौंदर्य को देखकर चकित राजकुमारी ने कहा- 'तुम स्त्री हो। यदि तुम पुरुष होती तो मैं ही तुमसे विवाह कर लेती।' फूलसिंह को तो इसी मौके का इंतजार था। जैसे ही उसने राजकुमारी की बात सुनी, उसने स्त्रियों के वस्त्र उतार फेंके और वह अपने असली रूप में आ गया। शहजादी ने उसे अपने महल में ही रहने का आग्रह किया। फूलसिंह शहजादी के साथ ही महल में रहने लगा और दोनों इश्क लड़ाने लगे। किसी नौकर ने राजा को जाकर इस कृत्य की जानकारी दे दी। और राजा ने अपने सिपाहियों को भेजकर फूलसिंह को गिरफ्तार करवा लिया। राजा ने सिपाहियों को हुकुम दिया कि वे उसे सूली पर चढ़ा दें।

जब फूलसिंह को फाँसी पर चढ़ाने की सभी तैयारियाँ पूरी हो गई और उसे फाँसी पर लटकया जाने ही वाला था कि तभी शहजादी वहाँ पहुँच गई। उसके एक हाथ में तलवार थी और दूसरे हाथ में विष का कटोरा। उसने अपने पिता से कहा कि या तो वे फूलसिंह को माफ कर दें, वरना वह भी उसके साथ अपनी

जान दे देगी। राजा इस नाटकीय घटना से एकदम विचलित हो गये और शहजादी के साहस को देखकर द्रवित हो गये। राजा ने अपनी प्रिय शहजादी नौटंकी का विवाह फूलसिंह के साथ कर दिया।

यह सांगीत उस जमाने में सम्पूर्ण उत्तर भारत में विख्यात हो गया। इस सांगीत की सफलता में कथा में निहित दुस्साहस, प्रेम-प्रसंग और प्रभावशाली नाटकीयता जैसे तत्वों की प्रधानता थी। इस सांगीत के उस जमाने में अनेक स्थानों पर मंचन हुए और अनेक ख्याल एवं सांगीतकारों ने इसे अपनी-अपनी शैली में नये-नये रूपों में प्रस्तुत किया। शहजादी नौटंकी का सांगीत इतना प्रसिद्ध हुआ कि सांगीत-शैली का नामकरण ही नौटंकी पड़ गया। इसी लोकनाट्य शैली का विस्तार कालान्तर में राजस्थान, हरियाणा, पंजाब एवं मालवा में हुआ और वह राजस्थान में ख्याल, पंजाब-हरियाणा में स्वाँग तथा मालवा में माच के रूप में स्थापित हुईं। यद्यपि इस लोकनाट्य-शैली के आरंभिक तत्त्व कीर्तनियाँ एवं भगतिया के रूप में सोलहवीं सदी में ही दिखाई पड़ने लगे थे, परन्तु पूर्ण विकसित नाट्य-शैली के रूप में इस शैली का विकास उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभिक काल में हो सका। सन् 1800 ई. के पूर्व सांगीत की चौबोला शैली के नाट्य कहीं मंचन होने का प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ है।

कैप्टन टेम्पल ने हरियाणा के जगाधरी से तीन स्वाँगों का संकलन किया था। यह स्थान पूर्व में अम्बाला जिले के पंजाब प्रांत में स्थित था। यह घटना सन् 1883 की होली पूर्व के अवसर की है। उन्होंने स्वयं भी इन स्वाँगों के प्रदर्शन देखे थे। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'लीजेन्ड्स ऑफ पंजाब' में जिन स्वाँगों का उल्लेख किया है, वह है- 'गुरु गुग्गा राजपूत ऑफ बागर देश', 'राजा गोपीचन्द का स्वाँग,' और 'राजा नल का स्वाँग'। ये सभी स्वाँग पद्य में रचित थे तथा इन्हें गाथा और नाट्य का मिला-जुला स्वरूप कहा जा सकता है। इस तथ्य से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उस दौरान भी स्वाँग नाट्य रूप में विकासोन्मुख था। यदि ये स्वाँग कैप्टन टेम्पल के आलेखन के पूर्व भी अस्तित्व में थे, तो भी वे पूर्णरूपेण नाट्य न होकर गाथा और नाट्य के मिले-जुले रूप में ही विद्यमान थे। कुछ विद्वानों का मत है कि स्वाँग लोकनाट्य पंजाब, हरियाणा से कामा, भरतपुर, मथुरा होते हुए आगरा पहुँचा। वास्तविकता में बात इसके विपरीत है।

वर्तमान समय में कानपुर नौटंकी का एक प्रमुख केन्द्र बन गया। यथार्थ में देखा जाये तो कानपुर में ही नौटंकी के लोकनाट्य स्वरूप को पहचान मिली। वहाँ से ही नौटंकी का फैलाव पूर्व में बिहार तक तथा पश्चिम में पश्चिमी उत्तरप्रदेश एवं राजस्थान तथा मध्यप्रदेश तक हुआ। कानपुर की वर्तमान नौटंकी शैली बीसवीं शताब्दी के आरंभिक काल में प्रचलित हुई। गुड़गाँव के खुशीराम विप्र के पश्चात हाथरस के नत्थाराम शर्मा गौड़ ही सर्वप्रमुख अगुवा थे। वे अपनी नौटंकी रचनाओं का प्रथम प्रदर्शन श्रावण में कानपुर शहर में ही किया करते थे। कानपुर में औद्योगिक श्रमिकों की एक बहुत बड़ी संख्या विद्यमान थी, जो उनके मंचन की सहज दर्शक थी। इसके अलावा लगातार नाट्य प्रस्तुतियों से उन्हें अपने नाटकों में निरंतर सुधार करने का अवसर लाभ भी मिल जाता था। वहाँ के प्रदर्शनों में जब उनकी प्रस्तुतियाँ मंज जाती थीं, तब वे उनका मंचन अन्य कस्बों एवं नगरों में करते थे।

कानपुर निवासी श्रीकृष्ण पहलवान जो नत्थाराम शर्मा के बहुत बड़े प्रशंसक थे, ने उनसे प्रभावित होकर अपनी एक नौटंकी मंडली की स्थापना कर ली। उन्होंने भी अनेक नौटंकी नाटकों की रचना की और उनके मंचन कानपुर तथा आसपास के शहरों-कस्बों में प्रस्तुत किये। यह भी कहा जाता है कि ख्याल गायक बन्दी खलीफा और मैकू उस्ताद ने कानपुर शहर में श्रीकृष्ण पहलवान की उपस्थिति में एक ही वादक द्वारा नौ नगाड़ों के वादन के साथ प्रथम नौटंकी का प्रदर्शन किया था। इस प्रदर्शन का दर्शकों पर इतना गहरा और व्यापक प्रभाव हुआ कि उसी बात से प्रेरित होकर श्रीकृष्ण पहलवान ने अपनी नौटंकी मंडली की स्थापना कर डाली। उन्होंने 'जहाँगीर का न्याय' के सांगीत को चौबोला शैली में अपनाया जो कानपुर शैली की अपनी विशेषता थी। इस नौटंकी का प्रदर्शन उन्होंने कानपुर में सन् 1915 ई. में किया। अब तक नौटंकियों में केवल पुरुष कलाकार ही अभिनय करते थे, परन्तु श्री कृष्ण पहलवान ने सर्वप्रथम स्त्री-पात्रों के अभिनय हेतु महिला कलाकारों को मंचन में शामिल किया। श्रीकृष्ण पहलवान की सफलता से प्रभावित होकर एक अन्य नौटंकी मण्डली का गठन हुआ। इस मण्डली के संयोजन त्रिमोहन लाल थे, जो कानपुर के ही निवासी थे। उस काल में इस बात की कल्पना करना भी सम्भव नहीं था कि स्त्रियाँ नौटंकी मण्डलियों में भाग लेकर मंच पर अभिनय करेंगी। भद्र परिवार की महिलाओं

के लिये तो यह बात नितांत असम्भव ही थी। नौटंकी को सम्मानजनक कार्य (व्यवसाय) नहीं माना जाता था। पहलवान और त्रिमोहन ने इस कार्य के लिये बेड़नियों एवं वैश्याओं को अपनी मण्डलियों में स्त्री-पात्रों की भूमिका हेतु शामिल किया। ये स्त्रियाँ शिशु जन्म और विवाह आदि अवसरों पर नाचने जाया करती थीं। इन महिलाओं के नौटंकी मंच से जुड़ने के कारण नौटंकी के प्रति द्विज वर्ग में इसे मनोरंजन का निकृष्ट साधन माना जाता था। कुलीन परिवार के तो पुरुष भी नौटंकी देखने से परहेज करते थे।

उस दौर में बम्बई की पार्सी थियेटर कम्पनियाँ भी कानपुर आकर अपने नाटकों का प्रदर्शन किया करती थीं। उनकी तड़क-भड़क वाली पोषाकों और श्रृंगार आदि ने नौटंकी को भी प्रभावित किया। उनकी मंच सज्जा तथा साजो-सामान का भी आकर्षण दर्शकों पर था, जिससे नौटंकी का मंच भी प्रभावित होने से बच नहीं सका। नौटंकी ने मंच सज्जा, वेशभूषा तथा अन्य ऐसे तत्त्व जो नाट्य को समृद्ध करके दर्शकों को आकर्षित कर सकते थे, उन्हें नौटंकी मंच ने अपना लिया। इस कोशिश में नौटंकी समृद्ध तो अवश्य हुई, परन्तु उसका ग्रामीण कलेवर धीरे-धीरे लुप्त हो गया। इस प्रक्रिया में नौटंकी उन लोकनाट्य स्वरूपों से भी दूर होती चली गई, जिनका उद्भव मूल रूप से एक ही परम्परा से हुआ था, जो थी संगीत परम्परा। भगत, स्वाँग, ख्याल, माच आदि जो लोकनाट्य रूप में नौटंकी के सहोदर थे, वे एक ओर ग्रामीण और कस्बाई समाज के अधिक समीप थे और जिनमें एक प्रकार की सादगी और शालीनता बनी हुई थी। वहीं दूसरी ओर नौटंकी में शान-शौकत, वैभव, तड़क-भड़क और शोखपन हावी होने लगा। इस स्थिति में सीमित साधनों में नौटंकी के आयोजन करना सम्भव नहीं रह गया, जिसके परिणाम स्वरूप यह लोकनाट्य कृषक समाज से दूर होता चला गया।

स्त्री कलाकारों की नौटंकी मंच से जुड़ने का प्रभाव न सिर्फ नौटंकी-शैली पर पड़ा, वरन् दर्शकों की रूचि एवं उसके व्यवसाय पर भी परिलक्षित होने लगा। दर्शकों की उत्सुकता इस बात में अधिक हो गई कि किस नौटंकी मंडली में कौनसी बाई जुड़ी हुई है और उसका नाच कैसा है? धीरे-धीरे इन नाचने वाली बाइयों के नाज-नखरे उनकी अदायें और उनकी अश्लील उत्तेजक भाव-भांगिमाएँ अधिकाधिक महत्त्व प्राप्त करने लगीं। दर्शकों को

आकर्षित करने के लिए ये बाइयाँ अपने नृत्य में उत्तेजक एवं शोख प्रदर्शनों पर ही जोर देने लगीं। इससे इन बाइयों का नौटंकी में महत्त्व बढ़ता चला गया। कुछ नौटंकियाँ तो इन बाइयों के कारण ही चलने लगीं। इसके दुष्परिणाम भी शीघ्र ही सामने आने लगे। नौटंकी की परम्परागत शैली का ह्रास होने लगा और नाचने वाली बाइयों के भाव बढ़ने लगे। अधिकाधिक धन की माँग करने लगीं और नौटंकी के प्रदर्शन महंगे होने लगे। कालान्तर में कुछ नाचने वाली बाइयों ने तो अपनी स्वयं की ही नौटंकी मंडलियाँ स्थापित कर ली। दर्शक इन बाइयों के उत्तेजक एवं अश्लील इशारों पर उन पर रुपये न्योछावर करने लगे और नौटंकी के शालीन नृत्यों के स्थान पर मुजरा सदृश्य नृत्य प्रस्तुत किया जाने लगी। कृष्णा बाई और गुलाब बाई ऐसी दो नर्तकियों की मण्डलियों ने तो काफी ख्याति अर्जित की। परन्तु इनकी मण्डलियों में उत्तेजक नृत्यों के बावजूद भी परम्परागत शैली के तत्त्व बचे रहे। ऐसी अनेक मण्डलियाँ थीं, जिनका व्यापार बाइयों के नाम पर ही चलता था। और वे मेलों-ठेलों में जाकर प्रदर्शन करने लगीं। इसका प्रभाव ग्रामीण दर्शकों की रूचि पर भी पड़ा, क्योंकि इन मेलों में अधिकांश दर्शक ग्रामीण क्षेत्र के ही होते थे। एक अनुमान के अनुसार कानपुर एवं उसके आसपास के क्षेत्र में वर्तमान समय में एक सौ से भी अधिक नौटंकी की व्यवसायिक मण्डलियाँ सक्रिय हैं।

गुलाब बाई कुछ वर्षों पूर्व दिवंगत हो गई। कृष्णाबाई भी काफी वृद्ध हो चुकी हैं। इन दोनों ने फिर भी पुरानी नौटंकी के तत्त्वों को संभाल कर रखा था। वर्तमान में जो सौ से भी अधिक मण्डलियाँ सक्रिय हैं, वे दूर-दूर तक सम्पूर्ण हिन्दी क्षेत्र में जाकर अपने प्रदर्शन करती हैं। कानपुर इस दृष्टि से नौटंकी का एक सबसे प्रमुख केन्द्र बन गया है। पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार, अवध, पश्चिमी उत्तरप्रदेश इनके प्रदर्शनों के महत्त्वपूर्ण क्षेत्र हैं। इन क्षेत्रों में लगने वाले सभी प्रमुख मेलों में इन नौटंकियों के प्रदर्शन होते हैं, जो ग्रामीण जनता के आकर्षण के केन्द्र होते हैं। मेलों में पण्डाल लगाकर मण्डलियाँ अपने आयोजन करती हैं। कानपुर की मंडलियाँ उत्तरप्रदेश एवं बिहार के गंगा-यमुना के कछार में नौटंकी के प्रदर्शन करने में संलग्न हैं।

लखनऊ में नौटंकी के प्रवर्तक उमरावसिंह और पिम्मन उस्ताद थे, जो दोनों ही व्यवसाय से हलवाई थे। इनके बाद

शिवसहाय, रामनाथ, महबूब, ककूजी जैसे लोग नौटंकी से जुड़े और इन सभी लोगों ने अपनी-अपनी नौटंकी मण्डलियों का गठन कर लिया। कानपुर के बाद आजकल झाँसी नौटंकीयों का एक बड़ा केन्द्र बन चुका है। इनके अतिरिक्त इटावा, भरतपुर, कामा, मथुरा, लखनऊ भी नौटंकी के बड़े केन्द्र हैं। उत्तरप्रदेश और बिहार के भोजपुरी भाषा-भाषी क्षेत्र में नौटंकी मनोरंजन का बहुत लोकप्रिय माध्यम है। ये सभी मण्डलियाँ अच्छा व्यवसाय कर रही हैं और इन नौटंकी कलाकारों की माली हालत अच्छी है। हरित क्रांति के कारण इन क्षेत्रों के कृषक समाज में जो समृद्धि आई है उसके कारण लोक में भी नौटंकी के जनाधार का विस्तार हुआ है। जो नौटंकी पूर्व में शहरों के मजदूर वर्ग एवं निम्न मध्यम वर्ग में ही अधिक लोकप्रिय थी, वह अब ग्रामीणों में भी लोकप्रिय बन चुकी है। इस विस्तार के बड़े माध्यम बने परम्परागत मेले और उत्सव। वर्तमान में नौटंकीयाँ व्यवसायिक रूप ग्रहण कर चुकी हैं। उनके पास अपने तम्बू, मंच का साजो-सामान, पर्दे, पोषाकें, आभूषण, संगीत के साज आदि सभी सामान हैं। कुछ मण्डलियों ने अपने वाहन भी बना लिये हैं, जिनमें वे अपना समस्त साजो-सामान एवं कलाकारों को लेकर प्रदर्शन स्थलों तक जाते हैं। कुछ मण्डलियों के पास तो पूरे वर्ष आयोजन की माँग रहती है।

नौटंकी के संवाद पद्य एवं गद्य दोनों विधाओं में होते हैं तथा उनकी भाषा उर्दू मिश्रित खड़ी बोली (हिन्दी) है। नौटंकी उत्तर भारत की गंगा-जमनी संस्कृति से पैदा हुई है और उसका निर्वाह इन भाषा संवादों के माध्यम से वर्तमान में भी किया जा रहा है। इन संवादों में उर्दू परम्परा से ख्याल, गजल व शेर का प्रयोग होता है और हिन्दी परम्परा के दोहा, सोरठा, लावणी शक्तिस्त, लंगड़ी लावणी एवं कुछ बहुप्रचलित देशी रंगतों का। नौटंकी साहित्य अधिकांश पद्य रूप में ही रचित है, परन्तु मंच प्रस्तुतियों में कलाकार गद्य संवादों का भी भरपूर प्रयोग करते हैं।

संगीत वाद्यों में एक जोड़ी नक्काड़े होते हैं, जो काठ की नुकीली दो डंडियों से बजाये जाते हैं। नृत्य की संगत में ढोलक, तबला, सारंगी जैसे वाद्यों का प्रयोग होता है। नौटंकी में संगीत का महत्वपूर्ण स्थान है। संवाद विशेषरूप से चौबोला की प्रस्तुति ऊँचे स्वर में की जाती है, जिसके साथ नगाड़े बजाये जाते हैं। भाषा एवं संवादों के उच्चारण की शुद्धता पर काफी ध्यान दिया जाता है।

लखनऊ और कानपुर तथा उनके आसपास के क्षेत्र में जनता इस पक्ष के प्रति काफी संवेदनशील और जागरूक है। उच्चारण दोष पर कलाकारों को जाहिल तथा गंवार समझा जाता है। भाषा के प्रति इस प्रकार की सजगता के कारण नौटंकी का भाषा सौंदर्य बरकरार बना हुआ है।

नौटंकी साहित्य समृद्ध है। लगभग दो सौ से अधिक नौटंकीयों का साहित्य तो पुस्तकों के रूप में प्रकाशित हो चुका है। नई-नई नौटंकीयाँ लिखने का चलन भी है। लावणियों में राष्ट्रीय आंदोलन से लगाकर अनेक समसामयिक विषयों पर रचनाएँ हुई हैं, जिनका उपयोग नौटंकीयों में व्यापक रूप से किया जाता है। मथुरा, दिल्ली, कानपुर एवं हाथरस से प्रकाशित कुछ नौटंकी साहित्य के नाम यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं- राजकुमारी नौटंकी का सांगीत, सब्जपरी, लैला मजनूँ, हुस्न की पिटारी, माहेगीर, बेनजीर, बद्रेमुनीर, लाखा बनजारा, शीरीन-फरहाद, कतला जान आलम, गंचेपरी, खुदादोस्त, गुलबदन, अमरसिंह राठौर, सुल्ताना डाकू, त्रिया चरित्तर, स्याह पोश, हुस्न का डाकू, गुल बकावली, न्याय की पुकार, अंजुमन आरा और अंधी दुल्हन।

लगभग दो सौ वर्षों से उत्तर भारत में नौटंकी लोकनाट्य जनमनोरंजन का एक महत्वपूर्ण साधन रहा है। इस लोकनाट्य रूप के माध्यम से लोग अपनी भावनाओं-विचारों, काव्य तथा नाट्य रुचियों को अभिव्यक्ति प्रदान करते रहे हैं। कुछ प्राचीन कथा एवं गाथाओं ने तथा कुछ पुराण कथा एवं चरित्रों ने नौटंकीयों में स्थान पाया है। कुछ प्रेम-गाथाएँ सूफी संतों के प्रभाव के कारण नौटंकीयों का विषय बनी हैं। आधुनिक हिन्दी नाटकों के मुहावरे चूँकि लोगों को पराया तथा विदेशी लगता है, इसलिए उसका कोई बड़ा दर्शक वर्ग तैयार नहीं हो सका। यदि हमारे आधुनिक नाट्य निर्देशक एवं नाट्यकर्मी सांगीत परम्परा के मुहावरे का सृजनात्मक प्रयोग करके नये नाटकों को प्रस्तुत करने की दिशा में प्रयोग करें, तो सम्भवतः नाटकों के लिये एक व्यापक दर्शक वर्ग तैयार हो सकेगा। सांगीत लोकनाट्य विधा की एक सुदीर्घ परम्परा है और आज भी उसका एक व्यापक जनाधार है।

### नौटंकी साहित्य की बानगी

नौटंकी की कथा पर अनेक लोगों ने सांगीत, स्वांग और ख्यालों की रचना की है। उस्ताद इन्दरसन एक प्रसिद्ध सांगीत

रचनाकार हुए हैं, जिन्होंने नौटंकी नाट्य की रचना की है। इसी प्रकार से हाथरस के पंडित नत्थाराम शर्मा गौड़ ने भी सांगीत नौटंकी नाम से नौटंकी-नाट्य की रचना की है। उन्हीं के साहित्य से कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

फूलसिंह सियालकोट पहुँचकर शहर के बाहर एक बाग में अपना डेरा डालता है। बसंत का महिना है और बाग की शोभा से प्रसन्न होकर वह गाता है-

दो.- विविध भाँति के गुलखिले, भँवर रहे गुँजार।  
मानो मास बसन्त ने, कियो शुभग श्रृंगार॥

अद्भुत शुभग श्रृंगार बनाया बसंत ने।  
जलवा ये आई दिखाया बसंत ने॥  
नरगिस की लो सब्ज से जमीं ऐसे छार हो।  
मखमल का फर्श गोया बिछाया बसंत ने॥  
बेला जूही चमेली का पहना मानों गहना।  
हीरे की दमक को भी लजाया बसंत ने॥  
ये गुल गुलाब मुनियाँ गुलतुरे कबायों।  
माणिक मणी चुन्नी को हराया बसंत ने॥  
चम्पा कनेर येन्दा सूरजमुखी खिला।  
पुखराज गो मेदक को भनाया बसंत ने॥  
ये मोटीया निवाड़ा गुलशब्बो केवड़ा।  
शुभ केतकी का केवड़ा सजाया बसंत ने॥  
बन ठन के बैठा बगीचे छाई यों बहाली।  
निज हुस्न से कमर को छिपाया बसंत ने॥  
दिलको खुशी हुई है अजब चमन देखकर।  
तबियत मेरी कओ आज फंसाया है बसंत ने ॥

मालिन फूलसिंह से कहती है-

दो. - भवन मेरे के सामने, है खाली दालान।  
टिको वहीं आराम से, ऐ परदेशी जवान॥

चौ. - ऐ परदेशी जवान, न मानों खौप किसी का मन में।  
मत पाओ तकलीफ, करौ जो हुक्म बजाऊँ छन में॥  
शुचि गुलाब बेला के, अब चुनने को तुरंत सुमन में॥  
नौटंकी का हार बनावन, हित जाऊँ गुलशन में॥

दो. - बनाऊँ हार निराला, ये गुल चुन-चुन कर आला।

फूलसिंह का कथन

दो.- कर तयार खाना मुझे, एक मुहर दूँ तोय।  
गूँथूँ तुझसे शुभग शुचि, जरा फूल दे मोय॥

चौ. - जरा फूलदे मोय देखना शोभा मेरी गूँथन की।  
सांचे की सी ढली कलीधर जोडूँ जटिल सुमन की॥  
पहने हार नारि शहजादी छिपै कांति हीरन की।  
होय चौगुनी जोति तुरत नौटंकी के जीवन की ॥

दो. - हार हिय पर सजैगी। देख छवि रति लाजैगी॥  
हाल सब तुझे सुनाया।  
इसी इल्म की खातिर मैं मालिन को यार बनाया॥

मालिन- बैठ अपने शऊर से बात मत कर गरूर से।  
क्यों अपनी-अपनी लानें।  
हार बनाने की परदेशी कहा सार तू जाने॥

फूलसिंह- करतब अपने पर तुझे मालिन बड़ा गरूर।  
चुपकी होकर बैठ बस, क्या है तुझे शऊर॥

चौ.- क्या है तुझे शऊर, दूर से देख मेरा जौहर है।  
कतैदार यह गुथन देख, मोहित हो जिन्न बशर है॥  
गुंचे गुंचे बीच जड़ दिया, क्या अमोल गौहर है।  
जिसकी आभा के प्रकाश से, लज्जित शम्भकमर है॥

मालिन- गुथन देखकर हार की, मो मन भयौ आनंद।  
अजब अनोखी कली लखि, तबियत हुई पसंद॥

ला.- अजब खुशनुमा हाथ गुंथा है, ज्वान इल्मियत में भरपूर।  
हार पहनते नारि के बरसै, रूखसारो पर नूर॥  
होकर तन में मगन हार, लेकर मन में मुसिकात चली।  
गजगवनी सी डगर में, इत उत झोका खात चली॥  
कभी ठवनि केहरि की, जानी कभी हंस गति जात चली।  
ड्योढ़ी अंदर महल को, नागिन सी लहरात चली॥  
नौटंकी की नजर गुजारा, पहनो हरवा मेरी हजूर॥

मालिन- के देर से पहुँचने पर  
और दिना से दूनी मेहनत करी, बनाया मैंने हार।  
जुही मोगरा गूँथे बेला नरगिस के गुल छविदार॥  
कुन्दकलि की दमक निराली, देखो प्यारी नजर पसार॥

भाव भाव पर चमेली गूँथी, इस सबब हुई अवार।  
दास इन्द्रमन कहें महरखाँ, क्या इसमें मेरा कसूर॥

नौटंकी – बाईं फड़के आँख फड़कता मालिन बाँया कर मेरा ।  
चोली तड़के हरदम जावै कुच पै हाथ मेरा।  
भरै तुरंग अंग जोबन लहराता लहर लहर मेरा।  
मुझे ये दीखै कोई मो लायक आता वर मेरा॥  
कर श्रृंगार मेरा फूलों का धन से भरूँ वतन तेरा॥

दो.- दरपण जब देखा मैंने, अजब शुभग श्रृंगार।  
खुशी हुई तन बदन में, अपना रूप निहार॥

चौ. – अपना रूप निहार मैंने जब, नजर हार पर कीनी।  
मणि-माणिक पुखराज दमक, कहीं-कहीं चुन्नी की चीन्ही॥  
गुस्सा खा तन बदन पकर, बहियाँ मालिन को लीनी।  
कहाँ से लुच्ची तैने हार में, जवाहरात गुहि दीनी॥

मालिन तेरा गुथा नहिं हार, हार किस पर गुंथवाया।  
कड़ी लग रही गाँठ, मरद यह हार बनाया॥  
सच बता हरामिन, खसम कौन सा मालदार कर आई तू।  
कब हुआ तेरे घर इतना धन, जो लाखों का जड़ लाई तू॥

नौटंकी द्वारा क्रोधित होने पर मालिन कहती है कि उसने एक बालक को गोद लिया था। उसकी पत्नी ने ही यह हार बनाया है-

मालिन – मैं घर लीनो गोद कुमर, मो ताकी यह नारी है।  
रानी मानो सत्य मेरी, बहनौति बहू प्यारी है॥  
सुन्दर चंचल बड़ी वह, रखै होशयारी है।  
उसने हार तुरहारे में, यह गुथन डारी है॥

नौटंकी- मालिन बहू अपनी लाना।  
कैसी बहू चतुर है तेरी, हमको जरा दिखाना॥  
देरी मत करे चमन को, करजा जल्द पयाना।  
तुरत फुरत गुलशन से आना, मतना बिलम लगाना॥  
खाल कढ़ा भुस भरवा दूँ, निकलै तेरा बहाना॥

मालिन घबराई हुई आती है। सब हाल फूलसिंह को सुनाती है और पोल खुल जाने के भय से रोने लगती है। तब फूलसिंह कहता है-

दो.- फूलसिंह- ऐ मालिन दिल का सकल, रंज आमल कर दूर।  
बहुअर मैं ऐसी बनूँ, जैसे कोई कोई हूर॥

चौ. – जैसे कोई हूर उतर कर परिस्तान से आई।  
हुस्न दमक कटि लचक के आगे रति रम्भा शरमाई॥  
तीन तीन बल खाई चलूँ, जैसे नागिन लहराई।  
साफ निकल आऊँ महलन से, ऐसी करूँ सफाई॥

दो.- ला साड़ी अनमोली, लसी सलमें की चोली।  
जड़ा मोतिन का दामन, लाऊ मुझको गज गामिन॥  
पहन महलो में जाऊँगा।  
नौटंकी को रूप आज अपने से शरमाऊँगा॥

मालिन- ऐसे बहुअर तोय बनाऊँ लखि कर हूर परि शरमाय।  
नौटंकी से हुस्न तेरा चौगुना प्यारे तो दऊँ बनाय॥  
तुरत न्हिला कर मैंने कुमर के सिर में अतर दिया छिटकाय।  
पटिया दोनों पार जवान के, दोनों मांग सिंदूर भराय॥  
बिन्दी लगादई माथे पर, नैनन काजर दियो लगाय।  
नाक में डारी नथ झलकारी अधरन लटकन झोका खाय।  
हंसली हार हमेल गले में मोहन माला दई पहनाय॥  
मुख बीड़ा दे सजा ज्वान को, तब डोला में लियो बिठाय।  
डोला संग लियो मालिन ने, शीश महल में पहुँची जाय॥

आगे पूरा नौटंकी प्रसंग इसी प्रकार पद्य में वर्णित है। प्रस्तुति के समय बीच-बीच में वार्ता गद्य में प्रस्तुत संवादों के माध्यम से प्रस्तुत करके नाट्य में रोचकता बनाये रखते हैं।

## भवई

भवई गुजरात प्रदेश की एक प्रमुख लोकनाट्य शैली है, जो सम्पूर्ण गुजरात में और अपने पड़ोसी प्रदेश राजस्थान के दक्षिणी भाग में प्रचलित है। नाट्य तत्त्वों की दृष्टि से यह शैली भारतवर्ष के अन्य लोकनाट्यों की तुलना में नीचे स्तर से, जिनमें नौटंकी, ख्याल, स्वाँग एवं माच आदि लोकनाट्य आते हैं, भवई नाट्य शैली को अर्धविकसित ही गिना जाता है। महाराष्ट्र के लोकनाट्य तमाशा की तुलना में भी भवई नाट्य स्वरूप को हल्के स्तर पर ही माना जाता है। भवई नाट्य में संलग्न कलाकारों की जाति को भवाया या वरमाला नाम से जाना जाता है। यह जाति



भोजक नायक एवं भवाया को व्यास नाम से भी पुकारा जाता है। प्राचीनकाल से कथावाचकों के लिए यह नाम रूढ़ हो चुका है।

भवई की उत्पत्ति से सम्बन्धित कथाएँ गुजरात एवं राजस्थान में भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु वे दोनों ही रोचक हैं। गुजरात में भवई की उत्पत्ति की कथा इस रूप में प्रचलित है- असाइने ठाकुर नामक ओदिच्य ब्राह्मण को भवई का जनक माना जाता है, जिनका काल चौदहवीं शताब्दी में माना जाता है। वह मेहराणा में ऊँझा नामक कस्बे में पुरोहिती करता था। वह सिद्धपुर के एक मंदिर में रहकर कथा वाचन करता था तथा अपनी शैली, आकर्षक वाचन एवं सुरीली आवाज के कारण अत्यंत लोकप्रिय था। वह मंदिर में रहकर धर्मग्रंथों से श्रोताओं के सम्मुख कथा वाचन करता और उनसे मिलने वाली दान-दक्षिणा एवं सीधे से अपनी आजीविका चलाता था।

उन्हीं दिनों इस क्षेत्र के मुस्लिम सुबेदार मुहम्मदशाह ने ऊँझा के हेमला पटेल नामक व्यक्ति की गंगा नामक रूपवती कन्या का अपहरण कर लिया था। असाइत ठाकुर को जब इस हादसे का पता चला तो उसने सुबेदार से याचना की कि वह गंगा को मुक्त कर दे, क्योंकि गंगा उसकी बेटी है। सुबेदार ने असाइत ठाकुर के समक्ष यह शर्त रखी कि यदि वह गंगा के साथ एक ही थाली में भोजन ग्रहण कर लेगा, तभी वह उस बात से आश्वस्त होगा कि वह उसकी ही बेटी है, और तभी वह उसे मुक्त करेगा। असाइत ने ब्राह्मण होते हुए भी हेमला पटेल की कन्या के साथ एक ही थाली में भोजन ग्रहण करना स्वीकार कर लिया। यद्यपि सुबेदार यह जानता था कि गंगा असाइत ठाकुर की बेटी नहीं है। किन्तु फिर भी उसने असाइत ठाकुर के त्याग और अपने वचनों को ध्यान में रखकर गंगा को मुक्त कर दिया। गंगा के परिवारजनों ने उसे पुनः अपने परिवार में स्वीकार नहीं किया, अतः असाइत ठाकुर ने उसे अपनी बेटी बनाकर घर में रख लिया। असाइत के इस कार्य को उसकी जाति के लोगों ने भी मान्यता नहीं दी और उसे जाति से बहिष्कृत कर दिया। उसे अपने इस कृत्य के परिणाम स्वरूप सिद्धपुर के मंदिर का भी परित्याग करने हेतु विवश होना पड़ा। चूँकि वह स्वयं भी एक अच्छा गायक एवं कथावाचक था, अतः मंदिर का परित्याग कर उसने अपने तीनों पुत्रों के साथ, जिनके नाम रामलाल, रतनलाल और मदन लाल थे, जीविकोपार्जन हेतु नाचने गाने वाली एक मण्डली बना ली।

उनकी यह मण्डली भवई कहलाने लगी और कालान्तर में उनके प्रदर्शन भी इसी नाम से पहचाने जाने लगे।

राजस्थान में भवई की उत्पत्ति की कथा गुजरात से सर्वथा भिन्न है। राजपूत एवं जाट सदृश्य शूरवीर मानी जाने वाली जातियों में नाचने गाने जैसे कार्यों को हेय समझा जाता है। केकड़ी ग्राम के नागाजी नामक जाट के बारे में एक किंवदंती प्रचलित है कि उसे नाचने गाने का बहुत शौक था। उसके स्वजातीय जनों को उसका आचरण नापसंद था। और वे उसे नाचने गाने हेतु मना करते थे। नागाजी पर इन्हे बातों का कोई असर नहीं पड़ता था। आखिर क्षुब्ध होकर उसके स्वजनों ने उसे नगाड़े, भूँगल व जाजम इत्यादि देकर जाति से बहिष्कृत कर दिया। उसे अपमानित करने की दृष्टि से उसका नाम भाँड पेशा करके अपनी आजीविका चलाए तथा राजपूतों और जाटों का मनोरंजन करे। जब से नागाजी के परिवार के सदस्य भवई कहलाने लगे।

आरंभ में भवई लोग घुमन्तू थे और वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते-फिरते अपने खेल-तमाशों का प्रदर्शन करते थे। वे अपने प्रदर्शनों में अनेक छोटे-छोटे प्रहसनों की प्रस्तुतियाँ करते जो स्थानीय भाषा में भेष कहलाती थीं। भेष का सामान्य शाब्दिक अर्थ है स्वाँग भरना या नकल करना, जो अंग्रेजी शब्द *Mise* के समकक्ष है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भेष, स्वाँग एवं नकल तीनों ही शब्द समानार्थी हैं, और तीनों ही शब्दों का प्रयोग नाट्य-विधा में प्रचलित है। इस मान्यता के आधार पर भाव शब्द से भवई की उत्पत्ति हुई, अर्थात् वे क्योंकि भाव में हैं, भवई कहलाए।

कुछ अन्य विद्वानों ने भवई शब्द की व्युत्पत्ति के बारे में कुछ भिन्न मत प्रस्तुत किए हैं। वे कहते हैं, कि नागाजी की कुल देवी शीतला थी, जो नाट्य प्रस्तुत करते वक्त उनके अंग में आ जाती थी। वे लोग शीतला को भुआ के रूप में सम्बोधित करते हैं। अतः शरीर शीतला में भुआ आई, इस अभिव्यक्ति से भवई शब्द की व्युत्पत्ति हुई। कुछ लोग भवई की उत्पत्ति भ्रमण से मानते हैं क्योंकि ये कलाकार सदैव एक स्थान से दूसरे स्थान पर भटकते रहते थे। मेरे विचार में ये दोनों ही तर्क असंगत हैं और मुझे भाव से भवई की व्युत्पत्ति तर्क संगत प्रतीत होती है।

उपरोक्त खोजबीन से एक बात तो स्पष्ट होती ही है कि भवई नाट्य स्वरूप की नींव ऐसे लोगों ने रखी थी, जो अपनी-

अपनी जातियों से बहिष्कृत कर दिए गए थे और जिन्होंने नाचने, गाने एवं प्रदर्शनकारी कलाओं को अपना पेशा बना लिया था। कालान्तर में इन कलाकारों का समूह भवाच्या कहलाने लगा और इनके द्वारा प्रस्तुत किए जाने वाले प्रहसन भवई नाम से जाने लगे।

एक भवई मण्डली में सामान्यतया दस से लगाकर पन्द्रह तक कलाकार होते हैं। इस नाट्य स्वरूप का उद्भव न तो शास्त्र या मार्गी नाट्य परम्पराओं से ही हुआ था, और न ही 'सांगीत' सदृश्य लोक-नाट्य परम्परा से। पुराण कथाओं पर आधारित परम्पराशील नाट्य स्वरूपों के प्रभाव से भी भवई नाट्य मुक्त ही रहा। अपने घुमन्तू स्वभाव एवं चरित्र के कारण भवई में सम्पूर्ण नाटक या विस्तृत कथावस्तु पर आधारित नाटकों का विकास सम्भव नहीं हो सका। न ही नाट्य-विधा की बारीकियाँ इस शैली में अपनाई जा सकी। इन्हीं ऐतिहासिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि में भवई नाट्य-शैली में छोटे-छोटे रूपकों एवं प्रहसनों का विकास हो सका और अन्य परम्पराशील एवं लोक नाट्यों की तुलना में भवई एक तुच्छ कोटि का नाट्य स्वरूप ही बनकर रह गया है। छोटे-छोटे रूपक जिन्हें भेष कहा जाता है, उन्हीं की भवई शैली में रचना हुई, जिन्हें नकल, भंडैती एवं स्वाँगों की सहायता से प्रस्तुत किया जाता है। असाइत ठाकुर ने स्वयं अकेले ही ऐसे छोटे-छोटे तीन सौ साठ भेषों की रचना की है जो आज भी भवई कलाकारों में लोकप्रिय हैं और जिनके प्रदर्शन सतत् चलते रहते हैं।

नाट्य प्रदर्शन करते वक्त भवई कलाकार अपने सहज बोध एवं हाजिर जवाबी के गुणों के माध्यम से समसामयिक विषयों को भी इन भेषों में पिरो लेते हैं और उन पर सहजता से तीक्ष्ण कटाक्ष एवं व्यंग्यभरी टिप्पणियाँ करने से भी वे नहीं चूकते। समाज की तात्कालिक समस्याओं, कुरीतियों एवं विसंगतियों पर सहजता से किए गए कटाक्ष न सिर्फ पाखण्ड की पोल खोलकर रख देते हैं, वरन् वे तिलमिला देने वाले भी होते हैं। इन लोक कलाकारों को अपनी भाषा के मुहावरों के प्रयोग की इतनी गहरी समझ होती है कि शब्दों के थोड़े से उलट-फेर से ही ये नाटकीय चमत्कारों का सहज ही सृजन कर दर्शकों को बाँधे रखते हैं।

राजस्थान एवं गुजरात दोनों ही प्रदेशों में भवय्याओं को

भांड भवाय्या भी कहते हैं। भांड उपसर्ग इस बात का द्योतक है कि भवाय्यों की जाति हिन्दू समाज में प्रदर्शनकारी कलाओं में संलग्न एक जाति है। भांड एक प्राचीन जाति है, जो नकलें उतारने एवं स्वाँग भरने में कुशल मानी जाती है और अपने इसी कौशल से लोगों का मनोरंजन कर जीवीकोपार्जन करती है। संस्कृत साहित्य में भी इस जाति का उल्लेख 'भाण' नाम से मिलता है, जिनका पेशा हल्के स्तर के प्रहसन आदि करना दर्शाया गया है। 'चतुर्भाण' नामक नाट्य इसी कर्म के नाट्य का एक उदाहरण है। राजस्थान में भांडों एवं भवाच्याओं के साथ जातीय नाम भी जुड़े मिलते हैं, जो इस बात के सूचक हैं, कि या तो इन भांड भवाय्याओं का सम्बन्ध आरंभिक काल में इन जातियों से रहा होगा, या ये जातियाँ इनको परंपरागत प्रश्रय देने वाली यजमानों की श्रेणी में आती होंगी।

भवई नाट्यों का प्रदर्शन अन्य लोकनाट्यों की तुलना में सरल होता है क्योंकि वे अत्यंत साधारण स्तर के होते हैं। भवई निर्देशक नायक कहलाता है। नाट्य प्रस्तुति किसी भी खुले प्रांगण में, किसी बड़े मकान के बाहर बने खुले चबूतरे पर या किसी मकान के आँगन में या गाँव की चौपाल में की जा सकती है। नायक प्रदर्शन स्थल पर एक वृत्त खींचता है, जिसका व्यास बीस फुट के लगभग होता है। यह स्थान चाचर कहलाता है और इसके भीतर नाट्य प्रस्तुतियाँ सम्पन्न की जाती हैं। यह शब्द चक्र शब्द का ही अपभ्रंश प्रतीत होता है। चाचर में एक ओर संगीतज्ञ अपने साज के साथ बैठते हैं। यदि मंच किसी कमान के चबूतरे पर बनाया जाता है, तब प्रेक्षक तीन दिशाओं में ही बैठक पाते हैं, क्योंकि पार्श्व में भवन या भीति बने होते हैं। चाचर के बीचों-बीच जिस स्थान पर कलाकार नाट्य प्रदर्शन करते हैं, वह स्थान पौढ़ कहलाता है।

सर्वप्रथम सभी कलाकार नायक के साथ चाचर में प्रविष्ट होते हैं, उनके पीछे-पीछे ही साजिंदे भी प्रवेश करते हैं। सम्पूर्ण मंच पर फैलकर सब मिलकर अम्बा माता की स्तुति में गरबी गाते हैं। अम्बा माता आराधना के उपरांत सभी कलाकार नेपथ्य में चले जाते हैं। थोड़े समय के पश्चात् कलाकार पुनः मंच पर प्रवेश करते हैं और साजिंदों में से भूँगल वादक भूँगल बजाता है। भूँगल तुरही के समान एक वाद्य होता है, जो पीतल या ताम्बे का बना होता है। भूँगल की ध्वनि शंखध्वनि सदृश्य होती है। पूर्वरंग का

यह दृश्य गणेश वेश कहलाता है, जिसमें गणपति की वंदना की जाती है। गणेशजी के रूप में एक कलाकार को नायक साथ लेकर पौढ़ में प्रवेश करते हैं। गणेश का अभिनय करने वाला कलाकार एक हाथ में काँसे की चमचमाती हुई थाली लिए हुए अपनी सूरत को उसके पीछे छिपाए होता है। गणेश वंदना के साथ-साथ गणपति भी नृत्य करते हुए मंच पर आगे होते हैं और थाली को घुमाकर नाटकीयता का सृजन करते हैं। अन्य भारतीय लोक नाट्यों में सामान्यतया कागज की लुग्दी के बने हुए गणेश मुखौटे प्रयोग में लाए जाते हैं। गणेश-वंदना पूर्ण होने पर गणेशजी नायक, कलाकार, साजिंदों और आयोजकों को नायक के साथ आयोजन निर्विघ्न पूर्ण होने का आशीर्वाद प्रदान कर नेपथ्य में चले जाते हैं।

भवई में स्त्री का अभिनय भी पुरुष कलाकारों द्वारा ही प्रस्तुत किया जाता है। ये कलाकार कांचलिया कहलाते हैं। स्त्री-पात्र का अभिनय करते समय कांचली (काठियावाड़ी चोली) धारण करने के कारण इनका नामकरण कांचलिया पड़ गया। इन कांचलियों को तणी से पीठ की ओर बांधा जाता है। क्योंकि इनमें बटन नहीं होते। स्त्री पात्र टखनों तक नीचा घाघरा, कांचली और सिर पर ओढ़नी धारण करते हैं। पुरुष-पात्र घेरदार काठियावाड़ी सफेद रंग के अंगरखे पिंडलियों के नीचे तक के चुस्त पैजामें तथा सिर पर साफे धारण करते हैं। साफे पात्र के स्थान, जाति एवं हैसियत के अनुरूप होते हैं। स्त्री एवं पुरुष दोनों ही वर्ग के पात्र पैरों में घुँघरू बाँधते हैं। भवई-नाट्य नृत्य प्रधान होते हैं। अतः पुरुष एवं स्त्री पात्रों का अभिनय करने वाले सभी कलाकार नृत्य अभिनय करते हैं। नृत्य एक प्रकार से भवई की जान होते हैं।

भवई का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कलाकार रंगलो होता है, जो संस्कृत नाटक के विदूषक सदृश्य पात्र होता है। राजस्थान के भवई नाट्य में इस पात्र को कुटकड़िया कहते हैं। भवई के संवाद चटपटे एवं प्रश्न-उत्तर शैली में होते हैं। रंगलो दोनों ओर के प्रश्नों को झेलता है और दोनों ही पक्षों को अपनी हाजिर-जवाबी और हास्य एवं व्यंग्य भरे उत्तर देता है, वहीं दूसरी ओर अपनी नाटकीयता तथा वाक्पटुता से दर्शकों का मनोरंजन करता है। रंगलो कदम-कदम पर कुछ ऐसी नाटकीयता प्रदर्शित करता है कि नाटक में सदैव ताजगी बनी रहती है। भवई के ये भेष सदैव ही प्रदर्शित होते रहते हैं, किन्तु फिर भी रंगलो की नाट्य

क्षमता तथा सदैव कुछ न कुछ नया प्रस्तुत करने के कारण ये खेल नीरस एवं उबाऊ होने से बचे रहते हैं।

किसी भी खेल के गीत एवं नृत्य तो सदैव एक जैसे ही होते हैं, किन्तु रंगलो अपनी विलक्षण हाजिर-जवाबी एवं प्रतिभा से सदैव कोई न कोई नई नाटकीयता इन भेषों में उत्पन्न करता रहता है। उसकी चाल-ढाल, भाव-भंगिमाएँ तथा उसकी आंगिक चेष्टाएँ दर्शकों को लगातार हँसाती रहती हैं। रंगलो शब्द रंग शब्द से बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ होता है-रंगकर्मी। पौढ़ में एक किनारे संगीत के साजिंदे बैठते हैं और दूसरी ओर के कोने में अम्बा माता की आराधना स्वरूप एक दीपक प्रज्वलित किया जाता है, जो अंतिम समय तक प्रज्वलित रहता है। वाद्य-यंत्रों में भूँगल, पखावज, तबला, सारंगी एवं मंजीरे होते हैं। आजकल हारमोनियम का प्रचलन भी सभी मण्डलियों में हो गया है। भवई का नायक (निर्देशक) भवई की सभी विधाओं में पारंगत होता है। वह एक अच्छा गायक होता है तथा नृत्य में भी कुशल होता है। संगीत, अभिनय एवं निर्देशन सभी नाट्य गुणों में वह दक्ष होता है। किसी-किसी मण्डली में नायक ही रंगलो भी बनता है। नायक पदों के गायन के साथ ही नाटक की शुरुआत करता है और समाप्ति तक मंच पर बना रहता है। प्रस्तुति के बीच-बीच में वह अपने गायन द्वारा हस्तक्षेप करता है और प्रसंगों को नाटकीय मोड़ प्रदान करता जाता है।

पूर्वरंग में अम्बा माँ की आराधना एवं गणेश भेष के पश्चात ब्राह्मण भेष की प्रस्तुति की जाती है। पूर्वरंग में गणेश जी की आराधना नाट्य-शास्त्रों के प्रभाव स्वरूप ही आई है, जो अन्य लोकनाट्यों में भी कमोवेश दिखाई पड़ती है। ब्राह्मण वेश में ब्राह्मण का परंपरागत चरित्र प्रस्तुत किया जाता है। यह चरित्र संस्कृत नाटकों का रूढ़पात्र ब्राह्मण है, जो अपनी दीनता के लिए प्रसिद्ध है और सदैव भोजन के लिए लालायित रहता प्रतीत होता है। अपनी दीनता के बावजूद भी यह चरित्र अपने सरल किन्तु नाटकीय आचरण के कारण हास्य का सृजन कर दर्शकों का मनोरंजन करता है।

ब्राह्मण वेश के उपरांत काबा वेश की प्रस्तुति की जाती है। इस वेश में दो पात्र होते हैं। काबा और उसकी पत्नी जाटड़ी इन दोनों पति-पत्नी के रोचक एवं चटपटे संवादों से दर्शक भलीभाँति

परिचित होते हैं, फिर भी इसकी प्रस्तुति में ऐसा कुछ कलाकारों द्वारा नयापन उत्पन्न किया जाता है कि यह प्रसंग कभी भी नीरस नहीं हो पाता।

भवई नाट्य में गणेश-वेश, बाह्यण-वेश एवं काबा-वेश इन तीनों को क्रमशः प्रदर्शित करने की एक परंपरा बन चुकी है। सभी भवई मंडलियाँ ये तीनों प्रसंग नियमपूर्वक प्रस्तुत करती हैं। इसके पश्चात् कुछ अन्य खेलों का प्रदर्शन होता है। चूँकि भवई के प्रहसन आकार में छोटे-छोटे होते हैं, अतः एक रात्रि के किए जा सकते हैं।

जसमा ओड़न, मैना मुजरी, झूठे मियाँ, बोरा-बोरी लालची डोकरी, चरित्रहीन सूरदास, लाडा-लाडी शंकरिया, भीकाजी, बाबाजी, ढोला मारू, जय कुमारी विजय, ललिता दुःख दर्शन, सती द्रोपदी, नरसीभगत एवं मीरा बाई कुछ प्रसिद्ध नाटक हैं, जिन्हें भवई मंडलियाँ प्रस्तुत करती हैं। इसके अलावा छोटे-छोटे सैकड़ों प्रहसन भवई नाटकों में खेले जाते हैं।

‘जसमा ओड़न’ नाटक एक मध्ययुगीन गाथा पर आधारित है, जिसमें एक राजा एक सुन्दर ओड़ कन्या के रूप पर मोहित हो जाता है। ओड़ देश में भयानक अकाल पड़ जाता है और वहाँ से लाखों जन रोजी-रोटी की तलाश में बाहर निकल पड़ते हैं। आजीविका की तलाश में भटकते हुए गुजरात में पहुँच जाते हैं, जहाँ सोरठ का राजा सिद्धराज जैसिंह उन सबको एक विशाल तालाब खोदने के काम पर लगा लेता है। जसमा रूपा नामक व्यक्ति की पत्नी थी, जो देखने में कुरूप था। राजा जसमा को पाने के लिए ओड़ों को अनेक प्रलोभन देता है, किन्तु जसमा उन्हें टुकरा देती है। इसके पश्चात् राजा का आतंक और दमन शुरू होता है और रूपा तथा उसके स्वजन ओड़ों पर सोरठ के राजा के सिपाही अत्याचार करते हैं। ओड़ भी दमन के विरुद्ध संघर्ष करते हैं। इस संघर्ष में रूपा सहित अनेक ओड़ मारे जाते हैं। जसमा भी अपने पति के साथ ही दमन का शिकार हो जाती है, और मरते समय राजा को शाप देती है कि उसका और उसके सोरठ राज्य का सर्वनाश हो जाएगा।

जसमा ओड़न की यह गाथा आज भी छत्तीसगढ़ की घुमन्तू जाति के लोक गायकों द्वारा गायी जाती है। ओड़ देश ओड़ का ही अपभ्रंश है जो वर्तमान में उड़ीसा कहलाता है। यह प्रदेश छत्तीसगढ़

से लगा हुआ है। देवारों द्वारा यह गाथा दसमत ओड़निन के नाम से गायी जाती है, जिसमें ओड़ों के धारा नगरी जाने का उल्लेख है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह गाथा मध्ययुग में धुमन्तू गायकों के साथ गुजरात पहुँच गई और उसने स्थानीय तत्त्वों को आत्मसात कर लिया। भवई कलाकारों ने कालान्तर में इस गाथा का नाट्य रूपान्तरण कर लिया।

‘झूठे मियाँ’ एक ऐसा रंगीन चरित्र है, जो बात-बात में झूठ बोलता है। वह नाचते-गाते हुए प्रहसन करता है। उसकी चाल-ढाल, उसकी वेशभूषा और उसकी आंगिक चेष्टाएँ सभी हास्य एवं नाटकीयता से परिपूर्ण होती हैं। वह सहजता से बड़ा से बड़ा झूठ बोलता और फिर एक झूठ को ढकने के लिए दूसरा झूठ बोलने में और उसकी विचित्र वेशभूषा में वह वास्तविक जगत का व्यक्ति न लगकर फंतासी जगत का नायक प्रतीत होता है। ऐसी मान्यता है कि झूठे मियाँ बुखारा का राजा था और वह सत्य की खोज में यहाँ आया था। इसी मान्यता के अनुरूप उसे एक झूठी ऊँची तुर्रेदार टोपी पहनाई जाती है, जिसके ऊपर काबुली ढंग का साफा बांधा जाता है। वह एक ढीली-ढाली सलवार पहनता है और ऊपर एक लम्बा ढीला-ढाला ही कुर्ता पहनता है। कुर्ते पर काबुली शैली का वास्केट, इस वेशभूषा में वह पूरी तरह मध्य एशिया से आया हुआ यात्री लगता है। सत्य की खोज में निकला झूठे मियाँ अब लगातार झूठ पर झूठ बोलकर हमारे समाज में व्याप्त विसंगतियों को उद्घाटित कर उनकी खिल्ली उड़ाता है। मेरी राय में यह झूठेमियाँ अन्य और कोई नहीं वह ख्वाजा नसीरुद्दीन ही हैं, जिसके किस्से मुगलों के भारत में आगमन के साथ यहाँ पहुँच गए होंगे और उनका भवई कलाकारों ने नाट्य रूपान्तरण कर लिया होगा।

बोरा-बोरी का वेश एक बनिये और उसकी पत्नी के जीवन पर केन्द्रित हास्य एवं व्यंग्य से परिपूर्ण नाटक है। भवई के कलाकार अनेक बार अपने व्यंग्य का निशाना दर्शकों को बनाने से भी नहीं चूकते। बोरा-बोरी में तो वे दर्शकों के साथ-साथ साजिन्दों को भी लपेट लेते हैं। रामजी की सौँगध दिलाकर रंगलो सुनार, पटवारी, थानेदार और भीलखेड़ी की बनजारिन के मुख पर अपने साथ दर्शकों को भी थूकने का आवाहन करता है। ‘सूम, पापी व निठल्ले के मुँह पर यदि वह न थूके तो उसे भवाया ही कौन कहेगा।’ इस तरह शान बघारते हुए वह अनेक जातियों

व व्यक्तियों, सामाजिक स्थितियों और उनके प्रति जनभावना का प्रदर्शन करता है।

कानगुजरी खेल कृष्ण और गोपियों की ठिठोली एवं छेड़छाड़ पर आधारित भेष है। इस भेष को रासलीला का ही भवई संस्करण कहा जा सकता है। इस नाटक में हास्य चरित्र का अभिनय भी रंगलो स्वयं ही करता है, जिसका नाम प्रेमसुखा है। यही पात्र रासलीला में मनसुखा नाम से विख्यात है, जो कृष्ण का बाल सखा है। प्रेमसुखा को गोपियाँ स्त्री-वेश में, कृष्ण को उसकी प्रेमिका के रूप में प्रस्तुत करती हैं। हास-परिहास के पश्चात गरबा रास और डांडिया-रास नृत्य की लयात्मक प्रस्तुति के साथ यह भेष समाप्त होता है।

भवई में अनेक छोटे-छोटे भेषों की रचना हुई है। असाइत ठाकुर के अलावा अन्य भवई नायकों ने भी अपने स्वतंत्र भेष रचे हैं, जिनमें से कुछ प्रसिद्ध हैं- कजोड़ा, छैल बराऊ, रामदेव सलूण, झंडा भूलन, कंसारा जोगन, डेढ़ मनियारा, सूरदास, रणक राय खेंगार आदि। सूरदास में एक चरित्रहीन अंधे साधू का चित्रण किया गया है। लाड़ा-लाड़ी में दो पत्नियों के पति की दुर्गति दिखाई गई है। डोकरी भेष में एक ऐसी लालची डोकरी का चरित्र प्रस्तुत किया गया है, जो धन लेकर अपनी बेटी का विवाह एक अधेड़ उम्र के व्यक्ति से कर देती है। इस तरह हमें ऐसे अनेक खेल भवई नाट्य में मिलते हैं, जो सामाजिक कुरीतियों पर अपने व्यंग्य के माध्यम से सीधा प्रहार करते हैं।

भवई नाटकों में नृत्यों को प्रमुखता दी जाती है। चूँकि नर्तक सभी पुरुष होते हैं, इस कारण नृत्य प्रचंड एवं तीव्र गति में प्रस्तुत किए जाते हैं। नृत्य बहुत कुछ कथक नृत्य से मिलते-जुलते होते हैं और नृत्य में पद चालन कभी पंजे के तो कभी ऐड़ी के बल पर तो कभी सम्पूर्ण तलवे के सहारे संचालित किए जाते हैं। भवई नृत्यों में पैरों की तल पर टकराहट भारीपन लिए होती है और तमाशा या नौटंकी के नृत्यों जैसी नजाकत उनमें नहीं पाई जाती। नृत्य करते समय अनेक बार पखावज या तबला वादक के बीच प्रतिस्पर्धा होने लगती है। वादक को अपनी प्रतिभा दिखाने का जब भी कोई अवसर हाथ लगता है, वह नर्तक के साथ जूझने लगता है। ताल वाद्य पर अनेक बंदिशों के प्रदर्शन के साथ कांचलिया भी अपने नृत्य के अनेक तोड़े व टुकड़े प्रस्तुत करने

से नहीं चूकता। ऐसी प्रतिस्पर्धा में प्रेक्षक आनंद-विभोर हो उठता है। नृत्य के माध्यम से कांचलिया अनेक प्रतिरूपों की रचना करता है। नृत्य की ऐसी आकर्षक प्रस्तुतियों पर दर्शक मुग्ध हो जाते हैं।

भवई के कुछ नृत्य गुजरात एवं राजस्थान प्रदेश के लोक-नृत्यों पर भी आधारित होते हैं। ऐसे ही एक नृत्य की प्रस्तुति खेल के आरंभ में की जाती है। इस नृत्य में कांचलिया स्त्री-वेश में अपने दोनों हाथों में दीपक लिए हुए या पीतल की दो थालियों में जलते हुए दीपक रखकर नृत्य प्रस्तुत करता है। इस नृत्य में नृत्य एवं कलाबाजी के माध्यम से नर्तक अनेक नयनाभिराम लयात्मक स्वरूपों की संरचना प्रस्तुत करता है। कुछ नर्तक दीपक के स्थान पर जलती हुई मशालें अपने दोनों हाथों में लेकर नृत्य प्रस्तुत करते हैं।

भवाच्या जाति की स्त्रियों के लिए भवई नाटक देखना वर्जित है। इसका उद्देश्य शायद स्त्रियों को भवई से अलग रखकर उन्हें गृहकार्य का उत्तरदायित्व निर्वाह करने से पूरी तरह जोड़े रखना है। अपने घरों की स्त्रियों के समक्ष प्रस्तुतियों में संकोच, झिझक एवं वर्जनाएँ पैदा होना स्वाभाविक हैं। स्त्रियों पर भवई न देखने की बंदिश के परिणामस्वरूप नर्तक एवं कलाकार उन्मुक्त होकर खेल सकते हैं। कुछ नृत्यों में कांचलिया सिर पर घड़े रखकर भी नृत्य करते हैं और संतुलन साधते हैं। क्या मजाल कि एक पर एक रखे घड़े गिरकर फूट जायें।

भवई में कुछ समूह नृत्य भी प्रस्तुत किये जाते हैं। ऐसे समूह नृत्य गुजरात के रास गरबा, डांडिया-रास एवं राजस्थान के घूमर पर आधारित होते हैं। भवई में रास गरबा की प्रस्तुति तीव्रगति से होती है और नर्तक मंडल में ही घूमते हुए अनेक रूपाकारों व आकृतियों की रचना करते हैं। चूँकि भवई का आरंभ नाचने वाले कलाकारों ने ही किया था। अतः नृत्य तथा गायन नाट्य के तत्त्व आज भी भवई के प्रमुख अंग बने हुए हैं। नाट्य के तत्त्व भवई में तुलनात्मक दृष्टि से अल्प विकसित एवं निम्न स्तर के ही रह गए हैं। संगीत एवं गायन प्रस्तुतियों में अनेक प्रचलित देश राग-रागिनियों एवं लोकधुनों का व्यापक प्रयोग होता है। गुजरात, काठियावाड़ एवं राजस्थान की अनेक प्राचीन, राग-रागिनियाँ भी इन भवई कलाकारों के पास सुरक्षित रह गई हैं। और इनसे

परम्परागत भवई दर्शक भी भलीभाँति परिचित है। इन राग-रागिनियों को सुनकर सुधी दर्शक का मनोरंजन तो होता ही है, इसके साथ ही ये राग-रागिनियाँ जीवन्त बनी रहती हैं।

भवई नाट्य में कलाकारों की सज्जा साधारण कोटि की होती है। श्रृंगार में दाढ़ी-मूँछों, सिर के बालों आदि का प्रयोग किया जाता है। हल्दी, गेहूँ का आटा, संगजीरे का चूर्ण, काजल, लाली इत्यादि सामग्री सज्जा हेतु प्रयोग में लाई जाती है। मूँछ एवं भौंहों को गहरे काले रंग से अतिरंजित कर दिया जाता है, जिसके परिणाम स्वरूप पात्र प्रभावशाली लगने लगते हैं। स्त्री-पात्रों को गुजरात में प्रचलित स्त्रीयोचित्त आभूषणों से सजाया जाता है, जो काँच एवं पीतल-काँसे जैसी सस्ती धातुओं के बने होते हैं। पात्रों को उनके क्षेत्र एवं उनकी सामाजिक हैसियत के अनुरूप वस्त्र एवं पगड़ी-साफे पहनाए जाते हैं। उन्हीं के द्वारा पात्र पहचाने जाते हैं।

मंच पर प्रकाश व्यवस्था पुराने जमाने में तो मशालें जलाकर की जाती थीं। यह कार्य गाँव का नाई करता था। मंच के दोनों ओर की लकड़ी की बल्लियों पर मशालें बाँध दी जाती थीं, जिनमें थोड़े-थोड़े अंतराल पर नाई तेल डालता जाता था। आजकल अनेक गाँवों में बिजली पहुँच जाने के कारण विद्युत प्रकाश द्वारा मंच पर प्रकाश व्यवस्था की जाती है। जहाँ बिजली उपलब्ध नहीं है, वहाँ गैस बत्तियाँ उपयोग में लाई जाती हैं। बहुधा भवई मण्डलियाँ अपनी गैस बत्तियाँ साथ लेकर चलती हैं। मशालों के मद्धिम-मद्धिम प्रकाश में भवई की प्रस्तुति का रहस्यात्मक प्रभाव होता था, वह विद्युत की तेज रोशनी में कहाँ सम्भव है।

भवई की प्रस्तुतियाँ भवाच्या जाति के अलावा अन्य जातियों के कलाकारों द्वारा भी की जाती है। नवरात्रि पर्व के अवसर पर विशेष रूप से ऐसी प्रस्तुतियाँ अम्बा माता की सेवा में अन्य समुदायों द्वारा भी की जाती हैं। तेजी, कोली, काछी, नाई तथा वधारियों द्वारा भवई की प्रस्तुतियाँ इस अवसर पर देखने में आती हैं। कुछ जातियों के अपने परम्परागत भांड भवाई हैं, जो अपने यजमानों के पास पर्व आदि के अवसरों पर आते हैं और अपने खेलों का प्रदर्शन कर उनका मनोरंजन करते हैं। यजमान उन्हें इनाम आदि देकर विदा करते हैं।

गुजरात में अधिकांश भवई भेषों की रचना उसके परम्परागत नायकों द्वारा की गई हैं। ये नायक ही रचनाकार, निर्देशक एवं सूत्रधार सभी कुछ होते थे और अशिक्षित एवं घुमन्तू प्रवृत्ति के थे। अतः उनके द्वारा रचे गये नाटकों का साहित्यिक स्तर अत्यंत साधारण या निम्नकोटि का ही बनकर रह गया गुजरात की अपेक्षा राजस्थान के भवई नाटक साहित्यिक एवं नाट्य की दृष्टि से कहीं श्रेष्ठ हैं। इसका कारण शायद वहाँ साहित्यिक दृष्टि से समृद्ध एक दूसरी नाट्य परम्परा ख्याल विद्यमान होना है। चूँकि ख्याल साहित्य लावणी गायकों एवं तुरा-कलंगी के कवियों ने अपने योगदान से पुष्ट किया था, अतः उसका प्रभाव वहाँ के भवई नाट्य स्वरूप पर भी पड़े बिना नहीं रह सका।

गुजराती साहित्य अपने आपमें अत्यंत समृद्ध है और उसकी परम्परा अत्यंत प्राचीन है। तेरहवीं शताब्दी में जैन अपभ्रंश साहित्य में रासो लिखने की परम्परा स्थापित हो चुकी थी। उसके पूर्व वहाँ छठवीं शताब्दी से ही संस्कृत-साहित्य की भी समृद्ध परम्परा विद्यमान थी। दसवीं शताब्दी के पश्चात् जैन धर्म का प्रभाव इस क्षेत्र पर बढ़ने लगा, जिसके परिणाम स्वरूप गुजराती साहित्य पर भी उसका प्रभाव परिलक्षित हुआ। रासो या रासकों की रचना उसी काल में हुई।

गुजरात की पशुपालक जातियों में एक समूह नृत्य प्राचीन काल से प्रस्तुत करते थे। इसी नृत्य का विकास कालान्तर में रास-गरबा और डांडिया-रास के रूप में हुआ। अरावली पर्वत पर अम्बा माँ की आराधना में वहाँ की जनजातियों में प्राचीन काल से इस नृत्य का प्रचलन है। इसी नृत्य को राधा-कृष्ण एवं गोपियों के रासलीला की प्रस्तुति हेतु मध्य काल में अपना लिया और यह नृत्य रासलीला के प्रचार के साथ-साथ वैष्णव संतों द्वारा सम्पूर्ण उत्तर एवं पूर्वी भारत में फैल गया। मध्यकाल में वैष्णव भक्तों का वृन्दावन-मथुरा से द्वारकापुरी और द्वारकापुरी से मथुरा-वृन्दावन आवागमन होता रहता था। उन्हीं भक्तों ने रासलीला हेतु इस नृत्य को अपना लिया होगा। गुजरात के मध्ययुगीन संत कवियों में नरसी भगत और मीरा बाई का योगदान विशेष उल्लेखनीय है।

गुजराती साहित्य में समृद्ध भवई लोकनाट्य शायद इसलिए अछूता रह गया, क्योंकि भवाच्या जन अपनी आजीविका हेतु

सदैव एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करते रहते थे, और इस कारण वे साहित्य की प्रमुख धारा से कटे ही रह गए। भवाच्याओं का समाज और अपनी-अपनी जातियों से बहिष्कृत होना भी इसका एक प्रमुख कारण प्रतीत होता है। इन भवाच्याओं ने अपनी शिक्षा एवं अपने उपलब्ध साधनों के अनुरूप एक ऐसे मनोरंजन के स्वरूप का विकास किया, जो गुजरात एवं राजस्थान के ग्रामीण अंचलों में सहजतापूर्वक स्वीकृत हो गया।

वर्तमान समय में कुछ प्रबुद्धजनों एवं नाट्य कवियों का ध्यान भवई की ओर आकृष्ट हुआ है। रणछोड़भाई, नर्मदाशंकर, मणीभाई,, दलपत राय, नभुभाई आदि लेखकों ने भवई में खेले जाने के उद्देश्य से कुछ अच्छे भेषों की रचना की है। भवई पर इनका भी विशेष प्रभाव नहीं दिखाई पड़ा। जयशंकर भोजक 'सुन्दरी' जो स्वयं एक अच्छे कांचलिये हैं, ने दीना गाँधी (पाठक) और शांता गाँधी के साथ मिलकर भवई को समृद्ध करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। दीना गाँधी ने भवई में एक नवीन पात्र रंगली को जोड़कर उसे एक नए आयाम का विस्तार किया है। यह रंगली रंगलो की पत्नी है। रसिकलाल पारीख ने मैना गूजरी नामक नाटक की पुनर्रचना की है, जिसकी प्रस्तुति नए रूप में दीना पाठक एवं जयशंकर 'सुन्दरी' द्वारा की गई है।

शांता गाँधी ने स्वर्गीय श्री श्याम परमार के सहयोग से जसमा ओड़न की पुनर्रचना की और उसका हिन्दी में अनुवाद किया। जसमा की नए रूप में प्रस्तुति दिल्ली के नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा द्वारा 1967 में गुजराती साहित्य सम्मेलन के अवसर पर की गई। जसमा ओड़न के नए स्वरूप को अत्यधिक सराहना मिली और उसकी अनेक भारतीय भाषा में प्रस्तुतियाँ अन्य रंगकर्मियों द्वारा की गई हैं। शांता गाँधी द्वारा जसमा ओड़न का प्रदर्शन लंदन में सन् 1982 में भारत महोत्सव के उपलक्ष्य में भी किया गया, जिसे अत्यंत सफल माना गया। भारत के विभिन्न लोक नाट्यों की क्षमता एवं सम्भावना की ओर नए रंग कर्मियों का ध्यान आकर्षित हुआ है। भवई की क्षमता का उपयोग करने की दिशा में भी कुछ गम्भीर रंगकर्मी उद्यत हुए हैं। ये प्रबुद्ध रंगकर्मी यदि लगातार इस दिशा में प्रयत्नशील रहे तो कोई आश्चर्य नहीं कि यह नाट्य स्वरूप तो समृद्ध होगा ही, इसके साथ ही साथ आधुनिक रंगमंच में लोक तत्वों का समावेश भी होगा और उन्हें व्यापक परम्परागत दर्शक वर्ग का जनाधार प्राप्त होगा। इस

प्रक्रिया में आधुनिक रंगमंच भी समृद्ध एवं पुष्ट हो सकेगा। भारतीय रंगमंच के विकास की दिशा में गंभीरतापूर्वक सम्पूर्ण एवं प्रतिबद्धता के साथ नए रंगकर्मियों को परम्परागत नाट्य स्वरूपों के साथ जुड़कर लगातार काम करने की आवश्यकता है।

## बिदेसिया

भोजपुरी बिहार के पश्चिम और उत्तरप्रदेश के पूर्व में स्थित है। दोनों प्रदेशों में फैले हुए इस क्षेत्र की भाषा भोजपुरी है। उत्तरप्रदेश का वाराणसी और बिहार का पटना नगर इस विशाल क्षेत्र के दो प्रमुख बड़े नगर हैं। बिदेसिया भोजपुरी क्षेत्र का एक प्रमुख लोकनाट्य रूप है। यहाँ का दूसरा लोकनाट्य नौटंकी है, जो अपनी परम्परा से दूर होता चला गया है और उसमें ह्रासोन्मुखी गिरावट आ गई है। नौटंकी का विस्तार भी यहाँ कानपुर एवं लखनऊ से ही हुआ है। बिदेसिया एक लोकनाट्य का नाम है न कि लोकनाट्य शैली का। इस लोकनाट्य की रचना भिखारी ठाकुर ने की थी। यह नाटक अपने प्रथम प्रदर्शन से ही प्रसिद्ध होता चला गया। इस नाटक की प्रसिद्धि ने इस शैली को ही बिदेसिया नाम प्रदान कर दिया। इसके बाद भिखारी ठाकुर द्वारा रचित सभी नाटक बिदेसिया कहलाने लगे। समाज-सुधार से सम्बन्धित सभी लोकनाट्य आजकल बिदेसिया शैली में ही पहचाने जाते हैं। इसके पूर्व इस क्षेत्र में नौटंकी ही लोकनाट्य के रूप में प्रचलित थी। बिदेसिया नाट्य, नौटंकी के लिये ही भिखारी ठाकुर ने लिखा था। बिहार की नौटंकी में काफी अश्लीलता आ गई है और ग्रामीण अंचल में लगने वाले मेलों-ठेलों में उनके भोंडे प्रदर्शन होने लगे हैं। इसीलिए एक नये कथानक के साथ सामाजिक सरोकार पर केन्द्रित बिदेसिया-नाट्य का मंचन हुआ, तो उसने समाज में तहलका मचा दिया। उसके प्रदर्शनों में भीड़ उमड़ती चली गई और एक नई नाट्य-शैली का उद्भव हो गया।

भिखारी ठाकुर अल्पशिक्षित थे, शायद पहली-दूसरी हिन्दी प्राथमिक शाला में पढ़े हुए थे। वे अभ्यास से पढ़ना-लिखना सीख गये थे और अपने हस्ताक्षर कर लेते थे। उनका बचपन रायपुर नगर में बीता था। संभवतः जन्म भी वहीं हुआ हो। वे नाई जाति के थे, बिहार में उन्हें भी ठाकुर या नाई ठाकुर कहा जाता है। उनके पिता बिहार से ही रायपुर गये थे। उनके बचपन का

कुछ समय जबलपुर में भी बीता था। वे वयस्क होने पर बिहार आ गये थे और भोजपुरी भाषा में ही बिदेसिया नाटक की रचना की।

इस नाटक का कथानक बिहार की एक भीषण समस्या पर आधारित है। भोजपुर क्षेत्र में भीषण गरीबी और बेरोजगारी है। यहाँ अक्सर सूखा पड़ता है या बाढ़ आती है। सघन आबादी वाला क्षेत्र है, अतः हमेशा ही कोई न कोई विपत्ति बनी रहती है। गत दो-ढाई सौ वर्षों से वहाँ के लोग आजीविका की तलाश में यहाँ से पलायन करते रहे हैं। अंग्रेजी शासन काल में अंग्रेज यहाँ के मजदूरों को मॉरिशस और वेस्टइंडीज तक अपने उपनिवेशों में काम करने के लिये ले गये थे। इस नाटक में बिहार के भोजपुर जनपद के ऐसे ही गरीब सीमान्त किसान एवं खेत-मजदूरों के जीवन के ऐसे पक्ष का चित्रण है, जिसमें ये लोग आजीविका की तलाश में बंगाल और विशेष रूप से कलकत्ता जाते हैं और कुछ वर्ष वहाँ रहने के उपरान्त वहीं के हो जाते हैं। पीछे अपने माता-पिता, पत्नी-बच्चे, घर-द्वार एवं प्रदेश सब छूट जाते हैं और परदेस ही उनका सब कुछ हो जाता है।

बिदेसिया नाटक का प्रमुख पात्र भोजपुर जनपद का एक सीमांत कृषक है, जो युवक है। उसका विवाह हो चुका है। वह आजीविका की तलाश में कलकत्ता जाने को तैयार होता है। उसकी नवविवाहित पत्नी उससे न जाने का आग्रह करती है और वहीं रहकर कोई भी छोटा-मोटा काम करके जीवन-यापन करने को कहती है। परन्तु वह अपने निश्चय पर अडिग बना रहता है और कलकत्ता चला जाता है। वह कुछ समय तक अपने परिवारजनों को वहाँ से रुपये-पैसे भेजता है और चिट्ठी-पत्री लिखता है, परन्तु कुछ समय के पश्चात् पैसे भेजना और चिट्ठी लिखना बंद कर देता है। कलकत्ता में ही वह वहाँ की एक स्त्री से विवाह कर लेता है और वहीं बस जाता है। इस प्रकार से वह बिदेसिया हो जाता है और अपनी पत्नी तथा बूढ़े माँ-बाप की सुध लेना भूल जाता है। उसके गाँव का एक वृद्ध व्यक्ति कलकत्ता जाने वाला है, जब इस बात का पता उस व्यक्ति (बिदेसिया) के परिवारजनों को चलता है, तो उसकी पत्नी उस वृद्ध से आकर प्रार्थना करती है कि वह समझा-बुझाकर किसी भी प्रकार से उसके पति को साथ लेकर आये।

कलकत्ता पहुँचकर वह किसी प्रकार से उसे खोजने में सफल हो जाता है। वहाँ वह व्यक्ति अपनी दूसरी पत्नी के साथ रहता है। वह वृद्ध उसे उसके परिवार की दयनीय हालत को बयां करता है और उससे वापस चलने के लिये समझाता है। परन्तु उसकी दूसरी पत्नी उसे नहीं जाने देती। वृद्ध रो-रोकर उसके वृद्ध माता-पिता और उसकी पत्नी की दुर्दशा बताकर उसे काफी समझाता है, परन्तु वह कलकत्ता छोड़कर वापस नहीं आता।

यह समस्या बिहार और पूर्वी उत्तरप्रदेश के भोजपुरी भाषी क्षेत्र की एक गम्भीर समस्या है। इस नाटक की भाषा भोजपुरी है और आरंभिक संवाद भोजपुरी के ग्रामीण क्षेत्र की व्यंग्यपूर्ण एवं हास्य-प्रधान शैली में है। कलकत्ता पहुँचने के बाद जब समझाने पर भी वह युवक वापस आने को सहमत नहीं होता है, तो उसके बाद के संवाद अत्यंत करुण हैं और वैसे ही कारुणिक इस नाटक के गीत हैं। इस नाटक के करुणा-प्रधान गीतों को गाते समय रुदन का अभिनय जब भिखारी ठाकुर प्रस्तुत करते थे, तो हजारों दर्शक सिसकियाँ भरने लगते थे। उनके इस नाटक को देखने के लिये पचास-पचास हजार दर्शकों की भीड़ जुटती थी। स्वर्गीय अमृतराय ने मुझे बताया था कि एक बार उन्होंने बिदेसिया नाटक देखा था, जिसमें चालीस-पचास हजार दर्शक जुटे थे। भिखारी ठाकुर बिना माइक व लाउडस्पीकर के प्रदर्शन कर रहे थे। कुछ एक पैट्रोमेक्स की रोशनी में और दर्शक नाटक के समाप्त होने तक जमें हुए थे। भिखारी ठाकुर के कारुणिक गायन से भाव-विभोर हो हजारों दर्शक रोने लगे थे।

बिदेसिया नाट्य अभी भी अलिखित है। आजकल उनके सुपुत्र उनके निधन के पश्चात् इस मण्डली का संचालन कर रहे हैं। वे ही प्रमुख पात्र की भूमिका निभाते हैं। पाठ अलिखित होने का दो लाभ हैं, एक तो पाठ के रूढ़ होने की संभावना नहीं रहती है, जो अलिखित होने के कारण सदैव विकसित होता रहता है। दूसरे कलाकारों को भी अपनी प्रत्युत्पन्नमति से अभिव्यक्ति की संभावना होती है। अलिखित होने के बावजूद भी अब तक इस नाटक के डेढ़ हजार से अधिक प्रदर्शन हो चुके हैं। भिखारी ठाकुर की नाट्य प्रतिभा बहुत ही विलक्षण थी। उन्होंने बिदेसिया के अलावा दस अन्य नाटकों की रचना की है। वे सभी नाटक बिदेसिया ही माने जाते हैं। बिदेसिया सम्पूर्ण भोजपुरी भाषी जनपद



में सर्वाधिक लोकप्रिय लोकनाट्य स्वीकार किया जाता है। अब तक इसे करोड़ों लोग देख चुके हैं।

इस लोकनाट्य का महत्त्वपूर्ण पक्ष उसकी सादगी भी है। इस नाटक के पात्रों की वेशभूषा अत्यंत साधारण है, वैसी ही है जैसी बिहार के ग्रामीणजनों की है। नाटक में स्त्री-पात्रों की भूमिका भी अधिकांश भारतीय लोकनाट्यों की भाँति पुरुष ही निभाते हैं। पुरुष धोती-कमीज या कुर्ता धारण करते हैं तथा ऊपर से एक बंडी पहनते हैं। सिर पर सफेद टोपी हैं या गमछा लपेट लेते हैं। हू-ब-हू बिहार के ग्रामीण कृषक दिखाई पड़ते हैं। स्त्री पात्र रंगीन साड़ियाँ, ऊपर पोलका (ब्लारूज) धारण करती हैं। हाथों में चूड़ियाँ, पैरों में पायजेब, नर्तकिया घूँघरू, गले में गले के आभूषण पहनते हैं। बालों में लम्बी चोटियाँ गूँथते हैं। वृद्ध की भूमिका करने वाला पात्र नकली सफेद मूँछों का प्रयोग करता है। ग्रामीण स्त्रियों की भूमिका में कार्यरत पात्र सदैव चेहरों को साड़ी के पल्लू का घूँघट बनाकर ढके रखते हैं। केवल कलकत्ते वाली स्त्री गहरे अंगराग (मेकअप) और भड़कीली रंगीन वस्त्रों में बिना घूँघट के दिखाई पड़ती है। अंगराग में नकली बालों की बनी हुई दाढ़ी-मूँछों तथा चोटियों (बिग) का उपयोग होता है। लाल, गुलाबी, पीले तथा सफेद रंगों को सोप स्टोन के चूर्ण में मिलाकर मेकअप में उपयोग करते हैं। आँखों में काजल लगाते हैं। आजकल लिपिस्टिक का उपयोग भी किया जाने लगा है।

यद्यपि नाट्य का पाठ अलिखित है, परन्तु इसमें पद्य एवं गीतों की भरमार है। गीत करुण रस में भोजपुरी भाषा में लिखे गये हैं। बहुत से संवाद भी पद्य के आदान-प्रदान के माध्यम से प्रस्तुत किये जाते हैं। गीत देशी राग-रागनियों में प्रस्तुत किये जाते हैं, जो अत्यंत प्रभावशाली होते हैं। बिदेसिया की पत्नी द्वारा प्रस्तुत गीत एवं पद्य संवाद बिरहा राग में गाये जाते हैं, जिनमें श्रृंगार एवं विरह की भावना की प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। संवादों की प्रस्तुति बहुत ही ऊँचे स्वर में की जाती है। अनेक स्थानों पर खुले मंच पर बिना माइक और लाऊडस्पीकर के इन्हें नाट्य प्रस्तुतियाँ करनी पड़ती हैं, इसलिये ये कलाकार उच्च स्वर में संवाद प्रस्तुत करने के अभ्यस्त हैं। भिखारी ठाकुर के निधन के बाद अब उनके सुपुत्र लाऊडस्पीकर उपयोग करने लगे हैं, परन्तु फिर भी संवाद ऊँचे स्वर में ही बोले जाते हैं।

संगीत वाद्यों में तबला, हारमोनियम, ढोलक एवं मंजीरे का प्रयोग किया जाता है। संगत भी मंच पर पीछे की ओर एक तरफ बैठती है। मंच अत्यंत सादगीपूर्ण होता है, जिसे तीन ओर से सफेद वस्त्र से घेर दिया जाता है जो किसी खुले प्रांगण में बनाया जाता है। बिदेसिया के विशाल दर्शक समूह को ध्यान में रखकर ही किसी बड़े खुले हुए प्रांगण को ही मंच हेतु चुना जाता है। दर्शक मंच के सामने बैठते हैं। बिदेसिया के मंच हेतु न तो पर्दों का प्रयोग किया जाता है, न ही इसमें कोई पार्श्व की ही आवश्यकता होती है। एक तथ्य की ओर यहाँ ध्यान देने की आवश्यकता है इसी क्षेत्र में नौटंकी के मंचों की सजा काफी तड़क-भड़क वाली होती है और उसमें आकर्षक पर्दों, पार्श्व कक्षों एवं श्रृंगार कक्षों की व्यवस्था होती है। नौटंकी के कलाकारों की वेशभूषा भी काफी तड़क-भड़क वाली एवं महंगी होती है। बिदेसिया ग्रामीण कृषक समाज का लोकनाट्य है, तः उसमें वही सादगी विद्यमान है जो भोजपुरी कृषक समाज में है। कम से कम साधनों के माध्यम से भोजपुरी जनजीवन की आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति का प्रतिबिम्ब है बिदेसिया लोकनाट्य।

बिहारी ठाकुर, कुतुबपुरा ग्राम जो छपरा जिले में स्थित है के निवासी थे। वे भोजपुरी भाषी जनपद जो बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश का एक विस्तृत क्षेत्र है, उसके सर्वाधिक सम्मानित कलाकार थे। उन्होंने इस आर्थिक रूप से पिछड़े और गरीबी से ग्रस्त क्षेत्र में अपने लोकनाट्यों के माध्यम से एक मिशनरी की तरह सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध जनजागरण का कार्य किया। उनके नाटक अनमेल-विवाह, बाल-विवाह, खेत-मजदूरों के जमींदारों द्वारा शोषण, जाति-प्रथा एवं छुआछूत जैसे विषयों पर आधारित थे। उन्होंने अपने नाटकों के माध्यम से शराब खोरी और जूयेजैसी कुरीतियों के विरुद्ध भी मुहिम छेड़ी। वे एक प्रकार से लोकनाट्य के महात्मा गाँधी थे। उन्हें नाटक प्रस्तुत करने हेतु बड़े-बड़े जमींदार भी आमंत्रित करते थे। परन्तु उनके समक्ष भी उन्हें उनकी बुराईयों पर अपने नाटकों के माध्यम से कटाक्ष करने में कोई झिझक नहीं होती थी। वे एक साहसी और ईमानदार नाट्यकर्मी थे। एक बार उन्हें डुमराँव के राजा साहब ने बिदेसिया की प्रस्तुति हेतु आमंत्रित किया था। भिखारी ठाकुर को उनके नौकरों से ज्ञात हुआ कि राजा साहब उन्हें इतनी कम तनख्वा देते थे कि उसमें उनका गुजारा भी सम्भव नहीं था। उन्होंने नाटक के

एक दृश्य में संवाद जोड़ा- 'इस व्यक्ति को उसके अपराधों की सजा के रूप में राजा साहेब डुमराँव की नौकरी में लगा दिया जाये, जिससे कि वह भूख से बिलख-बिलख कर मर जाये।' यह व्यंग्योक्ति इतनी सटीक थी कि राजा साहेब तुरन्त उसके लक्ष्य को ताड़ गये और उन्होंने दूसरे ही दिन से अपने नौकर चाकरों की तनख्वाह में वृद्धि कर दी।

यहाँ भिखारी ठाकुर का एक गीत उद्धृत करना चाहूँगा। बिदेसिया की पत्नी कलकत्ता जाने वाले वृद्ध से अपनी विरह भावना अभिव्यक्त कर रही है, इस गीत की तुलना जगदीश चन्द्र माथुर ने कालिदास के मेघदूत से की है।

गवना कराई सैयाँ घर बैठले से।  
अपन गइले परदेश रे बिदेसिया॥  
चढ़ली जवनियाँ बैरन भइली हमरी से।  
के मोर हरिहँ कलेस रे बिदेसिया॥  
केकरा से लिखि के में पतियाँ पठइबों से।  
केकरा से पठवों सनेस रे बिदेसिया॥  
तोहरे कारण सैयाँ भभुती रमइबो से।  
घर बैठवले से अपने गइले परदेश रे बिदेसिया।  
कबल दो फरिहँ दइब निरमोहिया से।  
मोरा बिरहनियाँ के भाग रे बिदेसिया॥  
हमरो सुत सैयाँ तुँहुँ बिसरवल से।  
रहल सबति रसपागि रे बिदेसिया॥  
दिनवा बितेला सैयाँ बहिया जोहत तोर।  
रतिया बितेला जागि जागि रे बिदेसिया॥  
घरि रात गइले पहर रात गइले से।  
धधके करेजवा में आगि रे बिदेसिया॥

बटोही को सम्बोधन कर कहती है-

गोड़ तोर लागी रामा भइया बनिजरवा से।  
हमरो विनय सुनि लेहु रे बटोहिया॥  
जहुँ तुहुँ जइब रामा पुरबि बनिजिया से।  
हमरो सनेस लेले जाहु रे बटोहिया॥  
कैसे मैं कहौँ रामा अपनो सनेसवा से।  
बार-बार जिया अंकलाई रे बटोहिया॥  
ताही पीछे बारहो बियोग रे बटोहिया।

जेकर तिरियवा रामा बन-बन बिलखे से॥  
सेहो कैसे करे रस भोग रे बटोहिया।  
अगिया लगाऊँ रामा राजा की नौकरिया से॥  
कठिन करेज हवे तोर रे बटोहिया॥  
तोरि धनि भइली रामा बनकी कोइलिया से।  
कुहूँकति फिरे चारू ओर रे बटोहिया।

बटोही कहता है -

कइसन हड़बे तोरे वारे रे बलमुआ से,  
हमरा के देहुना बताइ रे संवरिया।  
तोहरे सनेसवा हो तोहरे बलुमजी से,  
हमहूँ कहबि समझाई रे संवरिया॥

बिदेसिया की पत्नी बटोही से अपने पति का वर्णन करती

है-

हमर बलमुजी के बड़ी-बड़ी आँखिया से,  
चोखे-चोखे बाड़े नैना कोर रे बटोहिया।  
ओठवा तो बाड़े जैसे कतरल पनवां से,  
नकिया सुगनवाँ के ठोर रे बटोहिया॥  
दंतवा तो शोभे जैसे चमके बिजुरिया से,  
मोछियन भंवरा गुंजारा गुंजारे रे बटोहिया।  
मथवा में सोमे रामा टेढ़ी काली टोपिया से,  
रोरी बुना सोमेला लिलार रे बटोहिया॥

वार्ता -ऐ बाबा! हम केतना ले दुख, हमरा अन्न पानी सब कुछ अच्छा नइखे लागत।<sup>1</sup>

भिखारी ठाकुर का सत्तर के दशक में निधन हो गया। उनकी मंडली का संचालन आजकल उनके पुत्र गौरी शंकर ठाकुर कर रहे हैं। भोजपुरी भाषा में इस लोकनाट्य पर आधारित बिदेसिया नाम से ही एक फिल्म भी बन चुकी है, जिसे 'बॉक्स ऑफिस' पर बड़ी सफलता मिली है। परन्तु प्रबुद्धजनों एवं बुद्धिजीवियों के मन में आज भी भिखारी ठाकुर के योगदान के लिये यथोचित सम्मान का भाव नहीं है। वे एक महान मिशनरी समाज-सुधारक थे। जिन्होंने अपने नाटकों के माध्यम से बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया। बिहार के घर-घर में उनका नाम आदर के साथ लिया जाता है।

## ख्याल - तुरा-कलंगी

ख्याल अपने आरंभिक काल में या कहिये कि मूल रूप में गायन की एक शैली थी, जिसमें नाथ पंथी साधु एवं मुस्लिम सूफी संत अपने भजन एवं धार्मिक गीत गाया करते थे। हिन्दुस्तानी ख्याल गायिकी का उद्भव महाराष्ट्र की लावनी शैली से हुआ है, इसीलिए इसे इसके उद्भव के आरंभिक काल में मराठी गायिकी भी कहा जाता था। सोलहवीं शताब्दी के मध्यकाल में महाराष्ट्र में लावनी गायिकी गायन की एक अत्यन्त लोकप्रिय विधा बन चुकी थी। मराठा राज्य के उत्थान के साथ-साथ ही लावनी का भी उत्थान हुआ और मराठों के प्रभाव के विस्तार के साथ ही साथ लावनी का विस्तार भी उत्तरी भारत में हुआ। औरंगजेब की मृत्यु के उपरान्त मुगल सल्तनत की शक्ति क्षीण होने लगी और उसके साथ ही सूफी सन्तों ने अधिक उदार दार्शनिक विचारों का प्रचार करना आरंभ किया, ताकि हिन्दू एवं मुसलमान एक दूसरे के प्रति अधिक सहिष्णु बन सकें। हिन्दू सन्तों एवं मुस्लिम फकीरों, दोनों ने ही अपने-अपने उदार धार्मिक विचारों के प्रचार हेतु लावनी गायिकी को अपनाया और इसके परिणाम स्वरूप अठारहवीं शताब्दी के आरंभ तक गायन की यह शैली उत्तरी भारत में भी सर्वत्र फैलकर जन-जन में लोकप्रिय हो गई।

सन्त तुकनगिरी एवं शाहअली फकीर दोनों ही समकालीन थे और दोनों ही अपने जमाने के प्रसिद्ध ख्याल गायक थे। ये दोनों ही सन्त अच्छे गायक होने के साथ-साथ अच्छे कवि भी थे और दोनों ही लावनी लिखा करते थे। अपने अनुयाइयों एवं भक्तों के बीच 'चंग' बजाकर ये दोनों संत लावनी गाकर उदार एवं सहिष्णु विचारों का प्रचार किया करते थे। संत तुकनगिरी हिन्दू थे और शाहअली मुसलमान फकीर थे। ये दोनों ही महापुरुष हिन्दू-मुस्लिम एकता एवं भाईचारे के प्रति प्रतिबद्ध थे। औरंगजेब के शासन काल में उनकी धार्मिक कट्टरता के कारण हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों में कटुता उत्पन्न हो गई थी, जिसे दूर करने में इन दोनों महान सन्तों एवं उनके अनुयाइयों ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

एक प्रचलित किंवदंती के अनुसार चंदेरी रियासत के दरबार में इन दोनों संतों को लावनी गायन हेतु आमन्त्रित किया गया था। दोनों ही गायक अपने-अपने अनुयाइयों के साथ दरबार में लावनी गायन हेतु उपस्थित हुए। दोनों ही सन्तों ने एक-दूसरे से बढ़कर

लावनियाँ गाकर सुनाई। एक संत और उसके अनुयाई जो लावनी प्रस्तुत करते, तो उसके जवाब में दूसरा संत उससे भी बढ़कर लावनी प्रस्तुत करता। चंदेरी के राजा दोनों सन्तों के गायन से इतने अधिक मुग्ध हो गए कि अन्त में उन्होंने सन्त तुकनगिरी को अपने मुकुट का तुरा उपहार स्वरूप भेंट कर दिया और सूफी संत शाहअली फकीर को कलंगी भेंट कर दी। इस घटना के पश्चात् संत तुकनगिरी के अनुयाई तुरावाले एवं शाहअली फकीर के अनुयाई कलंगी वाले कहलाने लगे।

संत तुकनगिरी अपने चंग को हिन्दू होने के कारण भगवे वस्त्र में लपेटकर रखते थे और शाहअली फकीर मुसलमान होने के कारण हरे रंग के वस्त्र में लपेटकर रखते थे। उपरोक्त ऐतिहासिक संदर्भ के कारण तुरावाले ख्याल गायक भगवे रंग से और कलंगी वाले ख्याल गायक हरे रंग से पहचाने जाने लगे। दोनों ही गायक सन्तों के भक्तों ने उत्तरी भारत में सर्वत्र अपने-अपने मतावलम्बियों के अखाड़े स्थापित कर लिए और इस तरह लावनी गायिकी संपूर्ण उत्तरी भारत में गायन की एक प्रमुख शैली के रूप में स्थापित हो गई।

ख्याल गायिकी किस भाँति नाट्य-विधा में विकसित हो सकी, इसका भी दिलचस्प इतिहास है। 'सांगीत' परंपरागत के नाट्य के केन्द्र उस जमाने में आगरा एवं भरतपुर माने जाते थे, जो अठारहवीं शताब्दी में अपनी 'सांगीत' नाट्य-विधा के लिए प्रसिद्ध थे। यहाँ से ही राजस्थान, पंजाब एवं उत्तरप्रदेश में इस लोक-नाट्य शैली का विस्तार हुआ था। इस नाट्य-विधा ने कालान्तर में इन विभिन्न क्षेत्रों की भाषा एवं संस्कृति को आत्मसात् करके पृथक-पृथक स्वतन्त्र विधाओं के रूप में अपने को स्थापित किया। पंजाब (वर्तमान हरियाणा सहित) में सांग अथवा स्वांग, उत्तरप्रदेश में नौटंकी, मालवा में माच और राजस्थान में ख्याल नाम से ये लोकनाट्य विधाएँ स्थापित हुईं। ख्याल की सर्वप्रथम नाट्य पुस्तिका 'हास्यरानव' मानी जाती है जिसकी प्रस्तुति एक नट ने तेलंगाना के राजा के समक्ष की थी। राजा ने अपने दरबार के कवि श्री रसरूप को उस नाट्य का आलेख न करने का आदेश दिया था। ख्याल की दूसरी पोथी संस्कृत नाटक 'मालती माधव' की भाषा में अनुवाद है, जो 'माधव विनोद' के नाम से उपलब्ध हुआ है। संस्कृत भाषा के इस नाटक का अनुवाद कवि सोमनाथ ने किया था और इसे ख्याल कहा गया था जबकि ऊपर उल्लेखित प्रथम

नाटक रसरूप को स्वांग कहा गया था। यहाँ 'मालती माधव' के अनुवाद के संबंध में कवि का यह पद उल्लेखित है-

*माधव और मालत्या के प्रेम कथा को ख्याल,  
बरनत सो ससिनाथ कवि हुकुम पाई तत्काल।*

अपने राजा की आज्ञा पाकर कवि ने 'मालती माधव' नामक ख्याल का अनुवाद किया था। यह इस पद से स्पष्ट हो जाता है। जैसा कि मैंने पहले उल्लेख किया है कि 'ख्याल', स्वाँग, 'नौटंकी' और माच आदि नाट्य स्वरूपों का विकास एक ही मूल स्रोत 'सांगीत' या 'संगीतक' नामक नाट्य-विधा से हुआ है, अतः इन सभी में काफी हद तक साम्य दिखाई पड़ता है। 'ख्याल' शैली में लावनी पर आधारित ख्याल गायिकी को अपनाया गया और उसके नाट्य रूपांतरण हेतु उसमें अभिनय पक्ष का समावेश किया गया। ख्याल गायिकी इसके पूर्व मात्र गायन शैली के रूप में अखाड़ों तक ही सीमित थी, किन्तु उसके नाट्य रूपांतरण ने उसे एक महत्वपूर्ण नया आयाम प्रदान किया, जिसके परिणामस्वरूप एक जबर्दस्त प्रभावशाली नूतन नाट्य-विधा का जन्म हुआ जो तुलनात्मक दृष्टि से कहीं अधिक मनोरंजक थी। विषय-वस्तु की दृष्टि से भी यह नाट्य-विधा गायिकी की तुलना में अधिक सम्पन्न एवं विविध रूपी थी जिसमें लोक में प्रचलित परंपराशील प्रेम एवं शौर्य विषयक गाथाएँ, ऐतिहासिक घटनाओं एवं वीर पुरुषों पर आधारित कथानक एवं सामाजिक परिस्थितियों पर आधारित कथानकों का समावेश किया गया था, जो गायिकी में संभव नहीं था। नाट्य रूपांतरण में सामाजिक विसंगतियों पर हास्य एवं व्यंग्य के माध्यम से कटाक्षपूर्ण टिप्पणियाँ की जाने की संभावना का भी विकास हो सका।

अठारहवीं शताब्दी के अंतिम सोपान तक 'ख्याल' पूर्णरूप से नाट्य-विधा में रूपांतरित हो चुका था। नाट्य-विधा के रूप में उस समय आगरा एवं भरतपुर उसके प्रमुख केन्द्र बन गए थे। आगरा एवं भरतपुर से ख्याल नाट्य-विधा का विस्तार संपूर्ण राजस्थान में हुआ, जहाँ ख्याल गायिकी ने लोकप्रियता प्राप्त कर अखाड़ों के माध्यम से नाट्य-विधा हेतु पहले से ही एक जनाधार तैयार कर दिया था।

राजस्थान में ख्याल की अनेक शैलियाँ या 'स्कूल' प्रचलित रहे, जिनमें से कुछ के नामकरण उनके क्षेत्रीय चरित्र के कारण

पड़ गए हैं, तो कुछ के उनके प्रवर्तकों के नामों के कारण। कुछ ख्याल शैलियों के नाम उनके प्रवर्तकों की जातियों के कारण या जाति विशेष के लोगों के उनमें सम्मिलित होने के कारण भी पड़ गए हैं। कुछ ख्याल मंडलियों का गठन यद्यपि परंपरागत नाचने-गाने वाली जातियों के कलाकारों के कारण उनकी जाति से जुड़ गया है, परन्तु मूलतः ख्याल एक धर्म-निरपेक्ष लोक-नाट्य स्वरूप है, जिसमें सभी जातियों एवं वर्गों के लोग जुड़े हुए हैं। कुचामनी ख्याल, किशनगढ़ी ख्याल एवं हाथरसी ख्याल इस नाट्य-शैली की कुछ प्रसिद्ध परंपरागत शैलियाँ हैं, जिनके नामकरण क्षेत्र विशेष के आधार पर हुए हैं। तुरा एवं कलंगी ख्यालों के नामकरण उनके अपने-अपने अखाड़ों के नाम के आधार पर हुए हैं। 'अलीबक्श ख्याल' का नामकरण उसके प्रवर्तक एवं निर्देशक के नाम पर हुआ है, जो अलवर रियासत के मुंडावर नामक कस्बे के निवासी थे। 'गंधर्व ख्याल' का नामकरण परंपरागत नाच-गान करने वाली जाति के नाम पर हुआ है।

राजस्थानी ख्याल में अलीबक्श ने महत्वपूर्ण योगदान प्रदान किया। उनकी प्रतिभा ने इस नाट्य स्वरूप को अत्यन्त संपन्न बना दिया, जिसके कारण ख्याल के साथ अलीबक्श का नाम एक अटूट विशेषण की भाँति जुड़ गया है। अलीबक्श मुंडावर 'पहल-मुंडावर' के निवासी थे, जिनके पूर्वज टिकायत राजपूत थे और वे मुसलमान बन गए थे। वे जमींदार थे और स्वयं एक अच्छे कवि, गायक एवं संगीतकार थे। राजस्थान की पुरानी रियासत अलवर में जो अब इसी नाम से जिला बन गया है, उसमें मुंडावर एक प्राचीन कस्बा है। प्रचलित किंवदन्ती के अनुसार एक बार हाथरस से एक स्वाँग मण्डली मुंडावर आई थी। जब रात्रि में उस मंडली का प्रदर्शन चल रहा था, तब ठाकुर अलीबक्श मंच पर ही बैठकर उस प्रस्तुति का आनन्द ले रहे थे, क्योंकि वे स्वयं भी गायक, संगीतज्ञ व रसिक थे। मंडली के लोगों में से किसी ने उन्हें मंच पर नहीं बैठने का आग्रह करते हुए कहा कि मंच पर केवल उच्चवर्ग के हिन्दू 'ब्राह्मण एवं वैश्य' ही बैठ सकते हैं अन्य कोई नहीं। किसी ने उन पर व्यंग्य भी कसा कि मंच पर बैठने का ही शौक है तो वे अपनी निजी ख्याल मंडली क्यों नहीं बना लेते, इस घटना से आहत और अपमानित होकर वे वहाँ से चले गए और उन्होंने निश्चय कर लिया कि वे अपनी ख्याल मंडली बनाकर ही इस अपमान का प्रतिकार करेंगे।

अलीबक्श ने लगभग एक दर्जन ख्यालों की रचना कि और अपने ख्यालों में उन्होंने प्रचलित देशी राग-रागनियों का भरपूर प्रयोग किया। उनके अधिकांश ख्याल पद्यबद्ध हैं, जिनमें उन्होंने पदों को देशी राग-रागनियों में बांधा है, उसका उल्लेख भी किया है। राग सेंधू, मांझ, तुमरी, गज़ल, लावनी, जिकड़ी, शकिस्ता, बहरे और लंगड़ी लावनी आदि राग-रागनियों का विस्तार के साथ प्रयोग किया है।

उनके द्वारा रचित ख्यालों में राजा नल का बगदाव, पद्मावत, राजा नल का छड़ान, फिसाना अजब, निहालदे, कृष्णलीला, भक्त पूरणमल, चंद्रावल, गुलबकावली, चन्द्रवला, राजा शौदान सिंह का बारहमासा और अलवर का सिफतनामा प्रमुख हैं। ये अपनी ख्याल मंडली के साथ राजस्थान, ब्रज एवं हरियाणा ख्याल प्रस्तुतियाँ किया करते थे। हाथरस, मथुरा, अलीगढ़, कामा, डींग, भरतपुर, रेवाड़ी, गुड़गाँव, नारताँल, भिवानी एवं अलवर आदि कस्बों एवं शहरों में उन्होंने अनेक बार अपने ख्याल प्रदर्शन किये और ख्याति अर्जित की। वे छोटे गाँवों में भी अपनी मंडली के साथ आमंत्रित किये जाते थे। पहल गाँव में जो मुंडावर के समीप ही है उन्होंने अनेक ख्याल प्रदर्शन किए। पहलगँव में अभी भी कुछ ऐसे गायक मौजूद हैं जो उनके ख्यालों को उन्हीं की बन्दिशों में गाते हैं। उनका जन्म सन् 1854 में हुआ था और मात्र 54 वर्ष की उम्र में सन् 1899 में निधन हो गया। ख्याल-शैली को उनका अवदान अतुलनीय एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

ख्याल कि भिन्न-भिन्न शैलियों ने मंच निर्माण एवं सजा में अपनी-अपनी विशिष्ट एवं पृथक पहचान स्थापित की है। मंच हेतु सामग्री संगीत के अपने क्षेत्रीय विशिष्ट वाद्य एवं स्थानीय शैलियों और मुहावरों को अपनाया है। इनके साथ सामान्य रूप से प्रचलित वाद्यों को भी विशिष्ट वाद्यों के साथ सम्मिलित किया है। ख्याल गायन में देशी राग-रागनियों के समावेश एवं संयोजन से संगीत पक्ष को पुष्ट एवं समृद्ध किया गया है। ख्याल में प्रयुक्त स्थानीय रागों को रंगत कहा जाता है। इन सब स्थानीय एवं देशज तत्त्वों के कारण ख्यालों की भिन्न-भिन्न शैलियाँ एक दूसरे से पृथक मालूम पड़ती हैं।

ख्याल हेतु मंच का निर्माण भूमि से लगभग तीन-चार फुट ऊँचा निर्मित किया जाता है। लकड़ी के चार से आठ तखत

जोड़कर ऐसे मंच का निर्माण किया जाता है। कहीं-कहीं कोई चबूतरा या किसी भवन के सम्मुख बने चबूतरे का उपयोग भी मंच हेतु किया जाता है, यदि वहाँ चबूतरा उस योग्य हो। मंच को बहुधा दो मंजिल बनाया जाता है, परन्तु किसी-किसी नाटक हेतु आवश्यकतानुसार वहाँ तीन मंजिल भी बनाया जा सकता है। ख्याल का मंच मालवा के माच के मंच से काफी मिलता-जुलता होता है। भवन के ऊपर के मंजिल में एक छज्जा बनाया जाता है, जहाँ से एक लकड़ी की सीढ़ी मंच पर उतारी जाती है, जिससे चढ़कर या उतरकर पात्र भवन की ऊपरी मंजिल पर जाते हैं या मंच पर आते हैं।

मंच पर बनाए गए ऐसे भवन तथा उनकी मंजिलों एवं छज्जों का उपयोग नाट्य की आवश्यकतानुसार किया जाता है। यह सम्पूर्ण व्यवस्था को विभाजित करते हुए भिन्न-भिन्न प्रकोष्ठों के रूप में कुशलतापूर्व की जाती है। राजस्थान के भित्तिचित्रों एवं लघुचित्रों 'मिनियेचर पेंटिंग्स' में दर्शाए गए राजप्रासादों एवं भवनों के भिन्न-भिन्न प्रकोष्ठों तथा आन्तरिक एवं बाह्य दृश्यों के दृश्यांकन के ऐसे चित्र प्रचुर संख्या में पाए जाते हैं। इन चित्रों की शैली के दृश्यांकन की पद्धति पर ही ख्याल के मंच का निर्माण किया जाता है। मंच पर स्थान का विभाजन इतनी कुशलतापूर्ण किया जाता है कि व्यापक से व्यापक नाटकीय दृश्य की प्रस्तुति में भी किसी प्रकार की कठिनाई नहीं हो पाती। मंच का प्रमुख स्थल जहाँ अभिनय प्रस्तुत किया जाता है, उसे दरियाँ बिछाकर ढँक दिया जाता है। पार्श्वभाग एवं संगीतज्ञों के बैठने के स्थान को कनात से ढँक दिया जाता है।

ख्याल की वेशभूषा का निर्माण मखमल, साटि, सिल्क तथा सूती वस्त्रों द्वारा किया जाता है। पात्रों के वर्ग स्तर एवं सामाजिक प्रतिष्ठा के अनुरूप ही वस्त्रों का चयन किया जाता है। वस्त्र तड़क-भड़कपूर्ण, चमकदार एवं गहरे भड़कीले रंगों के बने होते हैं। नाट्य प्रस्तुतियाँ चूँकि मशालों के मद्धिम प्रकाश में या गैस बत्तियों के साधारण प्रकाश में की जाती है, अतः रोशनी की कमी की पूर्ति वस्त्रों की चमक-दमक एवं गहरे भड़कीले रंगों से की जाती है। ऊपरी वस्त्र के रूप में सामान्यतया चौड़े घेरवाला जामा पहना जाता है। अधोवस्त्र के रूप में पुरुष पात्र धोती या चूड़ीदार पैजामा पहनते हैं। लोक नाट्य की ये पोशाकें मध्य युग में मुगल दरबार में प्रचलित पोशाकों से अपनाई गई हैं। राजपुरुष,

मंत्री तथा श्रेष्ठीजन मखमल या साटिन के वस्त्र धारण करते हैं। लाल, नीले, हरे, मेरून एवं नारंगी रंग के मखमल या साटिन के वस्त्रों में सजे-धजे पात्र मंच पर प्रभावपूर्ण दृश्य प्रस्तुत करते हैं। पात्रों के श्रृंगार हेतु नकली बालों, दाढ़ी-मूछों एवं स्त्री पात्रों हेतु नकली बालों की लम्बी चोटियाँ, बेजियाँ एवं जूड़ों का प्रयोग किया जाता है। स्त्री पात्रों हेतु स्वर्ण एवं चाँदी के आभूषणों के स्थान पर वैसे ही चमक-दमक वाले नकली आभूषण काम में लाए जाते हैं।

ख्याल शैली में सिर्फ पुरुष कलाकार ही नाटक में काम करते हैं। स्त्री पात्रों का काम भी पुरुष कलाकारों द्वारा ही किया जाता है। स्त्री पात्र साटिन के घाघरे, तनीदार आंगी, चोली और सिर पर ओढ़नी या चून्नी धारण करती हैं। कलाइयों में काँच की चूड़ियाँ, सोने-चाँदी के सदृश्य नकली आभूषण एवं काँच की मणियों के बने अनेक प्रकार के आभूषणों का उपयोग भी व्यापक रूप से प्रचलित है। अंगराग और श्रृंगार सामान्य स्तर का होता है और उसमें किसी भी प्रकार की रूढ़िग्रस्तता नहीं पाई जाती।

ख्याल शैली की नाट्य प्रस्तुतियों में संगीत को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता है। वाद्यों में नगाड़े, ढोलक, झांझ-मंजीरे, शहनाई, सारंगी एवं हारमोनियम प्रयुक्त होते हैं। चूँकि स्त्री वेश में नृत्यों की प्रस्तुति पुरुष कलाकारों द्वारा की जाती है, अतः नृत्य ओजपूर्ण एवं तीव्रगति से प्रस्तुत किए जाते हैं। नृत्य करते समय कलाकार पैर को जोर से तखत पर पटकते हैं और ऊँचे उछलकर मंच पर कूदते हैं। नगाड़ों की जोरदार गड़गड़ाहट के साथ में नृत्य अत्याधिक उत्तेजक हो जाते हैं।

ख्याल में पूर्व रंग का आरंभ भिश्ती के मंच पर प्रवेश से होता है, जो चमड़े की मशक को कंधे पर लटकाए हुए आता है। वह मशक से पानी छिड़क कर मंच की सफाई करने का अभिनय करता हुआ चला जाता है। उसके बाद मंच पर फर्शा हाथ में झाड़ू लिए हुए आता है और मंच पर झाड़ू लगाकर दरी बिछाता है। फर्शा के जाने के बाद चौबदार मंच पर प्रवेश करता है, और झुककर दर्शकों का अभिवादन करता है। इसके पश्चात् वह मंच के एक किनारे खड़ा हो जाता है। तत्पश्चात् अन्य कलाकारों का मंच पर प्रवेश होता है, जिनका चौबदार झुक-झुककर अभिवादन और स्वागत करता है। राजपुरुषों का अभिवादन करते समय वह

अपने बायें हाथ को सीने पर रखते हुए दाहिने हाथ को मस्तक से लगाकर सलाम करता है। पात्रों को अभिवादन करने के साथ-साथ वह प्रेक्षकों को उनका परिचय भी प्रदान कराता जाता है।

ख्याल का आरंभ गणेश वंदना या सरस्वती वंदना से होता है। कभी-कभी कोई मंडली सरस्वती एवं गणेश दोनों की ही वंदना करती है। ख्याल का कथानक बहुधा या तो किसी प्रेम-गाथा पर आधारित होता है या फिर किसी शौर्य गाथा पर। शौर्य गाथा कभी किसी काव्य नायक पर आधारित होती है तो कभी वह किसी ऐतिहासिक चरित्र पर। ख्याल नाट्य इस दृष्टि से परंपराशील नाट्य से पृथक दिखाई पड़ता है, क्योंकि उनमें अधिकांश नाटकों के कथानक पौराणिक आख्यानों एवं चरित्रों पर केन्द्रित होते हैं। ख्याल नाटक जिन प्रेम-गाथाओं पर आधारित हैं, उन गाथाओं का प्रचार-प्रसार मध्य युग में सूफी सन्तों द्वारा किया गया था, जो प्रेम के संदेश को ईश्वर की महान देन के रूप में लोक में प्रचारित करना चाहते थे। यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय प्रतीत होता है कि राजस्थान के ऐतिहासिक वीर पुरुषों की शौर्य गाथाएँ जिनका प्रचार निरंतर भाट एवं चारणों द्वारा किया जाता था, उन्हें ख्याल नाटकों में स्थान नहीं मिल सका। ऐतिहासिक रूप से कम महत्त्वपूर्ण जननायकों को ख्याल नाट्यकारों ने अपने कथानकों में अपनाया है, जिन्होंने जनसाधारण के हित में त्याग एवं बलिदान किया और आवश्यकता पड़ने पर अपने प्राणों तक का उत्सर्ग कर दिया।

राजस्थान के ख्याल नाट्य में और मालवा क्षेत्र के ख्याल नाट्य के कथानकों में तेजाजी एक ऐसे ही नायक हैं, जो अत्यन्त लोकप्रिय हैं। वे कोई राजपुरुष न होकर एक सामान्य व्यक्ति थे, जिनका विवाह बचपन में ही उस अवस्था में हो गया था, जब वे अबोध थे। तेजाजी के परिवार एवं उनके ससुराल परिवार में किसी बात पर अनबन होने के कारण उनमें आपस में बोलचाल बन्द हो गई थी और इसी कारणवश तेजाजी को भी इस बात से अनभिज्ञ रखा गया था कि उनका विवाह बचपन में ही हो गया था। एक दिन तेजाजी का किसी बात पर अपनी भाभी से विवाद हो गया, तब उनकी भाभी ने ताना मारा कि वे जाकर अपनी पत्नि को विदा करा लायें और उस पर रौब गाठें। तब उन्हें अपने विवाहित होने का रहस्य ज्ञात हुआ। वे तुरन्त अपनी पत्नि को लाने हेतु अपनी ससुराल के लिए चल पड़े।

ससुराल जाते समय रास्ते में उन्हें एक सर्प मिला, जिसने उन्हें डँसना चाहा। तेजाजी ने कहा कि जब वे वापस लौटकर आये, तब वह उन्हें डँस ले, अभी वे अपनी पत्नी को विदा कराने जा रहे हैं। अतः फिलहाल उन्हें छोड़ दें। जैसे ही वे अपने ससुर के घर पहुँचे और अपनी पत्नी से भेंट करने ही वाले थे कि गाँव के लोगों ने रोते-बिलखते हुए आकर कहा कि कुछ गूजर उनकी गायें जबरदस्ती लूटकर ले गए हैं। तेजाजी उन ग्रामीणों की गायों को लुटेरों से छुड़ाने हेतु तुरंत निकल पड़े। वहाँ उनकी लुटेरों से लड़ाई हुई और उनका सम्पूर्ण शरीर क्षत-विक्षत हो गया, परन्तु वे लुटेरों को परास्त कर सभी गायों को छुड़ा लाए। वे मरणासन्न स्थिति में अपने श्वसुर के यहाँ पहुँचे और जब उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा कि उनका प्राणान्त होने वाला है, तब उन्हें सर्प को दिए गये अपने वचन की याद आई। वे तुरन्त नागराज के स्थान पर गए और उनसे कहा कि अब उन्हें डँस सकते हैं। नागराज ने तेजाजी की हालत देखकर कहा कि आपका तो संपूर्ण शरीर क्षत-विक्षत है, मैं कहाँ डँसू। तब तेजाजी ने अपनी जीभ दिखाकर नागराज से कहा कि उनकी जीभ पर डँस ले। तेजाजी की इस बहादुरी से प्रसन्न होकर नागराज ने उन्हें वरदान दिया कि उनके शौर्य की कथा लोक में सर्वत्र व सदैव अमर रहेगी।

ख्याल शैली के नाटकों में पात्रों का प्रवेश उनकी हैसियत और पद के अनुरूप होता है। राजा का प्रवेश उनके मंत्रीगणों, भृत्यों एवं अन्य विभिन्न स्तर के कर्मचारियों के साथ होता है। राजपुरुष के साथ ही विदूषक का भी प्रवेश होता है। ख्याल नाटकों में विदूषक ही सूत्रधार का दायित्व निर्वाह करता है। विदूषक सामाजिक विसंगतियों, परिस्थितियों पर व्यंग्यात्मक टिप्पणियाँ करके दर्शकों को लगातार हँसाता है और साथ ही नाटक के महत्त्वपूर्ण स्थलों पर अपने अभिनय के द्वारा नाटकीय मोड़ एवं गति प्रदान करते हुए उसे आगे बढ़ाता है। तेजाजी के ख्याल में उनका भाई ही विदूषक बनता है, जो एक सर्प सदृश्य टेढ़ी-मेढ़ी छड़ी हाथ में लिए होता है।

ख्याल के संवाद पद्य एवं गद्य दोनों ही होते हैं और कलाकार उन्हें ऊँची आवाज में प्रस्तुत करते हैं। ख्याल में गायन को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता है और गायन के साथ ही तीव्र गति से स्त्री-पात्रों का अभिनय करने वाले कलाकार नृत्य प्रस्तुत करते हैं। ख्याल के गीत राजस्थान की लोक धुनों एवं पुरानी राग-रागनियों

में बांधे जाते हैं। ख्याल नाट्य में प्रस्तुत किए जाने वाले नृत्य उच्च स्तर के होते हैं। ख्याल नाट्य में अभिनय पक्ष की अपेक्षा गायन एवं नृत्य कहीं अधिक प्रभावशाली और प्रधानता लिए होते हैं। नाटक के दो दृश्यों के बीच विराम हेतु गायन एवं नृत्य प्रस्तुत किए जाते हैं, जिसके कारण नाटक एकरसता ग्रस्त होने से बच जाता है, और इस बीच कलाकार दूसरे दृश्य हेतु अपनी तैयारी भी कर लेते हैं। शेखावाटी शैली के ख्यालों में गायन एवं नृत्यों का स्तर अन्य शैलियों के ख्यालों की तुलना में श्रेष्ठतर माना जाता है।

कुछ ख्याल नाटक तो अनेक दृष्टिकोणों से इतने परम्परागत हो गए हैं कि उनमें रूढ़िग्रस्तता का विकास स्वाभाविक भी है, क्योंकि वे किसी काल या समय विशेष की स्थितियों की नकल ही तो प्रस्तुत करती हैं। उदाहरणार्थ ख्याल नाटकों में मुगल या राजपूत दरबारों की स्थितियों एवं व्यवहारों की नकल करके हास्य का सृजन करना नाटकों का अभिन्न अंग बन गया है। नाटक में मंत्री को हमेशा नवाब या राजा की खुशामद 'चापलूसी की हद तक' करता हुआ दर्शाया जाता है। बांदी को रानी या राजकुमारी की आज्ञाकारी सेविका के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। चोबदार को आगन्तुकों को झुक-झुक कर सलाम बजाते हुए दिखाया जाता है। राजा या राजकुमार का मित्र उसे कठिन परिस्थितियों में उचित सलाह देता है। बांदियाँ प्रेम-पात्रों को प्रेमी-प्रेमिकाओं तक पहुँचाती हैं और राज को छिपाए रखती हैं। विदूषक जो ख्याल नाट्य में सर्वव्यापी होता है, वह निरंतर सामाजिक विसंगतियों पर कटाक्ष करता रहता है।

पुरुष-पात्रों द्वारा पद्यात्मक संवादों की प्रस्तुति के अवसर पर नगाड़े बजाए जाते हैं। स्त्री-पात्रों द्वारा गायन प्रस्तुत करने पर संपूर्ण साज बजाए जाते हैं। स्त्री-पात्रों द्वारा पैरों में घुँघरू बांधे जाते हैं, और नृत्य प्रस्तुत करने वाले पुरुष-पात्र भी पैरों में घुँघरू बांधते हैं। युद्ध के दृश्य तीव्रगति लिए हुए होते हैं और उस समय नगाड़े बजाकर नाटकीयता प्रदान की जाती है। ख्याल में नगाड़े बजाने वाले को अत्याधिक महत्त्व दिया जाता है, क्योंकि नाट्य का सारा दारोमदार उसकी कुशलता पर ही निर्भर करता है। नर्तक एवं नगाड़े बजाने वाले कलाकार में कई बार लड़त होने लगती है और वे एक के बाद एक कई टुकड़े-तोड़े प्रस्तुत करते हुए अत्यन्त नाटकीयतापूर्ण स्थितियों का सृजन कर प्रेक्षकों को रस-विभोर कर देते हैं।

ख्याल के खेल रात्रि में दस बजे के आसपास आरंभ होते हैं और वे रातभर चलते हैं। चूँकि नाटक के दर्शक दूर-दूर से आते हैं और उनमें स्त्रियों एवं बच्चों की संख्या भी होती है, अतः उनके लिए रात्रि में वापस लौटना अत्यन्त असुविधाजनक होता है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए लगभग सभी लोक-नाट्यों ने यह परंपरा अपना ली है कि वे रात्रि में नौ-दस बजे आरंभ हों और प्रातःकाल होते-होते समाप्त हों। नाटकों का प्रदर्शन संपूर्ण रात्रि तक चलाने हेतु उसमें नृत्य एवं गायन बीच-बीच में जोड़े जाते हैं, जिससे कि नाटक सारी रात चल सके और दर्शक भी ऊबे नहीं।

प्रचलित ख्याल नाटकों को उनके कथानक के आधार पर हम उन्हें चार वर्गों में बाँट सकते हैं- परंपराशील एवं धार्मिक ख्याल, ऐतिहासिक कथानकों पर आधारित ख्याल, सामाजिक समस्याओं पर केन्द्रित ख्याल और प्रेम-गाथाओं पर आधारित ख्याल। अकेले राजस्थान क्षेत्र में ही डेढ़ सौ से अधिक ख्याल नाटक लिखे गए हैं, जो वर्तमान समय में भी प्रचलित हैं। राजा हरिश्चंद्र को ख्याल, राजा भरथरी को ख्याल, राजा गोपीचंद, अमरसिंह राठौड़, महाराजा पृथ्वीराज का ख्याल, मीराबाई को ख्याल, ढोला मारू का ख्याल, शुषि-पुत्र, लैला-मजनूँ, हीर-रांझा, छैला दिल जान, माधव-अनल, काम-कुण्डला, पंचफूल रानी, राजा केसरसिंह, रूक्मणीमंगल, नल-दमयन्ती, कृष्ण-सुदामा, सती हेमकुंवर, द्रोपदी स्वयंवर, भक्त ध्रुव, मस्त परी, छोटा बालम, नशेबाज का ख्याल आदि कुछ अत्यन्त प्रसिद्ध ख्याल माने जाते हैं, इनके अलावा अलीबक्श के ख्याल हैं जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

राजस्थान में स्वतंत्रता के पूर्व तक ख्याल नाट्य मनोरंजन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधन रहा है। स्वतंत्रता के बाद सिनेमा का प्रचलन अत्यधिक बढ़ गया और आजकल टेलीविजन गाँव-गाँव में पहुँच गया है। इसके परिणामस्वरूप लोगों का झुकाव मनोरंजन के इन नए साधनों की ओर झुक गया है और उनकी रुचियाँ तेजी से प्रभावित हो रही हैं। सिनेमा और दूरदर्शन के जबर्दस्त प्रभाव ने मनोरंजन के परंपरागत सभी साधनों को एक प्रकार से छिन्न-भिन्न ही कर दिया है। ख्याल नाट्य इस आधुनिक यान्त्रिकी आक्रमण से बेहद प्रभावित हुआ है। राजस्थान में ख्याल नाट्य और संपूर्ण भारत में अन्य लोक-नाट्य विधाएँ कैसे इस

आक्रमण का प्रतिकार करके अपने अस्तित्व की रक्षा कर सकेंगी, यह आज उन सभी जनों के लिए चिन्ता का विषय बन गया है जो अपनी संस्कृति से सरोकार रखते हैं और उससे प्रतिबद्ध हैं।

## ख्याल एवं लावणी साहित्य

लावणी एक छन्द का नाम है। जो बाईस मात्राओं का होता है। इसे राधा छंद भी कहते हैं। लावणी में हिन्दी छंद के अलावा उर्दू, फारसी के छंदों का भी काफी प्रयोग हुआ है। इनमें से कुछ पुरानी रंगत या बाहर महाराष्ट्र से लावणी गायन के साथ हिन्दी से आई है। कुछ का सम्बन्ध साहित्य से तो कुछ का केवल संगीत से। निष्कर्ष यही निकलता है कि लावणी के अन्दर सभी वजन और छंद एवं रागों का समावेश हुआ है। इनमें से कुछ रंगतों के नाम मिलते हैं, परन्तु कुछ के नामकरण नहीं हुए हैं। अतः उन्हें लावणीकार नयी रंगत के नाम से पुकारते हैं। 'ख्याल या लावणी वालों ने एक ख्याल के चार चौक माने हैं। ख्याल के प्रथम और द्वितीय मिसरे या कड़ी को टेक कहते हैं। गजल वाले जिनको मतला कहते हैं। ख्याल की परिभाषा में उसको टेक या घुर्षदे कहेंगे। इसके बाद के चार मिसरों को चौक कहते हैं और पाँचवाँ मिसरा उड़ान या 'मिलान' कहलाता है, जिसके साथ टेक का दूसरा मिसरा या कड़ी मिला दिया जाता है। ऐसे ही चार चौक जिसमें हों उसे लावणी या ख्याल कहते हैं, यानी एक लावणी में कम से कम चार चौक माने गये हैं। चौक चार कड़ी का भी होता है और कम ज्यादा का भी होता है। माननीय महात्मा अनन्त गिरिजीने 360 रंगतों के ख्याल लिखे हैं तथा अन्य उस्तादों ने भी बहुत सी रंगते लिखी हैं।<sup>1</sup> ख्याल के पूर्व रंग में गाई जाने वाली लावणी गणेश वंदना-

*लाड़ले गिरजा के दीजे अपान संकट टाल जी,*

*लाज रख लीजे गजानन गन्न शंकर लाल जी।*

*लाल चन्दन का तिलक यक दन्त जड़ रहे लालजी,*

*लाल रंग है अंग जिनका नाचते दे तालजी।*

या

*लाल गिरजा के करे निहाल, लगा है चंदन शीश रसाल।*

*लचकती चले गन्नजी चाल, लिया हीरन का हार गल डाल।*

*लिये कर खाड़ा एकी ढाल, लालसा सिद्ध करे तत्काल।*

*लाड़ले गिरजा के लाल, लाज रख जड़ दीजे ताला जी।*



तुर्रा-कलंगी के अखाड़ों की बानगी-

अखाड़ा है रंग लालों का, बजे चंग तुर्रे वालों का।  
अखाड़ा है अविनाशी का, झलके संन्यासी का।  
बजे कलंगी वालों का चंग, हुए मजमूँ सुन दुश्मन दंग।  
कलंगी गाना शाहाना है, तुर्रा फकड़ों का बाना हैं।

लावणी की एक छाप-

रिसालगिरी उस्ताद घालचंद की ये राहें बतलाई,  
बादल अब्दुल गफूर ने मतलब का बात उनसे पाई।  
कादिर बख्श का वचन सवाया, रज्जबखाने यों फरमाया।  
मोहम्मद हादी ने बतलाया, रामगुलाम मोहम्मद गाया।  
कहे तज्जमुल हाथ उठा।

ख्यालों के अखाड़े में फटके बाजी भी चलती है, जिसमें  
एक दूसरे पर हावी होने की कोशिश होती है। देखें उसमें जवाब-  
सवाल पेश किये जाते हैं-

प्रश्न - यह किधर से आड़ घटा किधर से पानी,  
दो जवाब इसका आप जो हो गुरू ज्ञानी।  
उत्तर- निशान बादल का मिट गया है,  
फलक पर तारे निकल रहे हैं।

रिन्द का एक उदाहरण-

न जाऊँ सुये मस्जिद न सुये बुतखाना।  
मेरी जान बराबर समझूँ कुफ्र इस्लाम।।  
दोनों मजहब से रखूँ अलहदा अपना मजहब मुदाम।  
हिन्दू तो परस्तिश बुतों की बतलाते हैं।  
इस्लाम उनके बरमुक्स पेश आते हैं।।  
हम दोनों मजहब को यकसाँ ठहराते हैं।  
मेरी जान न कच्चा बनूँ न दीवाना।  
मैं वो रिन्द हूँ समझूँ बराबर काबओं बुतखाना।

एक अन्य लावणी में हिन्दू-मुसलमान एकता का संदेश -

राम रहीम तुर्रा दोनों हैं जिसने उसका नाम रटा,  
रहा शाद दोनों जग में दुख दूर हुआ और पाप कटा।  
भक्तों पर होकर सहाय भक्ति दो और भगवान बना,  
हरनाकुश को मार के वह नरसिंह रूप गुणवान बना।

दिखाई कुदरत तीतर को तब कादिर और सुबहान बना।  
खेल किया गोपियों के संग मथुरा में आकर काम बना।  
लीला उसकी कही न जावे, कहाँ समझ में कुदरत आवे,  
कहीं खुदा कहीं अलख कहावे, दोनों से बन्दगी करावे।  
है घट घट के बीच डटा।

तुर्रा-कलंगी के अखाड़ों की लड़त-

कलंगी वाले-

संसार के झूठे झगड़े हैं, नहिं अंतः किसी का नाता है।  
जब समय पड़े आकर कठिन, तो कोई काम नहिं आता है।।

तुर्रा वाले-

मूरख अज्ञानी आप समझ, तू क्या हमको समझाता है।  
हमदर्द जो होता है सच्चा, वो सदा काम में आता है।

कलंगी वाले-

हमें शौके खयालगोई, सखुन हमारे जहन में रखना।  
कै एक चंग ओ किताब, वादे फना हमारे कफन में रखना।

तुर्रा वाले-

लहद में ना रोशनी मिलेगी, फिजूल दफ्तर कफन में रखना।  
पड़े अंधेरे में गुनगुनाओ, खयाल दो-एक जहन में रखना।।

कलंगी वाले-

शीशफूल फूलन को कबै, प्यारी के फूल तन में।।  
श्रीकृष्ण फूलन को देख कै, फूल रहे मन में।।

तुर्रा वाले-

बनाये गहने फूलन के, ब्रजराज ने कुंजन में।  
पहरावल बृजभान सुता को, होत मुदित मन में।

काशीगिरी बनारसी लावणी खयाल के एक बहुत बड़े गुरू  
माने जाते हैं। उन्होंने बहुत-सी लावणियों की रचना की है।  
उनकी लावणियों में दार्शनिक भाव अधिक होता है। उनके शिष्यों  
की भी लम्बी परंपरा है। यहाँ उनके खयाल के एक पद को  
उदाहरण स्वरूप उद्धृत किया जा रहा है-

न ही हिन्दू न ही मुसलमान योइदी न ही फिरंग।  
न ही कोई रूप न ही कोई रंग जी।।  
न ही बीन बांसुरी नहीं करताल मृदंग।

न ही जल तरंग न ही उमंगजी ॥  
 न ही कलंगी न ही तुरा न ही अनगढ़ डुँडा न ही चंग।  
 न ही कोई संग है न ही असंग जी ॥  
 दोहा- आपी आपमें आप है रहा आप में व्याप।  
 न ही स्वर्ग न ही नरक है न ही पुण्य न ही पाप ॥  
 बनारसी है रूप हमारा अखंड परमानन्द ।  
 मेरा है रूप सच्चिदानन्द ॥

बाबू भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने कजली, लावनी, ख्याल जैसी लोक विधाओं में भी साहित्य की रचना की है। यहाँ प्रस्तुत है, उनके द्वारा रचित एक ख्याल के कुछ पद-

फसादे दुनियाँ मिटा चुके हैं, हुसूले हस्ती उठा चुके हैं।  
 खुदाई अपने में पा चुके हैं, मुझे गले वे लगा चुके हैं ॥  
 नहीं नजाकत से हम में ताकत, उठायें जो नाजे हुए जन्नत।  
 कि नाजे शमशीर पुर नजाकत, हम अपने सर पर उठा चुके हैं ॥  
 नजात हो या सजा हो मेरी, मिले जहन्नुम कि पाऊँ जन्नत।  
 हम अबतो उनके कदम पे अपना, गुनाह भरा सिर झुका चुके हैं ॥  
 नहीं ज़बाँ में है इतनी ताकत, जो शुक्र लाएं बजा हम उनका।  
 कि दामें हस्ती से मुझको अपने, इक हाथ में वह छुड़ा चुके हैं ॥  
 वजूद से हम अदम में आकर, मर्की हुए ला मर्काँ के जाकर।  
 हम अपने को उनकी तेग खाकर, मिटा-मिटा कर बना चुके हैं ॥  
 यही हैं अदना सी इक अदासे, जिन्होंने बरहम की है खुदाई।  
 यही है अक्सर क़जा के जिनके फरिश्ते भी ज़क उठा चुके हैं ॥  
 या कह दो मौत से हो रूखसत, क्यों नाहक आई है उसकी शामत।  
 कि दर तलक वह मसीहे खसलत, मेरी अयादत को आ चुके हैं ॥  
 जो बात मानें तो ऐन शफ़क़त, न माने तो एक हुस्ने खूबी।  
 'रसा' भला हमको दखल क्या, अब हम अपनी हालत सुना चुके हैं ॥

पंडित प्रतापनारायण मिश्र भारतेन्दु काल के महत्त्वपूर्ण साहित्यकार हैं। इन्होंने भी लावणी एवं ख्याल साहित्य की रचना की है। मिश्र जी ने ख्यालों की रचना तो की ही, परन्तु कई बार वे चंग लेकर स्वयं ख्याल गाने लगते थे। यहाँ उद्धृत है उनके द्वारा रचित ख्याल के पद।

झूठे-झगड़ों से मेरा पिण्ड छुड़ाओ।  
 मुझको प्रभु अपना सच्चा दास बनाओ ॥

है काम क्रोध मद लोभ ने मुझको घेरा।  
 लूट ही लेते हैं विवेक का डेरा ॥  
 यद्यपि बल साहस करता हूँ बहुतेरा।  
 पर हाय हाय बस नहीं चलता मेरा ॥  
 सबको सदैव धर्मोपदेश करता हूँ।  
 पर आप परस्त्री परधन पर मरता हूँ ॥  
 निज स्वार्थ हेतु सबका सबकुछ करता हूँ।  
 दुष्कर्म कोटि करने से नहीं डरता हूँ ॥  
 इस दुष्ट चित्त को किसी भांति समझाओ।  
 मुझको प्रभु अपना सच्चा दास बनाओ ॥

नजीर अकबराबादी ने बहुत से ख्यालों की रचना की है। उनकी भाषा हिन्दी-उर्दू मिली-जुली गंगोजमनी भाषा है। उनकी रचनाएँ उस जमाने में इतनी प्रसिद्ध हुई कि उन्हें अपने युग का जनकवि कहा जा सकता है। उनकी रचनाओं के आधार पर ही हबीब तनवीर ने आगरा बाजार नाटक तैयार किया था, जिसे काफी प्रसिद्धि मिली। यहाँ उनके पद उद्धृत हैं-

कोई उकता के मर गया  
 दुनियाँ में अपना जो कोई बहला के मर गया।  
 दिल तंगियों से और कोई उकता के मर गया ॥  
 आकिल था वह तो आपको समझा के मर गया।  
 बे अक्ल पीट के घबरा के मर गया ॥  
 दुःख पाके मर गया कोई सुख पा के मर गया।  
 दुनियाँ में अपना जी कोई बहला के मर गया ॥  
 जीता रहा न कोई हर इक आ के मर गया।  
 दिल तंगियों से और कोई उकता के मर गया ॥  
 गर लाख इशरतों से हुई दिल में धूमधाम।  
 या सौ मुसीबतों में हुआ गम का अजदहाम ॥  
 आखिर को जब अजल ने किया आन कर सलाम।  
 जन के खियाले गम में कोई हो गया तमाम ॥  
 कोई हूर परियाँ छाती से लिपटा के मर गया ॥  
 जीता न रहा कोई हर इक आके मर गया ॥

पढ़कर नमाज़ कोई रहा पाक बा बजू।  
 कोई शराब पीके फिरा मस्त कूबकू ॥

नापाकी पाकी मौत के ठहरी न रूबरू।  
कोई इबादते से मुआ होके सुखरू॥  
नापाक रूसिया है भी पछताके मर गया।  
जीता रहा न कोई हर इक आ के मर गया॥  
कर दिल के आइने के तई साफ एक बार।  
कश्फेक्लूब दिल पे किया अपना आशकार॥  
जब पैक ने अज़ल की किया अपना कर पुकार।  
काम आई रोशनी न करामात की बहार॥  
कामिल फकीर खल्क के कहलाके मर गया।  
जीता रहा न कोई हर इक आ के मर गया॥

काशीगिरी के लिखे गये ख्यालों को राजस्थान के ख्याल गायकों ने ही नहीं, वरन् ख्याल लोकनाट्यकारों एवं उत्तर प्रदेश के नौटंकी वालों ने भी अपनाये हैं। यहाँ अनेक ख्याल के कुछ अंश प्रस्तुत हैं।

दुनियाँ में सब कहते हैं आशिक का दर्जा आला है।  
पर जो देखा तो कुछ माशूक का रूतबा वाला है॥

आशिक था मजनूँ पर वह लैला का ताबेदार था।  
गमे इश्क में हमेशा लैला के बीमार रहा॥  
गया तन बदन सूख पर अपने दिल से ताकतदार रहा।  
दिल में ही अपने वह करता लैला का दीदार रहा॥

शेर – जबाँ पर हर घड़ी उसके कला में विर्द लैला था।  
कुराँ था हाथ में तिसपर भी वह लैला पै शैदा था॥  
बताओ इश्क क्या है इसकी सूरत किसने देखी है।  
बलाये लाहगानी थी हुआ जिस दिन यह पैदा था॥  
आशिक भी है मस्त वही जो वहदत में मतवाला है।

पर जो देखा, तो कुछ माशूक का रूतबा वाला था॥  
तख्त सलतनत तक किया आशिक रांझा हीर हुआ।  
खाक बदन पर मली और शाह से बड़ा फकीर हुआ॥  
काली कामर ओढ़ चराई गाय नहीं दिलगीर हुआ।  
हुआ हरीका जो माना तो वह औलिया पीर हुआ॥

शेर – पकड़ कर शेर को जंगल में क्या ही घात से मारा।  
वह ताकत हीर की उसमें थी जिसकी ज्ञान से मारा॥  
सुनो दुनियाँ में माशूकों चरचका तुम जरा मुझसे।  
जिसे मारा उसी की यक जरा सी बात से मारा॥  
वो आशिक पक्का है जिसने अपना ही घर घाला है।  
पर जो देखा तो कुछ माशूक का रूतबा वाला है॥

शीरी के ऊपर आशिक फर हाद एक मजदूर हुआ।  
गजब इश्क है जिसे यह लगा वो चकना चूर हुआ॥  
शीरी के रूतबे से कुछ फरहाद का भी मखदूर हुआ।  
बाद मर्ग के को दोनों मिले नाम मशहूर हुआ॥

शेर – माशूक चाहे क्यों न उस आशिक की इज्जत हो।  
बनाये या बिगाड़े यह तो सब अखत्यार है उसको॥  
कहाँ वह शाहजादी और कहाँ फरहाद की इज्जत।  
बनाई बस वह शीरी ने इसे आशिक होती समझे॥  
आशिक ने दिल दिया तो क्या माशूक ने उसे संभाला है।  
पर जो देखा तो कुछ माशूक का रूतबा वाला है।

हिन्दू तो परस्तिश बुतों की बताते हैं।  
इस्लाम उनके बरक्स पेश आते हैं॥  
हम दोनों मजहबों को एकसाँ ठहराते हैं।  
मेरी जान मैं कच्चा बनूँ न दीवाना॥  
मैं तो रिंद हूँ समझूँ बराबर काब औ बुतखाना।

#### संदर्भ

1. परम्पराशील नाट्य डॉ. जगदीशचंद्र माथुर, पृष्ठ 4, 10, 30
2. वाल्मीकि रामायण अयोध्या काण्ड छठवाँ सर्ग- चौदहवाँ श्लोक
3. प्राचीन भारत के कला विनोद आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
4. कोसल-प्रशस्ति रत्नावली, पं. लोचन प्रसाद पाण्डेय अनुवाद डॉ. कटारे द्वारा पृष्ठ 2
5. प्राचीन छत्तीसगढ़ - पृष्ठ सं. 36 लेखक प्यारेलाल गुप्त
6. डॉ. जगदीशचन्द्र गुप्त के ग्रंथ परम्पराशील लोकनाट्य की प्रस्तावना से
7. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास पृष्ठ 55, डॉ. दशरथ ओझा
8. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योगदान-पृष्ठ, 186 पृष्ठ डॉ. नामवर सिंह
9. हमारी नाट्य परम्परा पृष्ठ 183, लेखक श्रीकृष्ण दास
10. हिन्दी नाट्य साहित्य का इतिहास, सोमनाथ गुप्त से उद्भव

## लोक जीवन और लोकगीत

स्वर्णलता ठन्ना

मानव हृदय का भाव-विलास अपनी उत्कृष्ट स्थिति में लयात्मक आरोहावरोहों में जब भाषाबद्ध होकर प्रवाहित होने लगा, तो शब्द-शास्त्रियों ने उसे गीत कहा और इसी गीत परम्परा की एक धारा जब अपनी देशज बोलियों में लोकवाणी को प्रवाहित करने लगी तो उसे लोकगीत के नाम से ज्ञापित किया गया।

‘लोकगीत’ का अर्थ है लोक परिवेश से जन्मा एवं वहीं की गायन-शैली में गाया जाने वाला गीत। अर्थात् एक ऐसा गीत जो लोकरंग एवं लोकतत्त्वों को अपने में समाहित किए हो और लोककंटों द्वारा लोकधुनों में गाया जाए। वैसे गीत तो मानव जीवन का स्वर है, मनुष्य की जययात्रा का वरदान है। पाश्चात्य दार्शनिक हीगेल ने गीत के सम्बन्ध में लिखा है- ‘गीत सृष्टि की एक विशेष मनोवृत्ति होती है। इच्छा, विचार और भाव उसके आधार होते हैं।’ डॉ. राजेश सिंह ने अपनी पुस्तक ‘नवगीत का उद्भव एवं विकास’ में गीत एवं संगीत को परिभाषित करते हुए लिखा है -‘राग-रागिनियों से सज्जित गान को संगीत कहा गया है और छन्दबद्ध गेय रचनाओं को गीत।’

लोकगीतों के बारे में हम कह सकते हैं कि सम्पूर्ण संसार में मानव के आविर्भाव से लोकगीतों का उद्गम माना जाता है। यद्यपि लोकगीतों के जन्म की कोई निर्धारित काल रेखा नहीं है, परन्तु मौलिक परम्परा के अविच्छिन्न प्रवाह के रूप में ये निरन्तर असीम अतीत के गर्भ में छिपे उद्गम स्रोत की ओर इंगित करते हैं। लोकगीतों की अनंत प्रवाहमयी परम्परा की प्राचीनता के सम्बन्ध में पं. रामनरेश त्रिपाठी ने लिखा है- ‘जब से पृथ्वी पर मनुष्य हैं, तब से गीत भी हैं। जब तक मनुष्य रहेंगे, तब तक गीत भी रहेंगे। मनुष्यों की तरह गीतों का भी जीवन-मरण साथ चलता रहता है। कितने ही गीत तो सदा के लिए मुक्त हो गए। कितने ही गीतों ने देशकाल के अनुसार भाषा

का चोला बदल डाला, पर अपने असली स्वरूप को कायम रखा। बहुत से गीतों की आयु हजारों वर्ष की होगी। वे थोड़े फेर-बदल के साथ समाज में अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं।

डॉ. कुंजबिहारी दास ने लोकगीतों की परिभाषा देते हुए कहा है- 'लोकसंगीत उन लोगों के जीवन की अनायास प्रवाहात्मक अभिव्यक्ति है, जो सुसंस्कृत तथा सुसभ्य प्रभावों से बाहर कम या अधिक आदिम अवस्था में निवास करते हैं। यह साहित्य प्रायः मौखिक होता है और परम्परागत रूप से चला आ रहा है।'

'युगतेवर' पत्रिका के संपादक श्री कमलनयन पांडेय लोकगीत विधा को लेकर कहते हैं- 'लोकगीत मानवीय वृत्तियों का अक्षय भंडार है, लोक संस्कृति का अमरकोश है, चरणबद्ध मानव-विकास का सजग साक्षी है, सामूहिकता का सहज गान है, करुणा का लहलहाता महासागर है, मानवीय-संवेगों का दस्तावेज है। इतिहासवेत्ता मानव-विकास की कहानी के किसी कोने को दर्ज करने से चूक सकता है, पर 'लोक' की पारखी नजर से कुछ भी नहीं चूकता।' इसीलिए मेरा मानना है कि परम्परा की पड़ताल का सबसे बड़ा धरातल हमारे 'लोकगीत' हैं, जिसमें हर कालखण्ड, हर भूखण्ड के मानव-समुदाय की सांस-सांस टांकी गई है, रेशा-रेशा उपस्थित है, मन के कोने-अंतरे के भाव-प्रभाव दर्ज हैं। सचेत इतिहासवेत्ताओं का मानना है कि इतिहास का यथार्थ लेखन सिर्फ गजेटियरों और रियासतों के दस्तावेजों को आधार मानकर नहीं लिखा जा सकता, यथार्थ इतिहास के लिए हमें लोक-सृजन की विविध विधाओं को भी आधार बनाना पड़ेगा।

सच भी है क्योंकि लोकगीत समय के साथ चलते हैं। समय और स्थान के अनुसार उनमें नाम और शब्द बदलते हैं, गीत वही रहता है, धुन वही रहती है। इस प्रकार परम्परागत अनजाने काल में निर्मित वे धुनें कण्ठ-कण्ठ से यात्रा करती हुई आज तक आ पहुँची हैं। उन गीतों में भजन है, प्रकृति के गीत है, जन्म पूर्व से मृत्यु तक के संस्कार गीत है। उन गीतों में स्थान, जाति एवं समुदाय के अनुसार स्वराघात या पारिवारिक विशेषता के कारण हल्के-फुल्के पाठांतर चाहे मिल जाए, लेकिन मूल स्वर सबका एक ही रहता है।

लोकगीतों में गेयता प्रमुख होती है। अपनी गेयता के कारण ही लोकगीत जनमानस को आह्लादित एवं ऊर्जस्वित करते हैं। लोकगीत संगीत की एक विधा भी है। विश्व का कोई भी ऐसा देश नहीं होगा जिसमें लोकगीत न गाये जाते हों। लोक जीवन की वास्तविक अभिव्यक्ति लोकगीतों में ही होती है। लोक-जीवन की बहुरंगी छवियाँ लोकगीतों में व्यक्त होती हैं। भारतवर्ष में कजरी, होली, चैता, बिरहा, आल्हा आदि हिन्दी भाषी क्षेत्रों के प्रमुख लोकगीत हैं। इतना ही नहीं गाँवों में जीवन के विविध संस्कारों से जुड़े गीत भी गाये जाते हैं। इन गीतों में जन्म के समय गाये जाने वाला गीत, विवाह के समय बन्ना-बन्नी गीत, पूजा-आराधना के समय देवी-देवताओं से जुड़े गीत बहुत प्रसिद्ध हैं। ये ग्रामगीत श्रुत परम्परा से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को अवदान के रूप में मिलते गए हैं। न तो इसके शब्दों एवं भावों में कोई विशेष परिवर्तन हुआ है और न ही इनकी गायन शैली में। ये ग्राम-गीत पारम्परिक धरोहर हैं, जो ग्रामीण महिलाओं के कण्ठहार हैं। हालांकि इन गीतों में व्यक्ति स्वातंत्र्य के भाव ही प्रमुख हैं। हमें आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि ये गीत अपने इसी सहज रूप में बने भी रहेंगे। क्योंकि लोक-साहित्य श्रुति साहित्य है। वैदिक-साहित्य अपरिवर्तनशील पुरुष गीत है। लोकगीत परिवर्तनशील महिला गीत है। परन्तु अनुष्ठान के बिना दोनों पूर्ण नहीं होते। सभी गीत विशेष अवसर, अनुष्ठान या कर्म से सम्बन्धित हैं। ऐसे गीतों की अटूट परम्परा पूरे देश में है।

हिन्दी साहित्य में भी गीत परम्परा काफी लम्बी रही है। चर्यागीत भक्त कवियों की रचनाएँ, मैथिल कोकिल विद्यापति के गीत इस दृष्टि से एक धरोहर हैं। नयी कविता में एवं समकालीन कवियों में ऐसे महत्त्वपूर्ण कवि हैं जिन्होंने अपनी काव्य-यात्रा गीतों से प्रारम्भ की है। पंडित नरेन्द्र शर्मा, डॉ. हरिवंशराय बच्चन, रघुवीर सहाय, गोपालदास नीरज, बुद्धिनाथ मिश्र, सोम ठाकुर आदि ऐसे अनेक कवियों ने हिन्दी गीत धारा को लोकप्रिय विधा बनाया है। हिन्दी काव्य साहित्य में नवगीत की एक समृद्ध धारा है।

लोक-जीवन अगर कहीं अपने नैसर्गिक रूप में आज भी सुरक्षित है तो वह है गीतों में। किन्तु यदि संस्कृति के संवाहक इन

गीतों को हम अगली पीढ़ी तक हस्तांतरित नहीं कर पाए तो लोक जीवन का यह नैसर्गिक रूप नष्ट हो जाएगा। वर्तमान समय में यदि हम देखें तो लोक-संस्कृति के जिस हिस्से ने सबसे ज्यादा संक्रमण झेला है वह है लोकगीत। दादी-नानी के समय में गाए जाने वाले बन्ना-बन्नी व अन्य गीतों का स्थान फिल्मी गीतों की तर्ज पर बनाए गये गीतों ने ले ली है। मौजूदा पीढ़ी इन गीतों के सौन्दर्य से अनभिज्ञ होती जा रही है। जिस प्रकार त्योहार अपनी पारम्परिकता और रीति-रिवाज खोकर केवल आधुनिकता की खोखली बनावट में खोते जा रहे हैं, उसी तरह लोकगीत भी अपनी मूल बनावट से विलग हो आधुनिकता की रंगत में रंगते जा रहे हैं।

लोकगीतों के पुनरागमन हेतु हमें इस सांस्कृतिक क्षय से बचना होगा। 'लोकगीत' लोक के गीत हैं, जिन्हें कोई एक व्यक्ति नहीं बल्कि पूरा लोक-समाज अपनाता है, गीतों में ही हँसता है, रोता है, अपने जीवन के विभिन्न रंग चुनता है और इन्हीं परम्पराओं के साथ स्वयं को समृद्ध समझता है। लोकगीत चाहे जहाँ के हों वे प्राचीन परम्पराओं, रीति-रिवाजों एवं धार्मिक तथा सामाजिक जीवन को अपने में समेटे हुए हैं इनमें भाषा अथवा बोली की अनेकता भले ही हो, पर भावों की एकता एवं उसे व्यक्त करने की क्षमता इनमें रची-बसी है। आज इन्हें संरक्षित एवं संवर्धित करने की आवश्यकता है। लोकजीवन में स्पन्दित कलाओं का भविष्य में जब भी कभी मूल्यांकन किया जाएगा, उसमें लोकगीतों का स्थान सर्वोपरि रहेगा।

## भीली वाचिक साहित्य

डॉ. सीमा शाहजी

विचारों की अभिव्यक्ति में भाषा का बहुत महत्त्व है। लिपि के माध्यम से विचारों एवं भावनाओं को प्रसारित करने, में पीढ़ी-दर-पीढ़ी संचारित करने और स्थायी धरोहर के रूप में संरक्षित रखने में सहायता मिलती है। आदिवासी संस्कृति के पास अभिव्यक्ति के लिये गढ़ी गई ऐसी भाषा तो है जो उनके बीच परस्पर लौकिक व्यवहार का निर्वहन करती है। संक्षिप्त शब्द, लेकिन समझ के साथ मिलकर ये शब्द एक अपूर्ण भाषा की तरह इनका परिचय बन जाती है। 'भीली शब्द', यही नाम संभ्रांत वर्ग दे देता है। भील जो बोले वह 'भीली भाषा'। आदिवासियों के पास बोली तो है, परंतु लिपि नहीं, इसलिये सतत् परिवर्तनशील रहने वाले आदिवासी समाज के समक्ष अपने वाचिक-साहित्य को संरक्षित रखने की बहुत बड़ी समस्या है। यह समस्या स्वयं आदिवासी के लिये कम, उनके लिये ज्यादा है, जो आदिवासी वर्ग को उन्हीं की पृष्ठभूमि के साथ जानना- समझना चाहते हैं। इसलिये आदिवासियों के वाचिक साहित्य को लिपिबद्ध करना बहुत आवश्यक है।

भील वनवासियों का अधिकांश साहित्य सृजन मौखिक ही हुआ है और उसकी यात्रा भी मौखिक ही होती रही है। इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण यह है कि लिपि न होने के बावजूद साहित्यिक धरोहर सम्पन्न और सशक्त है। समय के झंझावातों के बावजूद सैकड़ों वर्षों के पश्चात् भी भीली भाषा के जो मुहावरे-गीत-कथाएँ जिंदा रह गई हैं, उनको देखने-सुनने पर यह सहज अनुभूति होती है कि यह अपने आप में एक अद्भुत साहित्य हैं। इस अवशेष अनुभूति से यह सहज स्वीकृति होती है कि आदिवासी समाज में भी पुरातन काल से अपना समृद्ध साहित्य रहा होगा। लेकिन अन्य वाचिक-साहित्य की तरह इस परम्परा का भी शनैः- शनैः क्षरण होता चला गया।

वर्तमान समय में आदिवासी बहुल झाबुआ के आदिवासियों के पास आधुनिक-साहित्य की अधिकांश विधाएँ जैसे कथा, गल्प, गीत, पहेलियाँ, भजन आदि सब कुछ हैं। इनकी लोककथाएँ, लोकगीत जीवन के उन पक्षों को अभिव्यक्त करते हैं, जिन्हें वे रोज जीते हैं। हास-परिहास, जीवन-दर्शन, स्वयं की उत्पत्ति, दैनंदिन की समस्याएँ, जन्म से मृत्यु तक के संस्कार बाह्य जगत के साथ उनके अनुभव आदि विषयों पर इन्होंने साहित्य-सृजन किया है। इनके द्वारा अनेक गल्प कथाएँ कही जाती हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हम उन्हें कथा सुनाने के लिये प्रेरित करें और धैर्य से सुनते रहें। बीच-बीच में हुकारा देना ना भूलें।

भीली क्षेत्र में भील भाषा का ही उपयोग स्वाभाविक है। किन्तु यहाँ शिक्षा का प्रतिशत कम है। अतः भीली भाषा में व्याकरण काव्य आदि का अनुशासन रखना सम्भव भी नहीं है। अल्पतम साहित्य सुरक्षित है, जबकि अधिकतम कंठस्थ एवं परम्परानुसार चला आ रहा है। फिर भी इस भीली भाषा में व्याकरण पर्याप्त परिष्कृत है, जिस पर डॉ. नेमीचंद जैन का शोधकार्य अत्यन्त सराहनीय है।

सामान्यतः भीली साहित्य भीलों के रोजमर्रा के जीवन से सम्बद्ध है, जिसमें उनके कृषि कार्य खेत-खलिहान, रहन-सहन, प्रणय-प्रसंग, सुख-दुःख आदि का मर्मस्पर्शी वर्णन है, जो अंतस को छू लेने वाला और सजीव होता है। अकृत्रिम होने के नाते स्वाभाविकता से सराबोर भीली काव्य कंठस्थ रहकर भी अत्याधिक प्रभावशाली होता है। पढ़ा-लिखा तबका इसे उपेक्षा की दृष्टि से देखता रहा है, किन्तु इसके अतल में बैठकर परखा जाए तो असीम आनंद की अनुभूति होती है। भीली भाषा में भरपूर साहित्यिक सुषमा सौष्ठव समाविष्ट है। समय की आंधी ने भीली भाषा के वाचिक साहित्य के उत्तुंग शिखर को ढहाया अवश्य है, किन्तु वे इसके प्राण-तत्त्व में रसक्ता और स्वाभाविकता को नष्ट नहीं कर पाए। वाचिक-साहित्य का जीवन लिपिबद्ध साहित्य के मुकाबले कम जरूर होता है। फिर उसमें समयगत बदलाव भी अपना प्रभाव डालते ही हैं। यही वजह है कि अन्य लोक-साहित्य की तरह भीली-साहित्य भी वाचिक साहित्य होने के अभिशाप से मुक्त नहीं रह सका। आदिवासी वर्ग में ही इस वाचिक परम्परा को आगे बढ़ाने की रूचि का ह्रास होता चला गया। कई बार तो इसे पिछड़ापन तक करार दिया गया। जबकि

यह जमीनी महक से ओतप्रोत है। इसमें भीलों का समष्टिपूर्ण जीवन प्रतिबिम्बित होता है। सम्प्रति इसके माधुर्य की महत्ता को जितना भी सहारा जाए, थोड़ा है।

भीलों पर मावजी लोक-सम्प्रदाय एवं लसोड़िया भक्ति संप्रदाय का विशेष प्रभाव पड़ा, जिससे ये वैष्णव भक्ति में विभोर हो गए। गोविंदगिरि बंजारे ने इस क्षेत्र में विशेष कार्य किया। भक्ति-भावना भरने के साथ ही उसने भीलों के सुधारवादी प्रवाह को जन-जीवन से जोड़कर वह रूप प्रदान किया कि अंग्रेजी सत्ता उसके विरुद्ध हो गई और अंततः गोविंदगिरि को जीवन से भी हाथ धोना पड़ा।

वाल्मीकि दत्त महाराज की 'भिलोड़ी रामायण' इनमें विशेष विख्यात हुई। इसकी ऐसी गहरी छाप वनवासियों पर पड़ी कि वे आज भी राम-राम कहकर ही एक दूसरे का अभिवादन करते हैं। इस भिलोड़ी रामायण की रचना 1940 में पंचमहाल जिले में भीलों के सुधार की दृष्टि से की गई।

दत्त महाराज की रामायण का भी अत्यधिक असर पड़ा। यह लोकधुनों पर आधारित है, अतः भील इसे बहुत पसंद करते हैं। इसके प्रभाव से इन्हें शराब, चोरी व अन्य दुष्कर्मों से मुक्ति की शिक्षा मिली है। राम साहित्य की सात्विक शिक्षा का भीलों पर अत्यधिक प्रभाव है।

भीली कथाएँ व गीत काफी समृद्ध हैं। इन लोक-कथाओं में प्राचीन भील सरदारों का पौरुष गान, सामाजिक समस्याएँ, विवाह की प्रथाएँ, जादू-टोने की घटनाएँ आदि का उल्लेख होता है। भीलों की गौरवपूर्ण गाथाएँ उनके भोले-भाले स्वभाव, निर्भीक व्यक्तित्व, साहसी, स्वाभिमानी एवं कर्तव्यपरायण चरित्र से झलकती हैं। ये इनके जीवन से जुड़ी हैं।

मनजी भील की कथा गद्य एवं पद्य दोनों में भी हैं। मनजी भील एक डुंगर पर अपनी झोपड़ी बनाकर रहता है। वह अच्छा किसान है, उसके पास कुआँ है, बैल है, गाय है। तभी अकाल पड़ जाता है। पानी की एक बूँद भी नहीं गिरती। फसलें सब चौपट हो जाती हैं। इसी समय उसका कुआँ भी गिर जाता है। मनजी के पिता की भी मृत्यु हो जाती है। लोग मनजी से पिता का नुक्ता करने को कहते हैं, वह असमंजस में पड़ जाता है। पिता का



नुक्ता करें, कुआँ बनवाए या बच्चों का पेट भरे। अंततः मनजी कुआँ बनवाने का निश्चय करता है। कुआँ बनने पर कुछ फसल हो जाती है, बच्चों का पालन-पोषण हो जाता है। एक साल बाद जब वर्षा होती है तो फसलें लहलहाने लगती हैं। तब मनजी पिता का नुक्ता करता है। मनजी भील की सुझबूझ की सराहना इस कथा में है।

एक और कथा है। एक राजा भीलों पर कर लगाना चाहता था। उसको राजकुमारी की शादी के लिए धन की जरूरत थी। भील इतना अधिक कर देने को सहमत नहीं थे। राजा का सिपाही उनके पास गया और कर देने के लिये विवश करने लगा। भीलों ने इन्कार किया। राजा ने और सिपाही भेजे। भीलों ने उनको पराजित कर भगा दिया। ऐसी कई लोककथाएँ इनमें प्रचलित हैं।

लोक-साहित्य में मुहावरों एवं कहावतों का अपना महत्त्व एवं विशेष स्थान है। यदि उत्पत्ति की दृष्टि से विचार करें तो यह स्पष्ट होता है कि मुहावरों एवं कहावतों के उद्गम आपसी वार्तालाप के दौरान साहित्यिक अभिरूचि सम्पन्न किसी सृजनशील व्यक्ति के द्वारा व्यक्त किये जाने वाले उद्गारों के बीच होता है। प्रायः यह अनायास अद्भुत वैयक्तिक रूप में होता है। परंतु यह अर्थपूर्ण, सरस, बोधगम्य और प्रभावी होने से समुदाय में और फिर जन-जन में प्रचलित हो जाती है। मुहावरों और कहावतों के माध्यम से व्यक्ति के सुख-दुःख, व्यथा, उल्लास, आक्रोश, हताशा, मनोदशा आदि की अभिव्यक्ति मिलती है। यह व्यक्तियों के वार्तालाप एवं कथनों को वजनदार या प्रभावी भी बनाती है।

मुहावरों एवं कहावतों की रचना विचारपूर्वक नहीं की जाती है। यह मनोभावों की सहज अभिव्यक्ति होती है। इनकी पहुँच व्यापक और सम्प्रेषण हृदयग्राही होता है। इनमें लालित्य होता है। इसलिये यह जन-जन में प्रचलित होकर लोगों की जुबान पर चढ़ जाते हैं। सभी इनका उपयोग आपसी वार्तालाप में यथास्थान करते हैं। व्यापक प्रचलन के कारण यह लोक में बोलचाल की आम भाषा का अंग बन जाती हैं। बोलचाल में सामान्य रूप में इनके प्रयोग के कारण इनका प्रचलन बड़े-बूढ़ों में ही नहीं, युवाओं और बालकों में भी हो जाता है। इस प्रकार गाँवों में इनका संचार पीढ़ी-दर-पीढ़ी मौखिक हस्तांतरण से होता रहता है। नगरीय समाज में अवश्य ही इनका प्रयोग आम नहीं है।

मुहावरों एवं कहावतों का कोई शब्दकोश या समग्र संकलन संभव नहीं है। समयानुकूल न होने पर भी कतिपय मुहावरे और कहावतें प्रयोग से बाहर हो जाते हैं तथा कुछ नए जुड़ जाते हैं। इसके साथ ही यह भी सत्य है कि स्थान के साथ मुहावरों और कहावतों में भिन्नता पाई जाती है तो कुछ सार्वभौमिक होती हैं।

मुहावरों का संदर्भ से परे या स्वतंत्र प्रयोग करने पर वे अर्थहीन होते हैं। बिना संदर्भ के उनके प्रयोग का कोई औचित्य नहीं होता है। उदाहरण स्वरूप किसी बातूनी व्यक्ति के साथ निरंतर वार्तालाप करते हुए थकने पर भील क्रोधित होकर कहते हैं - *जेर सड़ावणु (माथा सड़ाना, सिर दुखाना या क्रोधित करना)*। इस प्रसंग या संदर्भ के बिना जेर सड़ावणु का प्रयोग अर्थहीन है।

इसी प्रकार-

नाम काडवूँ	- बदनाम करना।
कानामा वातकेवी	- गोपनीय बात करना।
रोटलो टूटवी	- बेरोजगार होना।
तलवारे नी धार	- दुष्कर कार्य।
काठो डोट	- अत्यधिक कंजूस।
आंख देखाड़वी	- धमकाना।
डाडी करवी	- शोक प्रकट करना।
ढांकिया पूत	- खूब लाड़-प्यार से रखा गया पुत्र
वाट जोवी	- प्रतीक्षा करना।
माथुं नमावणु	- नमस्कार करना।
माथुं डोवाववु	- अस्वीकार करना।

आदि मुहावरों को विशिष्ट संदर्भ में ही जाना और समझा जा सकता है। इसके विपरीत कहावतें अपने आपमें परिपूर्ण और अर्थमय होती हैं। बिना संदर्भ के ही उनके अर्थ को सहज ही ग्रहण किया जा सकता है। कहावतों के माध्यम से उत्साह, उमंग, सुख-दुःख, पीड़ा और परेशानियों की अभिव्यक्ति होती है। साथ ही उनका स्वर सचेतात्मक, उपदेशात्मक और दार्शनिक भी होता है। भीलों में प्रचलित कुछ कहावतों के उदाहरण प्रस्तुत हैं-

1. *भूखला तो भूखला पण सूकला खरी।*  
अर्थात्-हम भूखे हैं तो भी सुखी हैं।
2. *भूखे हूँ भेड़की खाय पण भीख नी मांगे।*

अर्थात्- भूखे रहकर भी इधर-उधर भटकना स्वीकार है, पर भीख मांगना शान के खिलाफ है।

3. भोला नो भगवान से-  
अर्थात्-सीधे-सादे व्यक्तियों का रक्षक भगवान होता है।
4. पाप नो घड़ो फट्यो वगर नी रे।  
अर्थात्-पाप का घड़ा फूटे बिना नहीं रहता।
5. सत् सांदनिये देखा।  
अर्थात्-सत्य तो चाँदनी में भी दिखाई देता है।
6. भील भोरा अने सेठ मोटा।  
अर्थात्-भीलों के भोलेपन से सेठ मालदार हुए हैं।
7. हुकुम वगर पान भी हाले।  
अर्थात्-ईश्वर की आज्ञा के बिना पत्ता भी नहीं हिलता है।
8. खारडा मां कांटो, भील मां आंटो हदा रे।  
अर्थात्-जूते में कांटा और भील में दुश्मन के प्रति बैर भाव सदा रहता है।
9. जुग बेरी है तो मलख बेरी है।  
अर्थात्-बुरे बोल बैर उपजाते हैं।

10. बैरी गारा नो खोटो।

अर्थात्-मिट्टी का दुश्मन भी बुरा होता है।

भीली साहित्य की लोकप्रियता इसी से आंकी जा सकती है कि असीम उथल-पुथल, शोषण, संन्यास के बावजूद भी भील अपनी थाती को संजोए हुए हैं। अपने अभावग्रस्त जीवन को ये इसी रसधारा से ही तो सींचते रहते हैं।

आदिवासी वर्ग में शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ लेखन भी होने लगा है। साहित्य से जुड़े, साहित्य के प्रति रूचि रखने वाले एवं भावुक मन के आदिवासी युवा वर्ग ने अपनी संस्कृति की जड़ों को साहित्य जगत में पहचान देने का काम शुरू कर दिया है। इनके माध्यम से आए नवीन साहित्य को फिल्मों से लगाकर सामान्य पाठकों तक ने रूचि के साथ स्वीकार किया है। वहीं सरकार ने भी इस दिशा में पर्याप्त अवसर तैयार किये हैं, जिसके कारण इस संस्कृति व साहित्य को लेकर शोधकार्य की शुरुआत भी हुई है। इन सबके चलते सदियों तक उपेक्षित रहे आदिवासी वाचिक-साहित्य में लिपि की समृद्धता आने लगी है। यह आशा करना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि अगर पर्याप्त अवसर मिलें तो यह साहित्य फिर से हमारी संस्कृति के लिये गौरवयुक्त पहचान बनने लगेगा।

## लोकगीत की प्रासंगिकता

पराक्रम सिंह

प्रत्येक काल और प्रत्येक देश का साहित्य अपने युगीन इतिहास बोध, सांस्कृतिक चेतना की उपज होती है। चाहे वह हड़प्पा-मोहनजोदड़ों से लेकर पाषाण-वैदिक-रामायण-महाभारत काल का युग रहा हो। ऐसे में इतिहास और संस्कृति से अलग करके साहित्य का मूल्यांकन करना अवैज्ञानिक और अधूरा होता है। लोकगीत और लोक-साहित्य की भाषा अभिव्यक्ति विचारों की अपनी मातृ-भाषा, बोली में पिरोकर लयबद्ध तरीके से प्रचीन समय में स्त्रियों के द्वारा गाया जाता रहा है, जो कि उनके मन मस्तिष्क के अन्दर व्याप्त विरह, करुणा, दुःख-सुख, हर्ष के रूप में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से हृदय से सम्बन्ध रखते हुए व्यक्त किये जाते रहे हैं। कृषि-प्रधान इस देश में यहाँ का किसान गाँव में रहकर अपना जीवन पूर्वजों की धरोहर को समेटने में लगा हुआ है। संगीतमय परम्परा को परवर्ती लोगों में हस्तान्तरित करने में लगा है। प्रकृति के नाना रूपों में दृश्यों के खुले वातावरण में जीवन व्यतीत करने के कारण लोक-संस्कृति ऋतुओं एवं मौसम ने मानव को अपनी तरफ आकर्षित करती हुई प्रकृति के आनन्द को भावोदगार के माध्यम से जिन गीतों द्वारा वह प्रकट करता है, उसे लोकगीत कहा गया है।

आधुनिक काल की शिक्षा के प्रभाव ने हम लोगों को अपने देश से बहुत दूर ले जाने का कार्य किया है। हम अपनी भाषा के थोड़े शब्दों में कैद रहकर उसकी परिधि विस्तार नहीं कर पा रहे हैं। विदेशी भाषा का प्रयोग कर अपने देश में रहते हुए भी विदेशी जैसे हो गये हैं। हम उन पगडण्डी को छोड़ देना चाहते हैं, जिसके सहारे अपने पूर्वजों के देश में पहुँचा जा सकता है। हमने वह दीपक हाथ से फेंक दिया है, जिसकी सहायता से हम अपना रास्ता अपनी आँखों से देख लेते। अब हम एक अत्यन्त उज्ज्वल प्रकाश के घेरे में चलने का प्रयास कर रहे हैं, जिसके चकाचौंध ने हमारी आँखें बेकार हो गई हैं। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भवभूति, तुलसी, सूर,

कबीर की आत्मा निचाड़कर अमृत रस बाँटने वाली वाणी को भूले जा रहे हैं। हमें इनकी लोक जीवन-शैली आज दूर तक दिखलाई पड़ती है।

हमें अपनी आँखों का चश्मा एक बार फिर उतारना होगा और पुनः उसी सोने की थाली में भोजन करने वाले, आम के घने जंगलों के बीच बसे हुए जन-समुदाय, नदी-नालों, पनघट पर पानी भरती स्त्री, घर-घर में चंदन के वृक्ष के दरवाजे, पशु-पक्षी, सूर्य-चंद्र, विरहणियों के संदेश पहुँचाने वाली कोयलें-भौरें प्रकृति के शाश्वत श्रृंगार की धार को सदा प्रवाहित होने वाली उस स्त्री के कंठों से निकले लोकगीतों का स्मरण करना होगा। अज्ञानता वश हमें इससे दूर होते जा रहे हैं। हम एक कंठस्थ साहित्य को लिपिबद्ध करके उसे सुरक्षित कर लेते हैं, जबकि गायिकी से स्त्रियों के मस्तिष्क की महिमा देखने को मिलती है और उनके शिक्षित होने का भी प्रमाण मिलता है। एक स्त्री परदेशी पति को पक्षी के माध्यम से पत्र भेजती है-

सोअत बाटऊ कि जागत बरधिया के नायक।  
तोरि धान चिठियाँ पठाये नि उठहुँ किन बाचहुँ ॥

इस चिट्ठी को स्त्री अपने पति से पढ़ने के लिए कहती है। पति जब उस पत्र को पाता है तो उठकर पढ़ता है-

बायें हाथे चिठिया लिहले नि दहिने हाथे बाँचे।  
ढुरै नयनवन आँसू पटुकवन पोछइ ॥

इसके माध्यम से स्त्री पति के द्वारा दाहिने हाथ से पत्र पढ़े जाने की बात कर रहा है, अर्थात् शुभ-लक्षण और पति के द्वारा स्त्री के पत्र पढ़ते ही उसके पति की आँख में आँसू आ जाते हैं।

लोकगीतों को गाने से स्त्रियों में सदाचार तथा नव-वधुओं को भावी-जीवन का चित्र तथा भिन्न-भिन्न स्वभाव के लोगों में किस प्रकार रहना चाहिए, इसकी शिक्षा मिलती है। इसी प्रकार का संदेश अभिज्ञानशाकुन्तलम् में महाकवि कालिदास ने शकुन्तला की विदा के समय कण्व के मुख से कहा है-

शुश्रूषस्व गुरून कुरू प्रिय सखी वृत्तंसपत्नी जने।  
भर्तु विप्रकृता पिरोषणतया मास्म प्रदीपं गमः।  
भूमिष्ठ भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी।

यान्त्येवं गृहिणी पदं युवतयो वामा कुलस्याधमः ॥

- चतुर्थ अंक से

बड़ों की सेवा करना। अपनी सौतों से सखी के समान व्यवहार करना। पति यदि अपमानित भी करे तो क्रोध से उसके विरुद्धाचरण मत करना। नौकरों-चाकरों से उदारता-पूर्वक व्यवहार करना। अपने भाग्य पर ही गर्व मत करना अर्थात् कर्तव्य करते रहना। स्त्रियाँ इन्हीं सब कार्यों के करने से गृहिणी जैसे पद को सुशोभित करती हैं। इसकी विपरीताचरण करने वाली स्त्री कुल का कण्टक (कलंक) होती है।

इसी प्रकार एक ग्राम गीत सुन्दर बच्चे के जन्म होने पर और उसके गुणी होने पर ससुर-ननद आदि सभी बहू से पूछते हैं, तो वह बतलाती है-

सभवहिं बैठें है ससुर त बहुआ से पूँछई हो।  
बहुआ कवन कवन तप कीहिउ होरिल बड़ सुन्दर हो ॥  
सासु क बचन न टारेउँ न ननद तकारेउँ हो।  
ससुरू कबहुँ न लाई लूकी लायउँ नाही रे जानौ वहिगुन हो।  
सुपेली खेलत कै ननदियाँ त भौजी से पूँछइ हो।  
भौजी कवन-कवन व्रत कीहिउ होरिल बड़ सुंदर हो।  
स्वामी के मानो हुकुमवाँ देवर क दुलारेऊ हो।  
ननदा सब कर लिहेउँ असीस त नाजानी वहिगुन ॥

आज के इस समाज में व्याप्त सास-बहू, ननद-भौजाई के सम्बन्धों की कटुता में ऐसे पारम्परिक गीत सम्बन्ध रक्षा और सम्मान के उदाहरण हो सकते हैं। इसी तरह एक स्त्री ने अपनी सास को जवाब दे दिया और उसका पति उससे नाराज है। वह उससे बोल नहीं रहा है तो स्त्री पति से पूछती है और सास को मनाने की बात करती है-

ऐ राजा किया रउवा सेवा चुकलों तो मुखहुँ न बोलहु।  
नहीं मोर जेवना बिगड़े सेजिऊ मोर भइल न हो।  
ए रानी गंगा-जमुना गोरी माता गरब बोली बोलहु ॥  
हम भइल तकसिरिया सासु पग लागव।  
राजा! मइचा मनाइ हम लेब राउर हँसि बोलिहु ॥

भारत जैसे इस देश को सभी नहीं घूम सकते हैं, लेकिन

लोक-गीतों के माध्यम से वहाँ के रस्म-रिवाज, रहन-सहन उनमें व्यास एकात्मकता को जानने का अवसर मिलता है।

*ननद भावो दा प्यार चखसा डाहे लेआ*

ननद भौजाई का प्रेम दोनों चरखा कातने बैठी है।  
इसी तरह गुजराती में भी चरखे के गीत देखने को मिलते हैं।

*सासु ने बहु वे रोंटियों रे काँते।  
कांततां बाई जीए पूँछयूँ रे-मारी सहीरे समाणी  
बहूँ रे बहूँ मने पूणियों बताओ  
पूणियो काती नाखी रे।।*

सास-बहू चरखा कातने बैठी। कातते- कातते सास-बहू से पूछती है कि और पूणी कहाँ है, तो बहू कहती है कि मैंने तो उसे कात डाला।

इसी तरह उत्तरप्रदेश में चरखे से सम्बन्धित गीत मिलता है, जिसमें पति अपनी पत्नी को चरखा देकर जाते हुए बतलाया गया है-

*देइ गये चनन चरखवा ओठँगने का मचियाँ हो राम।  
अरे पिया दे गये अपनी दोहिइया धरम जिनि छोड़िऊँ हो।*

प्रकृति के जीव-जन्तुओं, पेड़-पौधे, नदी, कुआँ, तालाब को भी लोकगीतों में माध्यम बनाया गया है। इसी प्रकार लोकगीतों में भाई-बहन, माता-पिता, पति आदि के प्रेम को भी दिखाया गया है, जो हम इन गीतों से इस प्रेम को समझा जा सकता है-

*कमर में सोहै करधनियाँ पाँव पैजनियाँ।  
ललन दूरी खेलन जिनि जाओ ढूँढन हम न अउवै।  
सात बिरन क बहिनिया बाप धिया एकै।  
हरिजी के परम पियारी ढूँढन कैसे अउवै।।*

राजा और प्रजा के बीच सहमति के बिना एक कुशल शासक का शासन नहीं हो सकता, जैसा की तुलसीदास जी ने दशरथ से कहलवाया है-

*जो पँचहि मत लागै नीका।  
करहूँ हरषि हिय रामहिं टीका।।*

उस समय के लोकगीतों को सुनने से यह ज्ञात होता है कि बाल-विवाह का प्रचलन समाज में नहीं था। क्योंकि इस तरह का युद्ध कोई बड़ा योद्धा कर सकता है न कि छः-सात वर्ष का बालक-

*घोड़े चढु दुलहा तू घोड़े चढु यहि रन बन में।  
दुलहा बाँधि लेहुँ ढाल तरुवरि त यहि रन बन में।  
दुलहा एक ओरि ठाढ़े अकाल त यहि रन बन में।  
ठाढ़े एक ओर मुगल पचास त यहि रन बन में।  
रामा जुझे है मुगल पचास यहि रन बन में।*

लोक-गीतों में कहीं-कहीं प्रकृति चित्रण को बहुत खूबसूरती से दिखाया गया है-

*बाबा निबिया के पेड़ जिनि काटेउ, निबिया चिरैया बसेर।  
बाबा बितियउ जिनि केउ दुःख देउ, बितियाँ चिरैया की नाई।  
सबरे चिरैया उड़ि जइहै, रहि जइहै भाई अकेलि।  
सबरे बितियवा जइहै सासुराहि रहिहै जइहै भाई अकेलि।*

इस तरह से नीति आदि वचनों को सुनकर ग्राम में रह रही अपढ़, जनता की बुद्धि में वृद्धि होगी। इनमें आये मुहावरे-कहावतों, पहेलियों के लिए प्रयुक्त नये-नये शब्द हिन्दी-साहित्य के नये शब्द-कोषों में वृद्धि का भी काम करते हुए दिखलाई पड़ते हैं।

## निमाड़ी लोकगीत

डॉ. मंजुला जोशी

गीत मनुष्य की रागात्मक वृत्ति के परिचायक हैं, इसलिए हर संस्कार, व्रत-त्योहार, गीत-संगीत की मधुरिमा से परिपूर्ण हैं। इन गीतों में गणगौर, बन्ना-बन्नी, गंगा-पूजन, प्रसव, हँसी-मजाक, दाम्पत्य, यात्रा के गीतों में श्रृंगार-प्रधान गीत प्रमुख हैं। ये गीत अपने आपमें भव्य बन पड़े हैं। इन गीतों में एक ओर श्रृंगार की ललक है, वहीं दूसरी ओर प्रिय को रिझाने की प्रवृत्ति भी है और इस रिझाने-रिझाने की प्रवृत्ति के साथ ही सास-ननद के हृदय में उपजने वाली ईर्ष्या का अंकन भी हुआ है।

नारी अपने सौन्दर्य के प्रति सजग रहती है। इन श्रृंगार गीतों में सौन्दर्य प्रसाधन की वस्तुएँ मंगवाने में नारी का अंकन भी कुशलता से हुआ है। सारे भाव स्त्रियोचित गुणों से भरपूर है। वह नयी-पुरानी सभी तरह की वस्तुएँ मंगवाना चाहती है। भला वह किसी से पीछे रहना कहाँ पसंद करती है। वह भी बिहारी की नायिका की तरह रूपगर्विता होना चाहती है। कुछ ऐसे गीत भी हैं, जहाँ उसके सौन्दर्य से ईर्ष्या होने लगती है। सास-ननद इत्यादि चिढ़ने लगती है और इस चिढ़ के लिए प्रयुक्त शब्द 'चणका' मुझे बहुत असरकारक लगा।

इन श्रृंगार गीतों की खासियत यह है कि ये आभूषण गाँव में नहीं शहर से बुलवाना चाहती है। जैसे आजकल सम्भ्रान्त परिवारों में स्त्रियाँ विदेशी वस्तुएँ बुलवाकर अपनी मित्र मंडली में शान बतलाना चाहती हैं। वही तेवर गाँव में रहने वाली महिलाओं का है। वही हाव-भाव-ताव कहीं कोई अंतर नहीं है, अंतर है तो भाषा का, लटके-झटके या प्रस्तुति का। किन्तु इन गीतों का सौन्दर्य तो अभूतपूर्व है। उन अनाम सृजनकारों को शत्-शत् वन्दन।

गीत नारी मन की रागात्मक वृत्ति के सूचक हैं। इन गीतों के माध्यम से श्रृंगार के विभिन्न उपादानों, साधनों की मांग भी की जाती

है। जहाँ नायिका अपनी विभिन्न भाव मुद्राओं से प्रिय को रिझाना चाहती है वही नव-विवाहित वस्तुएँ मंगवाकर अपने दैहिक सौन्दर्य में वृद्धि भी करती है। इस वृद्धि के साथ-साथ शीघ्र आने की मांग भी करती है, क्योंकि जिनसे श्रृंगार की वस्तुएँ बुलवाई जा रही हैं, उसे ही तो पहनकर दिखाना है। वह सिर्फ श्रृंगार की वस्तुएँ ही नहीं मंगवाती, वरन् हर वस्तु के साथ निर्देश भी देती है कि कौन-सी वस्तु कैसी लाना।

इन निमाड़ी लोकगीतों में नारी की स्त्री सुलभ चेष्टाओं का वर्णन मिलता है-

मीना जड़ी बिटी लेता आवजो, बना पयली पैसैंजर से आवजो।  
माथा सारू बिन्दी लावजो, माथा सारू टिको भी लावजो।  
बाल सारू क्लिप लेता आवजो, बना पयली पैसैंजर से आवजो।  
कान सारू झूमकी लावजो,  
कान सारू टाप्स लावजो, कान सारू ऐरिंग लेता आवजो,  
बना पयली पैसैंजर से आवजो।  
गलऽ सारू मालाऽ लावजो,  
गलऽ सारू नेकलेस लावजो,  
गलऽ सारू टूँस्सी लावजो,  
बना पयली पैसैंजर से आवजो।  
हाथ सारू चूड़ी लावजो,  
हाथ सारू कंगन लिंवजो, हाथ घड़ी लेता आवजो।  
बना पयली पैसैंजर से आवजो।  
पांय सारू पायल लावजो,  
पांय सारू तोड़ा लावजो,  
पांय सारू बिछिया लेता आवजो,  
बना पयली पैसैंजर से आवजो।।

यह विवाह में गाया जाने वाला भी गीत है, इस गीत में दुल्हन-दूल्हे से आभूषण लेकर पहली गाड़ी से आने के लिए कहती है। दुल्हन प्रत्येक अंग के अनुकूल वस्तु लाने के लिए कहती है। हे प्रिय! मेरे सिर पर लगाने के लिए बिंदिया लाना, सिर पर लगाने वाला टीका तथा बालों में लगाने के लिए क्लिप लेकर यथाशीघ्र पहली गाड़ी से आना। खरीदी में विलम्ब मत करना। कानों में पहनने के लिए झूमकियाँ लाना तथा नई फैशन के टाप्स लाना, नये ऐरिंग भी लाना और शीघ्र आना।

मेरे गले में पहनने के लिए माला लाना, नयी फैशन का नेकलेस लाना तथा पुरानी फैशन की टूँसी भी लाना और पहली पैसैंजर से आना। मेरे हाथों में पहनने के लिए चूड़ियाँ लाना, कंगन भी लाना और समय देखने के लिए घड़ी भी लाना। मेरे पैरों में पहनने के लिए पायल लाना, तोड़े लाना तथा अंगुलियों में पहनने के लिए बिछिया भी लाना और पहली गाड़ी से आ जाना।

इस गीत में सबसे आश्चर्यजनक व चातुर्य वाली बात यह है कि नायिका पुरानी वस्तुएँ और आधुनिक श्रृंगार की वस्तुएँ मँगाना चाहती है। जैसे- चूड़ी, कड़े, घड़ी, पायल, बिछिया, टुस्सी, झूमकी, ऐरिंग, टाप्स बिन्दी, टीका, क्लिप अर्थात् वह पुराने और नये सभी प्रकार के आभूषण चाहती है।

दत्तु भाई की नार मांगे तारा की टिकी  
तारा टिकी।

उगता सूरजमल की सूरकी,  
हम देवा गौरी सोना की टिकी।

सोना की टिकी-टिकी लाल हिगुल केरी सूरकी।  
सुरेश भाई की नार मांगे तारा की टिकी,  
तारा टिकी।

(इसी तरह परिवार के पुत्रों के नाम, दामादों के नाम जोड़े जाते हैं)

उगता सूरजमल की सूरकी,

हम देवा गौरी सोना की टिकी,

सोना की टिकी-टिकी लाल हिगुल केरी सूरकी।

गोपाल भाई की नार मांगे तारा की टिकी,  
तारा टिकी।

बबलू भाई की नार मांगे तारा की टिकी,  
तारा टिकी।

उगता सूरजमल की सूरकी।

हम देवा गौरी सोना की टिकी,

सोना की टिकी-टिकी लाल हिगुल केरी सूरकी।

उक्त गीत गंगा पूजन के समय गाया जाता है। यह गीत स्त्री के सुख-सौभाग्य की वृत्ति की ओर संकेत करता है। स्त्रियाँ देवी से सुख-समृद्धि की मांग करती हैं। पहला महत्त्वपूर्ण श्रृंगार स्त्रियों

के लिए सौभाग्य ही तो है। दत्तु भाई की पत्नी तारे की टीकी माँगती है, टीकी कैसी हो, उगते सूर्य की लालिमा से युक्त टीकी। (इस तरह अन्य लोगों के नाम जोड़े जाते हैं) देवी हमें दे सोने की लाल हिंगुल की टरकी। इस गीत में प्रतीक सूर्य की लालिमा बहुत ही उपयुक्त लगा।

बना बम्बई जाजो जी झूमकी लाजो,  
सूरजमुखी.....  
बना पैर जो निकसी जी,  
आंगन मड़ रपट पड़ी जी।  
बना बुरों मत मान जो जी,  
नजर जो मने अपकी लगी।  
बना बम्बई जाजो जी टिको लाउजो,  
सूरजमुखी.....  
बना पैर जो निकासी जी,  
आंगन मड़ रपट पड़ी।  
बना बुरों मत मान जो जी,  
नजर तो मने आपकी लगी।

बना बम्बई जाओ और वहाँ से सूरजमुखी सुनहरी आभा से युक्त अर्थात् सोने की झूमकी लाना। जब बम्बई से सोने की झूमकी आयी, बिहारी की नायिका की तरह 'सूधे पाँय न पड़ी सके सोभा ही के भार' की तरह नायिका सोने की झूमकी पहनकर जब बाहर निकलने लगी तो आँगन में पैर फिसल गया, तब नायिका कहती है कि मेरे गिरने को बुरा (फूहड़) मत समझना। दरअसल मेरे सौन्दर्य को तुम्हारी नजर लग गई है, अतः मैं गिर पड़ी।

बना बम्बई जाना और मेरे लिये टीका लाना, सूरजमुखी सोने का। सोने का (टीका) लगाकर जब नायिका बाहर निकलने लगी तो वह आँगन में फिसल गई। तब अपनी कमजोरी को छिपाते हुए निमाड़ी कहावत की तरह की 'चोरी की चोरी ऊपर से सीना जोरी' 'मार मराव व लोग डराव' है। प्रिय! टीका लगाने से मेरे सौन्दर्य में जो वृद्धि हुई है, उसे तुम्हारी नजर लग गई।

रंग में काळी अरू गौरी चुनरिया,  
रंग मऽ काळी गौरी।

1. चुन्दड़ पैरी न हऊ पाणीला गई थी,

ई साथ सहेली पूछऽ वातऽ

चुन्दड़ी बढ़िया रा मोल म्हारी चुंदड़ी।

2. कि वो सहेली थारा बाप न रंगाय दी

के थारा दायजा मऽ आई हो

चुन्दड़ी।

3. नई हो सहेली नड म्हारा बाप न रंगाय दी,

न म्हारा दायजा मऽ आई हो,

चुंदड़ी महारा दायजा मऽ आई हो, चुंदड़ी।

4. सासुबाई ना जाया नणद बाई ना वीरा,

सायबा म्हारा उन्नज म्हारी चुंदड़ी रंगई हो।

वस्त्राभूषण के प्रति लगाव स्त्रिओचित गुण होता है और यह लगाव तब अधिक बढ़ जाता है, जब प्रिय ने दी हो और सखियों ने प्रशंसा की हो। तारीफ सुनकर उसकी प्रसन्नता बढ़ जाती है। साड़ी के साथ-साथ मन की सारी सुकुमार भावनायें जागृत हो उठती हैं, यही भाव प्रस्तुत गीत में हैं।

रंग में काले और सफेद रंग की साड़ी है, जो बहुत सुन्दर लग रही है। रंग-संयोजन भी सुन्दर है। साड़ी को देखकर सहेलियाँ पूछती हैं कि इतनी सुन्दर साड़ी तुम्हारे पिताजी ने दहेज में दी है। तब वह जवाब देती है कि न तो मेरे पिताजी ने दी और न ही मेरे दहेज में आई। यह चुनरी तो सासुबाई के जाये (जन्मे पुत्र) ननद के भाई और मेरे सायबा (स्वामी) ने दी है। प्रत्युत्तर का चातुर्य गौरतलब है-

आओ न म्हारी रानी ननुबाई,

रानी सेत बाई लाल चूड़िलो पैरावा।

लाल चूड़ियो नई पैरा दादाजी,

सासरिया नहीं जावा।

सासरिया दुख भारी दादाजी

म्हारों देवर अलवारी(शैतान)।

सासु का बोल म्हारा हिरदा में साळऽऽ

ननद का बरछी घावऽ।

आवो न म्हारी गौरबाई रोयण बाई

लाल चूड़िलो पैरावा।

लाल चूड़िलो नईऽ पैरा काकाजी,

सासरिये नई जावा।



निमाड़ के गणगौर गीतों में श्रृंगार-प्रधान भावगीत देखे जा सकते हैं। यद्यपि यह गीत नैहर के दुलार-प्यार से भरे हैं। यह समूह गीत है। चूड़ा सौभाग्य का सूचक माना जाता है। दाम्पत्य सुख के साथ-साथ सास-ननद के व्यवहार का कष्ट भी सहना होता है।

आओ मेरी रनुबाई, आओ मेरी रानी सेत बाई लाल चूड़िलो पहनो। तब वह कहती है कि लाल चूड़ा पहनकर ससुराल नहीं जाऊँगी। दादाजी ससुराल में दुःख बहुत है। ससुराल में मेरा देवर बहुत शैतान है। सास के बोल हृदय में चुभते हैं। ननद, देवर के बोल जैसे बरछी लगते हों।

1. सायबा मक लाइ द करण फूल झूमको  
झूमको पैर न हऊँ माली घर गई थी  
न असो माळन क लगयो चणको  
सायबा.....
2. झूमको पैरी न हऊँ मंदिर गई थी  
न असो पुजारिन क लगी गयो चणको  
सायबा.....
3. झूमको पैरी न हऊँ बाजार म गई  
न असो बणियानि क लगी गयो चणको  
सायबा.....
4. झूमको पैरी न हऊँ दर्जी घर गई थी  
न असो दर्जन क लगी गयो चणको  
सायबा.....

उक्त गीत नारी के श्रृंगार एवं ईर्ष्या भाव को व्यक्त करता है। आभूषण पहनना-दिखाना और तदजन्य ईर्ष्या भाव की अभिव्यक्ति उक्त गीत में हैं। नायिका प्रिय से कहती है- हे प्रिय! ओ मेरे साहब जी! मुझे कर्णफूल (कान के) और कमर में लटकाने वाला झूमका ला दो। जब वह कान में पहनने कर्णफूल और कमर में झूमका लगाकर बाहर निकलती है तो उसके सौन्दर्य से सभी को ईर्ष्या होने लगती है। अतः वह कहती है झूमका पहनकर जब मैं माली के घर गई तो उसके सौन्दर्य को देखकर मालिन को गुस्सा आने लगा, ईर्ष्या होने लगी। झूमका पहनकर जब वह बाजार में गई तो बनियानि (बनिये की पत्नी) को गुस्सा

आने लगा। दर्जी के घर गई तो दर्जन को गुस्सा आने लगा, ईर्ष्या होने लगी। उसका सौन्दर्य देखकर अन्य स्त्रियों को खटकने लगा।

इस चुभन, खटकन, गुस्सा, ईर्ष्या एवं आवेश की नायिका मन ही मन समझाती है और मन को समझाती है। जैसे तुलसीदास ने लिखा है कि 'एक स्त्री दूसरी स्त्री के सौन्दर्य पर मुग्ध नहीं हो सकती'। यह गीत संभवतः इसी मनोविज्ञान पर आधारित है।

महारा हाथ मऽ हरियो रूमाळ,  
चाळो गणगौर मेळऽ मऽ ।  
हो महारा माथा पऽ अहियारी पागड़ी,  
चाळो गणगौर मेळऽ मऽ ।  
चटक मटक चुंदड़ी रे केसरवानी कौर,  
कौर ना किनारी ऊपर बैठो जीणो मोर ।  
करे पीहूँ-पीहूँ शोर रे ।  
फागण पखयो आयो के रंग लायों,  
के मन भायो हो जी ।  
के बळ आयो रे के मन भायों रे,  
के रंग लायो हो जी रंग लायों ।  
धीन ताधीन ताधीन ता धा,  
धीग धीना धीन धा धीन ता ।  
चालो गणगौर मेला ॥

निमाड़ में गणगौर पर्व बड़े उत्साह से मनाया जाता है। बड़वानी, दवाना, अंजड़, राजपुर इत्यादि स्थानों पर ग्रामीणजनों का उत्साह देखते ही बनता है। मेरे हाथ में रूमाल है, गणगौर मेले में चलें तो प्रिय कहता है कि मेरे सिर पर सुन्दर पगड़ी है चलो गणगौर मेले में। चटकीली-भड़कीली केसरिया रंग की चुनरी जिसके किनार पर छोटे-छोटे मोर बने हैं और वह मोर पीहूँ-पीहूँ (पिया-पिया) का शोर मचाता है। फागुन मास के साथ जैसे सारे जीवन में होली के विविध रंगों का उत्साह सिमट आता है। फागुन आया मन भाया और जब मन भाया फागुन के साथ (मनभावन प्रिय) हो तो जीवन में अधिक ऊर्जा का संचार होता है।

## निमाड़ी गीत

डॉ. कीर्ति शर्मा

हमारे देश की क्षेत्रीय बोलियाँ अपने सहज स्वरूप में मानव-जीवन के समस्त संस्कारों को अभिव्यक्त करने का सशक्त माध्यम हैं। इन बोलियों में लोक-परंपराओं, लोक-पर्व, लोक-कला, लोक-साहित्य एवं लोक-जीवन के आस्था-विश्वास का जीवंत चित्रण मिलता है। विभिन्न परिस्थितियों एवं संस्कारों के संदर्भ में रचे गये लोकगीत जीवन के मर्म एवं मूल्यों की स्वाभाविक रूप से प्रेरणा देते हैं। विवाह के अवसर पर गाये जाने वाले निमाड़ी गीतों में भी परंपराओं की सार्थकता, रिश्ते-नातों का शाश्वत महत्त्व अत्यंत सरल रूप में मधुरता के साथ व्यक्त किया गया है।

निमाड़ क्षेत्र की परम्परा में विवाह के अवसर पर सर्वप्रथम शुभ कार्य में आशीर्वाद देने हेतु मंगल-पाती समर्पित करते हुए ईश्वर से समस्त शुभकार्य निर्विघ्न सम्पन्न हो, इस हेतु प्रार्थना की जाती है। यह विश्वास समस्त मंगल-कार्यों में बना रहता है कि नव-जीवन में प्रवेश करने वाले वर-वधू को ईश्वर प्रत्यक्ष रूप से संस्कारों को संपन्न करने की प्रेरणा दे रहे हैं। घर-परिवार के सभी रिश्तेदार-सम्बन्धी को सविनय-स्नेह आमंत्रित किया जाता है, जिससे वर-वधू को मंगल कामनाएँ मिले और वो उनके भावी जीवन में उन्हें सम्बल देती रहे।

पाँच बधावा पिया न हो, लग डरे सुहागा हो,  
पाँच बधावा आवतऽ हमनऽ देख्या।  
पहलो बधावो पिया न हो, ससुरा घर भेजो हो,  
कि दूसरो बधावो सहोदर बापऽ घर,

तीसरो बधावो पिया न हो, जेठ घर भेजो हो,  
 कि चौथो बधावो सहोदर वीरा घर,  
 पाँचवो बधावो पिया न हो, कूखऽ सुलेखणी,  
 जिन्नऽ बताओ हो धन को सोयलो  
 अम्बा जड़ वन की पिया न हो कोयल बोलो हो,  
 चलो सुआ चलो सुआ अम्बा वन आमली  
 मांची बसंता पिया न हो मोठी बईणऽ बोल्या हो,  
 चलो पिया चलो पिया ईका घर पांवणां,  
 बरस न रहेसां पिया न हो मास न रहेसां हो,  
 आठ जो दिन का ईराजी घर पांवणां,  
 सोन्नो नी मांगां पिया न हो रुप्यो नी मांगा हो,  
 मोठी भावजऽ केरो गयणो चित लाग्यो

पाँच बधाईयाँ बड़ी लग रही है। पाँच बधाईयाँ गाते हुए आज हमने देखी। पहली बधाई श्वसुर घर भेजो, दूसरी बधाई सहोदर पिता के घर, तीसरी बधाई जेठ जी के घर, चौथी बधाई सहोदर भाई के घर, पाँचवी बधाई उस सुहागिन कूख को भेजो, जिसके कारण यह शुभ दिन देखने को मिला। आम वन की कोयल बोलने लगी है कि हे सुआ! हम भी आम्र-वन की ओर चले। बाजूट पर बैठी बड़ी बहिन बोली-चलो पिया हम भाई के घर मेहमान होंगे, वहाँ हम वर्ष भर नहीं रहेंगे, माह भर नहीं रहेंगे, सिर्फ आठ दिन के लिये हम भाई के घर मेहमान होंगे। तुमसे सोना नहीं माँगते, रुपया नहीं माँगते हमारा मन तो बड़ी भाभी के गहनों में लगा हुआ है।

श्री गणेश पूजन में परिवार की महिलाएँ अत्यंत उत्साह के साथ विघ्नहर्ता भगवान का स्वागत करती हैं। वर-वधू गौरी-पूजन उपरांत गणेश जी का पूजन करके वैवाहिक जीवन में सुख-समृद्धि की कामना करते हैं। मंगल-गीत गाते हुए इस आयोजन से वैवाहिक रीतियों का प्रारंभ किया जाता है-

गढ़ रे गुजरात सु देव गणपति आया हो,  
 आई नऽ उतरया ठण्डा बड़ तलऽ  
 पूछत-पूछत गाँव मंऽ आयां हो, नगर मंऽ आया हो  
 भाई हो नारायण भाई को घर कहाँ छे?  
 आमी-सामी लंबी बहरी नऽ पटुसाल हो,  
 फेल जऽ झपकऽ उनका आंगणा मंऽ

सीप भरी सीरीखण्ड थाल भरी मोतीड़ा  
 गणेश वधावण सरजू बाई संचर्या हो,  
 गणेश वधावण नन्नी बाई, सवित्री बाई, मनुबाई,  
 कुसुम बाई, दया बाई, गिरजा बाई, सीता बाई संचर्या हो।

गुजरात के गढ़ से श्री गणेश जी आये और आकर ठण्डे वटवृक्ष की छाया में ठहर गये। वहाँ से वे गाँव में आये, नगर में आये और पूछा कि नारायण भाई का घर कहाँ है। उनके आमने-सामने धावा और लम्बी पटसाल बँधी है और उनके आँगन में केले का वृक्ष लहलहा रहा है। तब सीप भर श्रीखण्ड और थाल भर मोती लेकर बड़ी बहन सरजू बाई निकली और उन्होंने गणेशजी का स्वागत किया। श्री गणेश का स्वागत करने नन्नी बहन, सावित्री बहन, मनु-कुसुम बहन, दया बहन, गिरजा बहन, सीता बहन भी आयी।

विवाह के अवसर पर वर-वधू के ननिहाल पक्ष के रिश्तों के महत्त्व एवं रिवाजों को स्थापित करते हुए मंडप-प्रतिष्ठा में दोनों परिवारों के आत्मीयजन मिलते हैं। वर-वधू के ननिहाल से यथा-सम्भव वस्त्र-उपहार भेंट देकर और उसके परिवार की खुशी के अवसर पर सहभागिता प्रकट की जाती है। विशेष रूप से बहन के प्रति सम्मान-भावना पीहर से आये परिजन अभिव्यक्त करते हैं।

बयणी का आँगणा मं पिपलई रे वीरा चूँदड़ऽ लावजे  
 लाव तो सब सारू लावजे रे वीरा, नई तो रहेजे अपणा देश ऽ  
 माड़ी जाया चूँदड़ऽ लावजे,  
 संपत थोड़ी हो बयणी विपत घणेरी, कमी पतऽ आऊँ थारा देश  
 भावज रो गयणो गिरवी मेलजे रे वीरा, चूँदड़ऽ लावजे  
 असी पत आवजे म्हारा देश, माड़ी जाया चूँदड़ऽ लावजे

बहिन अपने भाई के पास संदेशा पहुँचाती है कि हे भाई! तुम्हारी बहन के आँगन में एक पीपल का वृक्ष है, उसी घर से तुम्हारी भानजी की शादी हो रही है। अतः तुम अपनी बहन के यहाँ चूनर लेकर अवश्य आना, लेकिन याद रखना चूनर लाओ तो सबके लिये लाना नहीं तो मेरे माँ के जाये, तुम अपने घर पर ही रहना। इस पर भाई संदेश पहुँचाता है कि हे मेरी बहन! संपत्ति बहुत थोड़ी है और विपत्ति अधिक है, मैं आऊँ तो किस तरह तेरे देश आऊँ, मेरी माँ की जाई। तब बहन कहती है कि हे भाई! तुम

भावज के गहने गिरवी रख देना और इस प्रकार चूनर लेकर अवश्य मेरे देश आना।

हिन्दू मान्यताओं में पूर्वजों के आत्मीय आशीष के प्रति इस अवसर पर आभार प्रकट किया जाता है। पूर्वजों को स्मरण करते हुए उन्हें भी विवाह के शुभ अवसर पर भावुकता के साथ आमंत्रण दिया जाता है। यद्यपि पूर्वज आने में अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए कार्यों को पूर्ण करते रहने की सखेह प्रेरणा देते हैं।

सरग भवन्ति हो गिरधरणी एक संदेशो लई जाव,  
सरग का सदाशिव दाजी खऽयो कयजो,  
तुमऽ घर पोतणी को ब्याव,  
सरग का मुत्रालाल दाजी खऽ यो कयजो  
तुमऽ घर पोतणी को ब्याव,  
सरग की माय खऽ यो कयजो  
तुमऽ सरऽ घर पोतणी को ब्याव,  
सरग का पत्रालाल दाजी खऽ यो कयजो  
तुमऽ घर नातणी को ब्याव  
जेमऽ रे ओमऽ सारजो,  
हमारो तो आवणो नी होय,  
ताला जड्या रे लोहा बज्र का जड़ी दिया बीजर किवाड़,  
अगाल झड़ी लुहा की भी।

हे स्वर्ग तक उड़ने वाली गिद्धणी! तुम हमारा एक संदेश लेती जाओ, स्वर्ग में रहने वाले हमारे सदाशिव दादाजी से कहना कि तुम्हारे घर पोती का विवाह है, स्वर्ग में रहने वाले हमारे मुत्रालाल दादाजी से ये कहना कि तुम्हारे घर पोतिन का विवाह है, स्वर्ग में रहने वाली हमारी दादीजी से कहना कि तुम्हारे घर पोतिन का विवाह है। स्वर्ग में रहने वाले पत्रालाल दादाजी से कहना कि तुम्हारे घर नातिन का विवाह है। इस पर उसी गिद्धनी के हाथ वे सब संदेश भेजते हैं कि हे गिद्धनी! तुम उनसे जाकर कहना कि जैसे भी हो, इस काम को तो निपटा ही लेना, हमारा आना तो मुश्किल ही है। कारण स्वर्ग में हमारे बाहर आने के रास्तों में बड़ी चौकसी है, विशालकाय दरवाजे पर लोहे के वज्र समान ताले जड़े हैं, लोहे की बड़ी-बड़ी अरगलाएँ पड़ी हुई हैं। वहाँ से निकल पाना संभव ही नहीं है। अतः रास्ता मत देखना, काम निपटा लेना।

विवाह-संस्कार के लिये मेहमानों की प्रतीक्षा पूर्ण होती है और वर-पक्ष के अतिथियों के पधारने पर उनका अभिनंदन किया जाता है। उन अतिथियों के सत्कार-सुविधा का पूरा ध्यान रखते हुए उन्हें सम्मान पूर्वक आमंत्रित किया जाता है।

मेजबान आया, भला हो आया,  
रूढो हो आया, जिनकी तो देखां बाट नी।  
निकलो लाड़ी-बाई आंणऽ मेजबान आया द्वार वी,  
पलंग तुलई दिया आंगणऽ, दूध पखार्या पांवनी।  
केशर घोलई वाटकी, रिझणो तो ढोलयो हवालनी,  
तुलसी बिन्द्रावन आटेलो, लछमी को अन्त नी पराजी ॥

मेहमान आये हैं, भले आये हैं, समय से आये हैं, जिनकी हम प्रतीक्षा ही कर रहे थे। हे बहू! बाहर तो आओ, देखो हमारे दरवाजे मेहमान आये हैं, उनके स्वागतार्थ आँगन में पलंग बिछा दिये गये तथा दूध से उनके पाँव धोये गये, उन्हें कटोरी में केशर घोलकर लगाई गई तथा पंखों से हवा दी गयी। उनके आँगन में तुलसी का ओटला है, उनके यहाँ लक्ष्मी का कोई अंत और पार नहीं है।

पाणिग्रहण संस्कार का महत्त्व हिन्दू-धर्म एवं सामाजिक परंपराओं में चिरन्तन हैं। इस संस्कार में साक्षात् ईश्वर वर-वधू को आशीष देने आते हैं, ऐसा माना जाता है। वेदों के ज्ञाता, रीति-रिवाजों के अर्थों के महत्त्व की व्याख्या करने वाले विद्वान पंडितों द्वारा मंत्र-श्लोक उच्चारण के साथ पाणिग्रहण संस्कार को संपन्न कराया जाता है। वर-वधू पक्ष के परिजन विवाह-संस्कार को पूर्ण हुआ मान आत्मिक आनंद का अनुभव करते हैं।

आला नीला वासऽ को मंडप बनायो, जामुण पात छवाया जी,  
कास नारेलऽ की हो रस्सी बनाईऽ, नागर वेली पान बंधायाऽ जी  
क्वारी गौआऽ को गोबरऽ मंगायो, ढिक दई अंगना लिपाया जी  
अम्बाऽ ताँबा का हो कलश भराया गजमोतिन चौक पिराया जी  
भोला हो ईश्वर म्हारा बण्णा दुल्लव जी लई बरात आया जी  
चारई पण्डित मिल वेद उच्चार गंगा का लगिणऽ लगावऽ जी  
लाग्या लगीणऽ रे बाबुल हुआ नची तऽ सब देव सरग पधार्या जी।

गीले हरे बाँस का मण्डप बनाया, जिसको जामुन के पत्तों से छावा है। कांस व नारियल की रस्सी में नागर बेल के पान

लगाकर मण्डप में बंधवाये हैं। कुँवारी गाय के गोबर से ढिक देकर आँगन लिपाया है। आम के पत्तों से सजाकर ताँबे के कलश भराये और गजमुक्ता से चौक पिराये हैं। भोले शंकरजी दूल्हा बनकर बारात लेकर आये हैं। चार पण्डितों ने मिलकर वेद-मंत्रोच्चारण के साथ पाणिग्रहण संस्कार संपन्न कराया। लग्न लग गये और बेटी का पिता निश्चित हुआ। लग्न के बाद जितने देवता विवाह में आए थे, सब स्वर्ग को वापस पधार गए।

विदाई के मार्मिक प्रसंग में बेटी माँ की गोद, पिता का लाड़, भाई का संग तथा बचपन के सभी खेल-दुलार छोड़कर वर के साथ जा रही है। सभी उसे भीगी आँखों से विदाई देते हैं तथा सुखी जीवन का आशीर्वाद देते हैं। बहन-बेटियों को दिया गया महत्त्व और दान कभी अकारज नहीं जाता, अर्थात् उनकी शुभेच्छा अवश्य फलित होती है। इस विश्वास के साथ महिलाएँ विदा होती बेटी से कहती हैं कि अपने पिता को आशीष देती जाओ, तब बेटी भी भारी मन से पिता को सदा राजा की तरह सुखी रहने और दीर्घायु होने का आशीर्वाद देती है।

*आला नीला बाँस की बाँसुरी, वो भी बाजती जाय,  
कार्तिकेय भाई की बईण दे लाडली, वो भी सासर जाय  
पछा फिरो पछा फिरो लाड़ी बाई, पिताजी खऽ देवो आशीष  
खाजोऽ पिजोऽ पिताजी राज करजो, जिवजो ते करोड़ बरीस*

*छोड़्यो छे मायको माहिरो, छोड़्यो रे पिताजी को लाड़  
छोड़्यो छे भाई केरी भावजी, छोड़्यो फुतल्ला रो ख्याल  
छोड़्यो छे सई केरो सईपणो, लाग्या ते दुल्लवजी का साथ।*

जिस तरह हरे नीले बाँस की बाँसुरी को बजना ही होता है, उसी तरह अपने भाई की कार्तिकेय की सुकुमारी लाडली बहन को आज ससुराल जाना ही होगा। हे दुलहिन! एक बार पीछे घूमकर तो देखो, तुम्हारे पिताजी खड़े हैं, उन्हें आशीष तो देती जाओ। इस पर भीगी आँखों से बेटी का रोम-रोम आशीर्वाद देने लगता है कि हे पिताजी! तुम राजा की तरह सुखी और सम्पन्न रहो, और तुम्हारी करोड़ों बरस की आयु हो। हे बहिन! तुमने माँ की गोद छोड़ी, पिताजी का लाड़-प्यार छोड़ा, भाई का संग और बचपन के खेल भी छोड़ दिये। अब तुम सहेलियों का सहेलीपन छोड़कर आज 'दूल्हा' के साथ कैसे जा रही हो?

ये लोकगीत जहाँ एक ओर रीति-रिवाजों के महत्त्व को स्थापित करते हैं, वहीं दूसरी ओर पारिवारिक-सामाजिक सम्बन्धों की संवेदनशील व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। इन गीतों में सहज रूप से कर्तव्यों एवं दायित्वों का बोध भी कराया गया है। विवाह संस्कार से जुड़े इन लोकगीतों में संक्षिप्त रूप में आत्मीय भावनाओं के साथ सम्पूर्ण जीवन के रिश्तों की सार्थकता प्रस्तुत की गयी है।

## मड़ई उत्सव की लोक परम्परा

पुनऊराम साहू

छत्तीसगढ़ी संस्कृति में वर्ष भर कुछ न कुछ त्योहार मनाये जाने के साथ-साथ देवी-देवता की पूजा-अर्चना कर प्रसन्न करने की लोक-परंपरा है, जो कि सदियों से चली आ रही है। इन्हीं त्योहारों में लोक मान्यताओं से जुड़ा पर्व मड़ई भी है। इसे ग्रामीण संस्कृति का वार्षिक उत्सव भी कहा जा सकता है। क्योंकि वर्ष भर मनाये जाने वाले त्योहारों की अपनी अलग-अलग शैली है, जिसमें मड़ई त्योहार को उत्सव के रूप में मनाया जाता है।

मड़ई उत्सव को सम्पूर्ण छत्तीसगढ़ के प्रत्येक गाँव व शहर में प्रतिवर्ष मनाया जाता है। इस उत्सव के माध्यम से अपने मित्रों एवं दूरदराज में रहने वाले कुटुम्बियों से मेल-मिलाप भी होता जाता है। इस उत्सव को सार्वजनिक रूप में मनाये जाने की लोक-परंपरा है।

मड़ई उत्सव प्रतिवर्ष कार्तिक, अगहन, पूस, माघ तथा फाल्गुन मास के अंतर्गत मनाया जाता है। आमतौर पर यह उत्सव कार्तिक महीने के शुक्ल-पक्ष से शुरू होते हैं। इसका समापन फाल्गुन मास के कृष्ण-पक्ष की पूर्णिमा में, महाशिवरात्रि के दिन होता है। होलिका दहन के दूसरे दिन रंगों का उत्साह मनाया जाता है। उसी दिन प्रातः मड़ई उत्सव के प्रतीक चिन्ह को तालाब में आगामी वर्ष के लिए विसर्जित कर दिया जाता है।

मड़ई व बैरग का निर्माण कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष एकम (पर्वा) को लक्ष्मी पूजन के दूसरे दिन प्रातः से किया जाता है। इसे सुबह से बारह बजे (दोपहर) तक पूर्ण सिंगार कर दिया जाता है। मड़ई का निर्माण प्रायः यहाँ के केवट समाज के लोगों द्वारा एवं बैरग निर्माण गोंड व राऊत समाज के लोगों द्वारा अपनी-अपनी लोक मान्यताओं एवं गोत्र की परम्परा के अनुसार बनाया जाता है।

मड़ई में लगने वाले सामानों में एक सीधा व लम्बा बाँस, हाथों से निर्मित कांसी की रस्सी, झिल्ली कागज, कंदइल पत्ती, पेड़ जड़ (मेड़ई), लकड़ी का पाती, मोरपंख आदि है। इसी प्रकार बैरग में लाल, पीला, काला, सफेद रंग कपड़े को सिलकर निर्माण करते हैं। एक लम्बे सीधे बाँस में उक्त कपड़े को पहना दिया जाता है, ऊपर सरताज के रूप में अपनी मान्यता व हैसियत के अनुरूप लोहा, पीतल या चाँदी से निर्माण किया जाता है। इस प्रकार बैरग तैयार होता है। इसे निशान भी कहते हैं। बैरग को मड़ई का छोटा भाई भी कहा जा सकता है। इसी तरह मड़ई तैयारी भी अपने देवी-देवता व गोत्र की लोक-परम्पराओं, मान्यताओं के आधार पर करते हैं।

कुछ मान्यताएँ ऐसी भी हैं, कि लक्ष्मी-पूजन के रात्रि तीसरे प्रहर घर का एक मुख्य व्यक्ति नहा-धोकर अपने घर के आँगन में निर्वस्त्र अवस्था में मड़ई निर्माण कार्य को शुरू कर देते हैं। शेष कार्य को दोपहर बारह बजे तक तैयार करते हैं।

इसे तैयार करते समय घर के बाहर दो खाट या दो जगह केंची आकार में लकड़ी गड़ाकर, ऊपर मड़ई बाँस को रखकर पेड़ की पतली-पतली जड़ को गोलाकार रूप में मेड़री बनाते हैं मेड़री के ऊपर धन आकार में दो लकड़ी, पाती तैयार करते हैं, जिसमें मेड़री को बांध दिया जाता है। इस प्रकार मड़ई निर्मित करने वाले पाँच-सात या नौ पाती लगाकर से निर्माण कासी की रस्सी (सुमा डोरी) से सीधे लंबे आकार में बाँधकर (पोहकर) उस रस्सी में पताका झिल्ली कागज या कंदइल के पत्ते को रंगाकर लगाया जाता है। ऊपर सरताज के रूप में मयूर पंख को बहुत ही आकर्षक ढंग से झूला लगाकर, चमकने वाले कागज से चिपका दिया जाता है। इस प्रकार तैयार करके पूजा के लिए पूरे मड़ई को सफेद कपड़े से ढँककर देवता खोली (रूम) में रखते हैं। मोरपंख वाले भाग को देवता के पास रखते हैं।

मड़ई निर्माण के पश्चात्, मड़ई जेवाने का प्रावधान है। इसके अंतर्गत गोवर्धन पूजा के दिन दोपहर एक से तीन बजे के (बीच) तहत पूजा-अर्चना की जाती है, जिसे जेवाना कहते हैं। इसमें सभी अपने गाँव के गोत्र वाले स्वजातीय परिवार के लोगों को निमंत्रण देकर बुलाया जाता है। वहाँ सभी घरों से महिला-पुरुष दोनों पधारते हैं। पूजा में लगने वाले सामान पान, सुपाड़ी,

ध्वजा, नारियल, चंदन, नीबू, गांजा, शराब, रोट- खीर, लोभांग, दशांग, अगरबत्ती आदि से परिवार के मुख्य व्यक्ति या बुजुर्ग (सियान) के द्वारा पूजा कर मड़ई जेवाया जाता है। इसका प्रसाद सभी लोगों द्वारा ग्रहण किया जाता है। उस वक्त पुरुष वर्ग शराब व गांजे का इस्तेमाल करते हैं।

शाम चार बजे से राऊत समाज के चरवाहा, रावत नृत्य करने कलाकारों का दल, उस घर में परधाने आते हैं। उस घर के बड़े लड़के द्वारा कछन निकाला जाता है, इस समय अपने देवता को दुहाई देते हुए दोहा बोलते हैं-

*ये छ काछ काछों भइया, दूसरा दिये लगाई।*

*तिसर काछ काछों रे, मोर गोररदयां के दोहाई।।*

इस प्रकार हर तीसरे काछन में सांहड़ा, परेतीन दाई एवं अन्य देवी-देवता की दुहाई दी जाती है। इस प्रकार दुहाई देते हुए, गाँव परिक्रमा के लिये घर से मड़ई को निकाला जाता है। तत्पश्चात् गाँव में सामूहिक रूप से, सांहड़ा देवता के पास गोवर्धन पूजा की जाती है, वहाँ ले जाते हैं। शाम सात बजे राऊत नृत्य टोली के साथ नाचते-गाते मड़ई को अपने घर ले आते हैं। फिर दूसरे दिन मातर त्योहार में भी, गाँव के पूरे जानवरों का एकत्रित स्थान, खैरखा डांड (गौठान) में ले जाते हैं। उसी शाम वापस घर में लाकर तुलसी चांवरा (चबूतरा) के पास एक लम्बा लकड़ी का खम्भा गड़ाकर, मड़ई को बाँधकर खड़े आकार में रख देते हैं, जिसे सीधे मड़ई उत्सव के दिन निकालते हैं।

इस उत्सव के लिए रावत समुदाय के चरवाहा लोगों द्वारा दीपावली के बाद गाँव के सभी ग्रामीणों के घर-घर जाकर नृत्य मंडली के साथ, ठाकुर जोहारे जाते हैं। वही नृत्य कर दान के रूप में नगद राशि ली जाती है। उसी राशि से प्रायः मड़ई (मेला) का आयोजन किया जाता है या गाँव में पंचायत के द्वारा आम बैठक लेकर, सभी घर से चंदा इकट्ठा करके, इस इकट्ठा राशि को मेला उत्सव के कार्य में खर्च किया जाता है, जिसमें रात्रि में होने वाला मनोरंजन खर्च शामिल है।

मड़ई (मेला) के दिन गाँव के बैगा द्वारा सूर्योदय के पहले, मड़ई देवता के सम्मान में पूजा-अर्चना कर मेला स्थल में एक सफेद झंडी गाड़ दी जाती है। इस दिन प्रातः से छोटे-बड़े,

बूढ़े बच्चों की चहल-पहल एवं खुशी का वातावरण देखा जाता है। सुबह से ही मेला स्थल में झूला (रइचुली) गोल झुला (चक्र) खेल, तमाशा, होटल, हलवाई पान, मनहारी सामान खिलौने बेचने वाले अपनी दूकान कतारबद्ध तरीके से लगाते हैं।

दोपहर बारह बजे से मेला देखने वालों की भीड़ लगनी शुरू हो जाती है। इस दिन सभी लोग नये कपड़े पहनते हैं। पश्चात घर से खाना खा-पीकर आकर्षक रंग-बिरंगी, पारंपरिक वेशभूषा में सजधज कर मेला (मड़ई) का आनंद लेने निकलते हैं। इस समय घर के सभी सदस्यों को प्रमुख व्यक्ति द्वारा यथाशक्ति उनके मनपसंद सामान खरीदी के लिए रूपया-पैसा दिया जाता है।

शाम चार बजे से रावत समाज के चरवाहा लोग अपनी नृत्य की पारंपरिक वेशभूषा यथा- मोरपंख, कौड़ी, पागा सलूखा, धोती, घुँघरू, घाघरा, साजू, लाठी, फरी से सुसज्जित होकर गंडवा बाजा या दफड़ा, दमऊ, सींगबाजा (गुदुम), ट्रासक, मोहरी, अलगोजा, ढोल, झुमका, मंजीरा आदि वाद्य-यंत्रों के साथ नृत्य करते हैं। गीत गाते एवं दोहा के साथ लाठी चलाते हुए अपना आकर्षक पैतरा दिखाते गाँव के प्रमुख व्यक्ति मालगुजार (दाऊ), सरपंच, पटेल, पंच, कोटवार के घर पहले जाते हैं। तत्पश्चात इन व्यक्तियों के साथ, जिस घर में मड़ई, बैरग (निशान) है, वहाँ जाते हैं। पश्चात् गाँव के सभी चरवाहों के ठाकुर घर जाते हैं। इन सभी ग्रामीणों को अपने साथ लेते हुए मेला स्थल में पहुँचते हैं। नृत्य मंडली के प्रवेश करते ही, मेला स्थल का शोर शराबा बढ़ जाता है। इस समय मड़ई (मेला) का आकर्षक नजारा देखते ही बनता है।

रावत दल मेले में प्रवेश करते ही पहले तीन चक्र गोलाकार नृत्य करते हुए मड़ई में घुमाया जाता है। इसे बाजार बिहाना भी कहते हैं। बिहाना का मूल अर्थ शादी होता है। इस प्रकार परिक्रमा करने के बाद मड़ई कि जहाँ झाड़ी गड़ाई गई है, वहाँ सुरक्षित स्थान में रख दिया जाता है। वहीं पर कुछ बिछाकर अपने साथ आये गणमान्य व्यक्तियों को सौंप-सुपारी से सम्मान करते हैं। इसके पश्चात् सभी मेला घूमते हैं। अपने मनपसंद सामान की खरीददारी करते हुए मड़ई (मेला) का आनंद लेते हैं।

मड़ई त्योहार में गाँव के सभी लोग कुछ न कुछ सामान खरीदते हैं। जैसे बच्चे लोग फुग्गा, तुतरू, बाँसुरी, शिसरी, पेमबाजा, कागज-प्लास्टिक से बना चश्मा, घड़ी, बांटी, मांवरा, चना, मुरा या मुरा लाडू, खिलौने आदि की खरीदी करते हुये हर्षित देखे जाते हैं। इसी प्रकार महिलाएँ-युवतियाँ अपनी जरूरत की मनमोहक सामान टीकली, फूंदरी, फीता, रंग-बिरंगी चूड़ियाँ, खिनवा, फुल्ली, मुंदरी, बिछिया, पीन बतासा, लायचीदाना, खोवा, पेड़ा, काड़ी, मिठाई व साग-भाजी सहर्ष खरीदते दिखाई देते हैं। पुरुष वर्ग में बुढ़े-जवान लोग भी भजिया, आलूगुण्डा, चना का स्वाद लेते हुए एवं चाय की चुस्की के साथ देखे जाते हैं। युवक-युवतियों की अधिकांश भीड़ रइचुली, चक्र (झूला), खेल-तमाशे वालों के पास देखी जाती है। जो हँसते-मुस्कराते हुए उक्त मनोरंजन का भरपूर आनंद उठाते देखे जाते हैं।

कई गाँव के नवयुवक खेल प्रेमियों की क्रीड़ा मंडल द्वारा मड़ई के उपलक्ष्य में कबड्डी (खुडवा) प्रतियोगिता का आयोजन किया जाता है, जो कि मेला स्थल के आस-पास ही होते हैं। लोग-मेला परिक्रमा कर कबड्डी देखने में लग जाते हैं। खेल के मैदान में खेलते खिलाड़ियों का दर्शकों द्वारा ताली बजाकर उत्साह बढ़ाया जाता है। इसमें प्रथम, द्वितीय, तृतीय स्थान प्राप्त करने वाले क्रीड़ा दल को पुरस्कार से सम्मानित किया जाता है।

शाम छः-सात बजे से लोग मड़ई (मेला) स्थल से अपने-अपने घरों को वापस आते हैं। रात्रि भोजन के बाद सभी लोग गाँव के चौराहे, गली या गुंडी में सामूहिक मनोरंजन के लिए, छत्तीसगढ़ सांस्कृतिक नाच देखने उपस्थित होते हैं। रात्रि करीब नौ-दस बजे से सुबह छह-सात बजे तक अपने अंचल के बहुचर्चित लोकनाट्य गम्मत नाच का पूर्ण आनंद लेते हैं।

इस प्रकार रंगारंग कार्यक्रम के साथ गाँव की संस्कृति से जुड़ा त्योहार का रूप, पारंपरिक मड़ई उत्सव के रूप में संपन्न होता है। साथ ही आगामी वर्ष तक के लिए इसे पूर्णविराम दिया जाता है। इस लोकोत्सव मड़ई में हमारे छत्तीसगढ़ की संस्कृति की झलक मिलती है। हमें विश्वास है कि यह मड़ई उत्सव राष्ट्रीय एकता का संदेश देते हुए अपनी जीवंतता को बनाये रखेगा। ऐसा हमारा विश्वास है। हमें अपनी इस सांस्कृतिक धरोहर पर गर्व है।



## जशपुर की लोकसंस्कृति

उषा वैरागकर आठले

छत्तीसगढ़ प्रदेश अपनी विपुल वन-संपदा और आदिवासी बहुलता के कारण जाना जाता रहा है। सन् 2000 में पृथक प्रदेश की पहचान मिलने तक यह क्षेत्र भौतिक विकास की दृष्टि से काफी उपेक्षित रहा है। शायद इसलिए इस प्रदेश के सुदूर इलाके में लोकसंस्कृति के पारम्परिक तत्त्व बहुतायत से बिखरे हुए दिखाई देते हैं। हालांकि स्वतंत्र राज्य बनने के बाद परिदृश्य तेजी से बदला है। एक ओर वैश्वीकरण और निजीकरण के बढ़ते कदमों के कारण बाजारवाद ने सुदूर गाँवों में दस्तक दी है। वहीं दूसरी ओर स्वतंत्र राज्य में प्राकृतिक संसाधनों के दोहन की गति तेज होने के कारण अनेक छोटे-बड़े उद्योगों की स्थापना से निरंतर कटते वन और विस्थापित होते गाँवों से परिदृश्य बदलता जा रहा है।

आरम्भ से ही छत्तीसगढ़ में दो प्रकार की संस्कृतियाँ देखी जा सकती हैं। मैदानी क्षेत्रों की संस्कृति और पहाड़ी तथा वन-क्षेत्र की संस्कृति। मैदानी-संस्कृति के दर्शन रायपुर, बिलासपुर, दुर्ग, राजनाँदगाँव जिले में होते हैं तथा पहाड़ी एवं वन क्षेत्र की संस्कृति सरगुजा, जशपुर, रायगढ़-बस्तर जिलों में आज भी कमोवेश रूप में दिखाई देती है। इन दोनों संस्कृतियों में अनेक बातें समान हैं, परंतु अनेक बातों में काफी अंतर भी दिखाई देता है। मैदानी क्षेत्रों में शहरीकरण एवं भौतिक विकास की सभ्यता का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है, वहीं पहाड़ी एवं वन-क्षेत्र में आदिवासी एवं आदिम अवशेषों को धारण करने वाली संस्कृति का प्रभाव ज्यादा दिखाई देता है।

लोक का अर्थ है, ऐसा समाज जो मस्तिष्क एवं तर्क-बुद्धि से सोचने की बजाय हृदय, भावना एवं आस्था के साथ सोचता है, जो व्यक्तिगत की अपेक्षा सामुदायिक जीवन में रस लेता है। जो स्वार्थ और छीना-झपटी की अपेक्षा सर्वहित और बाँटकर जीने में विश्वास करता है। जो सिर्फ अपनी ओर नहीं, बल्कि पास-पड़ोस को भी देखता है और सबके साथ, सबको लेकर चलने का अभ्यस्त

होता है। जिस मानव-समूह के अंतःकरण में ये मूल्य होते हैं तथा जो अपने जीवन में भी इन्हीं जीवन-मूल्यों को जीते हैं। अनेक विद्वानों द्वारा दी गई लोक की परिभाषा का सार यही है। इसी लोक की जीवन-शैली ही लोक-संस्कृति कहलाती है।

इस लोक-संस्कृति का प्रतिबिम्ब हम जशपुर जैसे छत्तीसगढ़ के सीमावर्ती जिले में देख सकते हैं। छत्तीसगढ़ी संस्कृति की चर्चा में जशपुर जिले का जिक्र यदाकदा ही हुआ है, इसलिए पहले हम इस अपेक्षाकृत अपरिचित जिले का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करते हैं। छत्तीसगढ़ राज्य के उत्तरी पूर्व भाग में स्थित जशपुर सन् 1998 तक रायगढ़ जिले का हिस्सा था। यह वन-संसाधनों से भरपूर ऐसा जिला है, जहाँ की अधिकांश जनसंख्या अनुसूचित जनजाति की है। सन् 2001 की जनगणना के अनुसार कुल आबादी का 63.24 प्रतिशत अनुसूचित जनजाति का है। रेल की सीटी से दूर इस जिले में अब तक उद्योगों ने दस्तक नहीं दी है, इसलिए यहाँ के लोग अभी भी कृषि और वनों पर अधिक निर्भर हैं। यहाँ प्रमुख रूप से धान की फसल ली जाती है, पर उसके साथ-साथ दालें और तिलहन भी उगायी जाती है। समतल क्षेत्रों में आलू और मूँगफली होती है। पशुपालन भी बहुतायत से होता है। यहाँ अभी अंधविश्वास के कारण बीमारियों का इलाज ज्यादातर स्थानीय पारम्परिक चिकित्सा या झाड़-फूंक से किया जाता है।

जशपुर भौगोलिक दृष्टि से दो भागों में बँटा है-उत्तरी पर्वतीय भाग, ऊपरी घाट तथा दक्षिणी भाग, निचला घाट। ऊपरी घाट लोरोघाट, कस्तुरा, नारायणपुर से लेकर बगीचा तक फैला है, जो सरगुजा तक चला जाता है। इसकी सीमा पूर्व की ओर झारखंड के गुमला जिले से, पश्चिम में सरगुजा जिले से, दक्षिण में रायगढ़ एवं उड़ीसा के सुंदरगढ़ जिले से तथा उत्तर में सरगुजा और झारखंड के कुछ भागों को स्पर्श करती हैं। इस क्षेत्र में प्रकृति ने अपने दोनों हाथों से सौन्दर्य लुटाया है। अतः यहाँ के निवासी भी प्रकृति के इस वरदान को सम्हाले रखने में पूर्ण सहयोग देते हैं। उनके पूजा-पाठ, तीज-त्योहार, उत्सव -मेले, नृत्य-गीत सभी कुछ प्रकृति से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। जशपुर छत्तीसगढ़ और झारखंड की सीमा पर अवस्थित होने के कारण यहाँ छत्तीसगढ़ी संस्कृति और झारखण्ड की नागपुरी संस्कृति का सम्मिश्रण पाया जाता है। जशपुर जिले में विकसित, अल्पविकसित एवं अविकसित आदिवासी जातियों की बहुतायत होने के कारण इसमें विभिन्न

सांस्कृतिक स्तर दिखाई देते हैं। इनकी विविध रंगी संस्कृति जशपुर को एक अनूठे अंचल के रूप में रेखांकित करती है। इस आलेख में हम जशपुर जिले की लोकसंस्कृति के कुछ विशिष्ट पहलुओं पर ही प्रकाश डाल पायेंगे।

जशपुर में प्रमुख दो अविकसित जनजातियाँ हैं, जिनके विकास के लिए विशेष प्राधिकरण गठित किये गये हैं-पहाड़ी कोरवा और बिरहोर जनजाति। ये जनजातियाँ आज भी शिकार प्रिय हैं अनेक छोटे-मोटे जानवरों का शिकार इनकी दिनचर्या का अंग है। कोरवा जनजाति की दो शखाएँ हैं- डिहारी कोरवा और पहाड़ी कोरवा। मूलतः कोरवा जनजाति एकान्त प्रिय होती है। वह पहाड़ों पर दूर-दूर अपनी झोपड़ियाँ बनाकर रहते हैं। शिक्षा के प्रचार-प्रसार के कारण अब कोरवा कुछ शिक्षित हुए और पहाड़ों से नीचे उतरकर गाँवों की अन्य जातियों के लोगों तथा जशपुर और नगर के लोगों के सम्पर्क में आए तो वे उनके रहन-सहन से प्रभावित हुए और नीचे ही समतल में रहने लगे। बाद में सरकारी सर्वेक्षण में इन्हें डिहारी कोरवा का नाम दिया गया। शासकीय अभिलेखों में दोनों को अलग-अलग जनजाति बताया जाता है। परंतु ये दोनों एक ही हैं।

पहाड़ी कोरवा जनजाति में छूत-अछूत की धरणा बहुत गहरी है। जन्म के सम्बन्ध में पहाड़ी कोरवाओं की धारणा यह है कि शायद उनके पूर्वजों व ईश्वर दोनों की अनुकम्पा है, इसलिए दोनों की आराधना की जाती है। उनका यह भी मानना है कि उनके पूर्वज अपनी इच्छानुसार पुनर्जन्म ले सकते हैं। इसी तरह बालक या बालिका के लिए शिशु-प्रत्याशा के वक्त कोई विशेष वरीयता नहीं होती। गर्भावस्था की विकसित स्थिति में स्त्री अपने पति के साथ एक पृथक झोपड़ी कोआबा में रहने लगती है, जहाँ झोपड़ी की पिछली दीवार में एक छोटा खिड़कीनुमा दरवाजा बना दिया जाता है, जिसे खिरकी दूरा कहा जाता है। इसी दरवाजे का उपयोग जच्चा द्वारा किया जाता है। यह उपयोग छठवें दिन तक अनिवार्य रूप से किया जाता है।

जशपुर जिले की विशिष्टता को रेखांकित करने के लिए हम यहाँ मनाये जाने वाले सिर्फ तीन पर्वों की चर्चा करेंगे पहला पर्व है- करमा। हरेक आदिवासी बहुल क्षेत्र का यह सबसे लोकप्रिय पर्व होता है करमा। जशपुर जिले के करमा की दो विशेषताएँ हैं -जशपुर रियासत के राजपरिवार तथा उनके विभिन्न

स्थानों पर स्थापित भंडारों के नायक आज भी प्रभावशाली स्थान रखते हैं। अतः ग्राम जोकरी या ग्राम आरा जैसे स्थानों पर आज भी भंडार-व्यवस्था देखने को मिलती है अतः करमा या दशहरा जैसे पर्व उन भंडारों के परिसर में भंडार-नायकों की देखरेख एवं दिशा-निर्देशन में ही चलते हैं। ग्राम जोकरी में तीजा करमा हो, एकादशी करमा हो या जितिया करमा हो, वे सब वर्तमान भंडार-नायक के बड़े आँगन में ही सम्पन्न होते हैं। यह परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है। तीजा करमा में बैगा पीपल डाल गाड़कर पूजा करता है। विवाहित स्त्रियाँ मक्के के विकसित जवारे लेकर शाम 7-8 बजे तक पहुँचती हैं। पूजा के उपरान्त रात भर करमा नृत्य होता है, जिसमें समूचे गाँव की सभी जातियों की स्त्रियाँ सम्मिलित पूजा एवं नृत्य करती हैं। एकादशी करमा में कुँवारी लड़कियाँ उपवास करती हैं। यह व्रत अपने भाई के लिए बहनों द्वारा किया जाता है। भंडार में रात को करमा डार के इर्द-गिर्द बड़े पैमाने पर नृत्य-गान होता है। भंडार की ओर से ही पूजन-सामग्री, पूजा एवं प्रसाद की पूरी व्यवस्था की जाती है। स्त्री-पुरुष रात भर करमा नृत्य करते हैं। इसी तरह जितिया करमा के दिन भी भंडार में पूजा होती है। आँगन के बीच में पकरी, परसा, महुआ, सीधा, सालो, सियारो, बाँस, छिरोवन, बिरनीबन एवं पीपल की शाखाओं को गाड़ा जाता है। पेड़ों की तली में गड्ढा कर आठ जिंदा मछलियाँ भी रखी जाती हैं। उनकी पूजा होती है। ज्यादातर स्त्रियाँ और कुछ पुरुष भी इस दिन अपनी संतान की दीर्घायु एवं उज्वल जीवन की कामना में यह व्रत रखती हैं जितिया की पूर्व रात्रि में उपवास वाला आहार लेने के बाद इस दिन एकदम निराहार रहते हैं, दातौन तक नहीं किया जा सकता। रात्रि जागरण, नृत्य के पश्चात् सुबह विसर्जन के बाद ही जल-ग्रहण किया जा सकता है। सुबह सूर्योदय के पहले डाल उखाड़कर गाते और नृत्य करते हुए विसर्जन के लिए ले जाया जाता है। वहाँ दातौन कर प्रसाद पाकर स्त्रियाँ घर लौटती हैं।

जशपुर का दूसरा बहुत महत्त्वपूर्ण और लोकप्रिय पर्व है सरहुल। यह प्रमुख रूप से उराँव जनजाति का पर्व है परंतु सभी आदिवासी इसमें सम्मिलित होते हैं। इसे खद्दी भी कहा जाता है। इसका विश्वास है कि साल के वृक्षों के समूह में, जिन्हें स्थानीय बोली में सरना कहा जाता है, महादेव वास करते हैं। महादेव एवं देव-पितरों को प्रसन्न करने और सुख-शान्ति की कामना के लिए उराँव चैत पूर्णिमा के दिन उत्सव एवं नृत्य का आयोजन करते

हैं। सरहुल पूजा के अवसर पर साल वृक्षों के समूह सरना देव स्थल पर सरना की अधिष्ठात्री चाला आयो एवं अधिष्ठाता धरमेश बाबा की पूजा के साथ ही भगवान शंकर और माता पार्वती की पूजा की जाती है। जशपुर के करबला रोड स्थित दीपू बगीचा सरना स्थल-पूजन हेतु बैगाओं का सम्मेलन भी आयोजित किया जाता है। दीपू बगीचा में अब साल के वृक्ष ज्यादा नहीं बचे हैं। अतः यहाँ तीन साल की डालें लाकर गाड़ी जाती हैं, उन्हें आपस में बांध दिया जाता है। नीचे गोबर से लीपकर तीन पानी से भरे घड़े रखे जाते हैं, जो महादेव, पार्वती और चाला आयो के प्रतीक हैं। उन्हें कपड़े से ढंक दिया जाता है। इन्हें साल के फूलों से अभिमंत्रित किया जाता है। उपस्थित बैगा उन घड़ों की ओर साल डालों की पूजा करते हैं। पूजा में चावल की छनौआ रोटी, भीगा चना, साल के लासा की धुँअन, नारियल, चावल, सिंदूर, फूल आदि सामग्री होती हैं। इस पूजा में लोकसमाज के अनेक लोगों की सहायता होती है। जैसे तुरी जाति से सूपा, लोहार से चाकू, कुम्हार से मटका, चिक से सूत आदि। पूजा के बाद बैगा सबको साल के फूल देता है। सभी लोग इन फूलों को अपने घर के देवस्थान में साल भर के लिए रखते हैं। इनको घर में रखने से सुख-शांति और समृद्धि में वृद्धि होती है। किंवदन्ती है कि इसी दिन सृष्टि का निर्माण हुआ था और इसी दिन पहली बार चाँद-सूरज भी दिखे थे। सरहुल पर्व एक तरह से प्रकृति-पूजा का ही पर्व है। पूजा के पश्चात् सरहुल नृत्य आरम्भ होता है, जो शाम से आरम्भ होकर भोर तक चलता है। यह नृत्य और गीत अत्यंत उद्दाम आवेग से परिपूर्ण प्रभावोत्पादक होता है।

जशपुर औद्योगिक विकास एवं सुविधाओं की दृष्टि से पिछड़ा होने से यहाँ का जनजीवन धीमी रफतार वाला है। यहाँ नई तकनीकी तथा नई उपभोक्ता वस्तुओं का प्रभाव अपेक्षाकृत कम दिखाई देता है। इसके बावजूद अंग्रेजी शासन के दौरान प्रविष्ट हुई ईसाई मिशनरियों ने इस क्षेत्र के आदिवासियों के बीच शिक्षा और स्वास्थ्य सम्बन्धी विकास किया है। हालाँकि इसके साथ ही उन्होंने इन आदिवासियों को धर्मांतरण के लिए भी प्रेरित किया। वर्तमान में आदिवासी समुदाय, खासकर उराँव जनजाति के लोग तीन हिस्सों में बँट गये हैं- ईसाई उराँव, हिन्दू उराँव तथा उनके प्राचीन खद्दी धर्म को मानने वाले समूह। अतः इनकी लोक - संस्कृति की परम्परा में विचलन दिखाई देता है। सरहुल या

करमा जैसे पर्व भी ये तीनों हिस्से पृथक-पृथक मनाते हैं, जिसमें राजनीतिक महत्वाकांक्षा और प्रतिद्वंद्विता भी झलकती है।

## दशहरा

जशपुर में दशहरा मनाने की अपनी प्राचीन रियासत-कालीन परम्परा है। जशपुर नगर में एक बालाजी मंदिर है, जिसमें विष्णु के साथ राम की मुद्रा को भी समादरित किया गया है। इसीलिए दशहरे के दिन बालाजी की रथयात्रा निकलती है। दशमी के दिन पूजा कर लेने के उपरांत शाम 4 बजे बालाजी की रथयात्रा निकलती है। इसमें कुल पाँच रथ निकलते हैं। पहले रथ में युद्ध-नृत्य करने वाले शस्त्रधारी सैनिक, दूसरे रथ में राजपरिवार के सदस्य एवं उनके शस्त्रों को लेकर राजपुरोहित, तीसरे रथ में वाद्य यंत्र होते हैं, जिन्हें बजाते हुए रथयात्रा आगे बढ़ती है। चौथे रथ में बालाजी की प्रतिमा और पाँचवें रथ में वानरसेना के रूप में नागरिकगण बैठते हैं इस रथ के पीछे-पीछे नगर में स्थापित की गई सभी दुर्गा-प्रतिमाएँ भी शामिल होती जाती है। रणजीता डांड पहुँचने पर सभी नर्तक युद्ध-नृत्य प्रस्तुत करते हैं। रावण के पुतले के पीछे एक नकली लंका बनाई जाती है, जिसमें कुंभकर्ण, मेघनाथ, खरदूषण एवं इंद्रजीत की चार मूर्तियाँ बनी होती है। बालाजी के रथ में एक हनुमान बनकर व्यक्ति खड़ा होता है, वह नीचे उतरकर समूची लंका नगरी का दहन करता है और पटाखे और अन्य वस्तुएँ जलाई जाती हैं। इसके बाद इस स्थल से कुछ दूरी पर एक मंच पर राजपरिवार के सदस्य अपने अस्त्र-शस्त्रों एवं राजपुरोहितों के साथ अपराजिता पूजा करने बैठते हैं। पूजा की समाप्ति पर राजपरिवार तथा राम-लक्ष्मण-हनुमान बने व्यक्ति मैदान के मुख्य हिस्से में आते हैं, जहाँ रावण-दहन किया जाना है। राजपरिवार यहाँ से नीलकंठ छोड़ते हैं। तत्पश्चात् राम द्वारा अग्नि तीर चलाकर रावण के पुतले का दहन किया जाता है। दुर्गा-प्रतिमाएँ भी इस रावण-दहन की साक्षी होती हैं। इस पर्व को देखने और मेले का आनंद उठाने के लिए आसपास के गाँवों के भी हजारों लोग आते हैं। रावण-दहन के बाद बालाजी को वापस मंदिर ले जाया जाता है। वहाँ उनके पैर पखारकर उन्हें पूर्ववत् स्थानापन्न किया जाता है। आरती होती है, उसके बाद एकदूसरे को जई देकर सब एक-दूसरे से विदा लेते हैं। समस्त दुर्गा-प्रतिमाओं का विसर्जन किया जाता है। ग्राम आरा में जशपुर के राजपरिवार द्वारा स्थापित भंडार के नायक के घर पर भी

दशहरा परम्परागत तरीके से मनाया जाता है। यहाँ मिट्टी के रावण का पुतला बनाकर लंका बनाई जाती है और युद्ध करते हुए रावण को मार दिया जाता है। आरा नायक के घर में आसपास के 8-10 गाँवों के लोग आते हैं। सबके भोजन का इंतजाम किया जाता है। इसके साथ ही वर्तमान आरा नायक के बेटे द्वारा विशेष राजसी वस्त्रों में 'सलामी' ली जाती है। लोग अपनी-अपनी हैसियत के अनुसार सलामी प्रस्तुत करते हैं। युवराज सबको पान-सुपारी देता है। दरवाजे पर दो द्वारपाल तलवार लिए खड़े होते हैं सलामी के पश्चात् आसपास के गाँवों से आमंत्रित नृत्यदलों का सांस्कृतिक कार्यक्रम होता है। इसमें प्रमुखता झूमर नृत्य की होती है। यह नृत्य अनेक राग-रागिनियों के साथ किया जाता है। पहले नृत्य राजे-रजवाड़ों के बीच होता था, जिसमें एक पुरुष-स्त्री वेश में रहता था और अन्य नर्तक उसके इर्द-गिर्द झूम-झूमकर नाचते थे। बाद में इसमें बदलाव आए और अब पुरुष और स्त्रियाँ इसे अलग-अलग नाचती हैं। इसके जनानी झूमर, मरदानी झूमर प्रकार हैं और इसमें निर्गुनिया, उदासी आदि विषयों और राग के अनुसार नाम होते हैं।

इस तरह कहा जा सकता है कि जशपुर जिला छत्तीसगढ़ी लोक-संस्कृति का एक अंग होने के बावजूद इसकी अपनी क्षेत्रीय विशेषता है, जो झारखंड की नागपुरी संस्कृति से प्रभावित है। स्थानीय सादरी बोली छत्तीसगढ़ी की उपबोली मानी जाती है, परंतु इस पर छत्तीसगढ़ी के रूपों का प्रभाव कम दिखाई देता है। भाषाविज्ञानिकों द्वारा जशपुर की बोलियों का विशेष अध्ययन करने से कुछ नए तथ्यों के मिलने की सम्भावना है। जिस तरह आदिवासियों बहुल बस्तर और सरगुजा जिलों की लोक-संस्कृति अपने आपमें एक पृथक पहचान रखती है, उसी तरह जशपुर जिले की लोक-संस्कृति की भी अपनी अलग पहचान है। इसमें एक ओर अत्यंत पिछड़ी और अविकसित जनजातियों की आदिम परम्पराएँ विद्यमान हैं, तो दूसरी ओर जशपुर रियासत के राजपरिवार का गहरा प्रभाव है। एक ओर ईसाई मिशनरियों द्वारा बड़ी संख्या में किया गया धर्मांतरण है तो दूसरी ओर 'ऑपरेशन घर-वापसी' के अंतर्गत किया गया हिन्दूकरण। इस सांस्कृतिक वैविध्य के बीच जशपुर की लोक-संस्कृति अपनी मनोहर प्राकृतिक सम्पदा और लोक-कलाओं की समृद्ध विरासत के बीच एक विशिष्ट स्थान रखती है।

## छत्तीसगढ़ी लोक कलाएँ

डुमन लाल ध्रुव

लोक का अर्थ है लोक में रहने वाले प्राणी और दृश्यमान पदार्थ, विशेष रूप से सचेत प्राणी और जिन्हें हम 'लोग' कहते हैं। यह लोक-व्यवहार का नियंत्रक होता है। सबसे पहले भाषा व्यवहार को ही लें। पतंजलि ने कहा कि लोक विशेष अर्थ में किसी शब्द या वाक्य का प्रयोग करता है, व्याकरण अर्थ नहीं देता वह केवल शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का नियंत्रण करता है। वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने यह सिद्धांत दिया कि-

*धर्मस्यानवच्छिन्ना पन्थानो ये व्यवस्थिताः।*

*न तान लोक प्रसिद्धत्वात् कश्चित् तर्केणबाधते।।*

व्यवहार मात्र जितने भी पंथ व्यवस्थित हैं, और लोक में मान्यता प्राप्त हैं, वे स्वीकार्य हैं, वहाँ तर्क के आधार पर खंडन नहीं किया जा सकता। यह श्लोक परम्परा की सटीक परिभाषा है, परम्परा की निरंतरता है, व्यवस्था है और लोक-स्वीकृति है। इसका अर्थ यह नहीं कि इसमें परिवर्तन नहीं होता। इसका अर्थ प्रत्युत यह है कि व्यवस्था दूसरी व्यवस्था से विस्थापित होकर नई व्यवस्था बनाती रहती है। निरंतरता का अर्थ है कि पहले के अर्थ नए-नए अर्थों में समान तथा उसे और पूर्ण बनाते जाते हैं। लोक-स्वीकृति का अर्थ है लोक के दैनंदिन व्यवहार में आकर वे जीवित होते रहते हैं।

लेकिन दुनिया में कहीं ठौर नहीं, चैन नहीं। यही कारण है कि लोक में दुःख का शमन करने वाली जिज्ञासा है, दूसरे के दुःख को वरण करने वाली करुणा है। छोटे-छोटे लोक सुख का आभास देने के लिए आते हैं, चले जाते हैं। 'चरक संहिता' में पुरुष को लोक सम्मित कहा गया है- अर्थात् पुरुष लोक के बराबर होने पर ही प्रमाण पुरुष है। इसका अर्थ यह है कि जितने भाव लोक में होते हैं। उतने पुरुष में होते हैं।

लोक एक ओर क्रिया का आश्रय होने के कारण स्थित है, तो दूसरी ओर साक्षात् क्रिया है। लोक में प्रचलित मान्यताओं के बारे में प्रश्न करने वाले, अपने भीतर से उत्तर पाने वाले संत इस लोक व्यापार को नया मोड़ देते हैं, जहाँ स्थिति कुछ जड़ता की ओर जा रही हो, वहाँ उसे नई गति देते हैं। इस प्रकार इस चिंतनधारा में लोक-शास्त्र एक दूसरे के पूरक बने रहते हैं।

साथ ही इसी लोक में रहते हुए जो लोग लोक के हित के लिए लोक से बाहर अपने को करके दूरगामी दृष्टि से कुछ सोचते हैं और उसे अपने जीवन में उतारते हैं। वे लोकोत्तर हो जाते हैं, वे अलौकिक हो जाते हैं। यह लोक का विरोध नहीं, लोक में अंतर्निहित अपना ही अतिक्रमण करने वाला प्रबल संकल्प का भाव है। आदमी सोचता है, मैं तो लोकहित के लिए जी रहा हूँ। यह सोचते-सोचते वह अपने भीतर भयावह अहंकार को स्थान देता है। इस अहंकार से मुक्ति के लिए लोक की प्रतिष्ठा से ऊपर उठना आवश्यक होता है। इसलिए ही परमहंसों को लोक-बाह्य होना पड़ा है। वे जो कुछ करते हैं, लोक के लिए करते हैं, पर सोचते यही रहते हैं कि हम तो कुछ कर ही नहीं रहे हैं, हम ही नहीं। हमारे भीतर सबके लिए हो रहा होगा, हम कहीं भी नहीं हैं। लोक की सत्ता के भाव में रूपांतर है। भारतीय चिंतनधारा सत्ता को भाव की बोर ले जाने वाली धारा है।

छत्तीसगढ़ में लोकनाटकों की प्रतीकात्मक रंगमंचीय-शैली आधुनिक-नाटक की प्राण बन गई है। एक ही पात्र द्वारा एक ही जगह एक ही प्रसंग में अनेक भूमिकाएँ अदा करने की प्रक्रिया विशुद्ध रूप से लोकनाट्यों से आई है। इस प्रक्रिया ने भी प्रदर्शनकारी लोककलाओं के राष्ट्रीय स्वरूप को विकसित करने में मदद की है। यह प्रक्रिया गीतों में, नृत्यों में तथा लोककला की हर विधा में प्रविष्ट हो रही है। इसे हमें विशाल हृदय से अत्यंत उदारतापूर्वक स्वीकार करना चाहिए।

जय महामायी महोबा के मोर  
अखरा के गुरु बैतालें तोर  
चौसठ जोगनी पुरखा के मोर  
बईहा में रहू सहाय ये मोर  
जा दिन बोले मोर चंदैनी  
मोर बरी गना ये ओ

छत्तीसगढ़ की धरती की मातृ रूप में वंदना, कल्पना, जनता जनार्दन के प्रति श्रद्धा, विजय भाव और छत्तीसगढ़ के नदी-नाले, गिरी-शिखरों वनराशि के दर्शन से युक्त श्रद्धा सुरभित उभरती की समस्त आकृति। डॉ. नरेन्द्र देव वर्मा के इस लोकप्रिय गीत से जन-जन जुड़े, लेकिन यह गीत अपने प्रकृति परिवेश के कारण ही प्राणवान बनी हुए है-

जय हो छत्तीसगढ़ मईया,  
अपर पैरी के धार महानदी हे अपार  
इंदिरावती हो पखारय तोर पईया  
महू पांये पखारत तोर भुंइयां..... जय हो....

छत्तीसगढ़ी का हर कलाकार व्यवस्था से उपेक्षित है, मगर जब यह जाग उठता है, चींटी जैसे क्षुद्र जीव की मदद से प्रयत्नरत हो सही जगह चोट करता है तो सारी की सारी व्यवस्था चरमरा उठती है- यह परम्परा के सतत् अक्षुण्णता का वाहक है यानी लोक-जीवन का मंच। रंग-बिरंगे परदों और प्रकाश से जगमगाता मंच नहीं। लोककलाएँ सृष्टि में व्याप्त उल्लास भाव का सर्जनात्मक विलास है।

पद्मश्री हबीब तनवीर द्वारा निर्देशित नाटक चरणदास चोर के पात्र बेलाग होकर गा उठते हैं- एक चोर ने रंग जमाया जी सच बोल के

छत्तीसगढ़ में मेला-मड़ई के अवसर पर नाचा कार्यक्रम आयोजित होता है, तब नाचा के परी द्वारा

हामन नारी आवन वो दाई।  
जग के महतारी आवन वो।  
नाव ला जगाके सती सीता सही।

गीत प्रस्तुत कर दर्शक दीर्घा को भाव-विभोर कर देते हैं। नारी की व्यथा-कथा, चिट्ठी-पत्री और संदेश की बात तो वही अंचल का कागज, काजल की मसि से कितने ऐसे गीत फूट पड़े, जिनसे मन भर-भर आये, आँखें भीग गई। कहा जा सकता है कि ऐसे तो लोकाभिप्राय सार्वभौमिक है, जिसमें नारी की करुणा, न्याय भावना और जीवन की अस्मिता रक्षित है।

वर्तमान में ग्रामीण और शहरी लोक का फर्क दिनों-दिन

कम होता जा रहा है। रोजी-रोटी के थपेड़ों से निष्कासित ग्रामीण कलाएँ शहरों में पनाह लेने को मजबूर हुई हैं। कई बार तो कोई प्राचीन कला रूप गाँवों में नहीं मिलता, पर नगरों में मिल जाता है। सांस्कृतिक शून्य में शहरी लोक की ये आवश्यकताएँ भी हैं। आज नहीं तो कल मास-मीडिया लोकलाओं का माध्यम होगा। जब आरती भी टेप बजाकर कर ली जाती है तो लोक-संस्कृति के विराट क्षेत्र में ही मास-मीडिया की उपेक्षा कैसे संभव है? उपेक्षा न तो वांछनीय है न शुभ ही, पर प्रयोग उपयोग का रूप विचारणीय है, उससे आगे करणीय। सच्चाई तो यह है कि लोककलाएँ इन आश्रय साधनों में खंडित दृष्टि की दुहरी मार का शिकार ज्यादा हुई सृजनात्मक चिकित्सा यहाँ अल्पांश में ही रही। शास्त्रीय और अविभाज्य कहलाती नागरी कलाओं की तुलना में सौतेले व्यवहार ने उन्हें प्राणवायु नहीं दी।

मुश्किल यह है कि हमारी लोककलाएँ क्या विदेशी क्या ग्रामीण और शहरी, चारों ओर से तरह-तरह के कफन खसोंटों से घिर गई। जिसे जो रूचता है, मतलब का लगता है, जहाँ जितना खप सकता है, उतना हिस्सा काट लेता है- बाकी छोड़ देता है।

लोककलाओं ने अतीत में भी मंच बदला है, रूप बदले हैं। मगर अतीत में मंच परिवर्तन की स्वतः स्फूर्त सहज और

समग्र विकास प्रक्रिया, विज्ञान और तकनीक के इस दौर में बुरी तरह लड़खड़ा गई है। जीवन में- प्रचार में लोककलाओं की राष्ट्रीय तो क्या तत्कालिक भूमिका जोर पकड़ गई है, जो मंच की परवाह नहीं करती, रहे या जाये। यदि राष्ट्रव्यापी स्तर पर लोकलाओं की उपयोगी भूमिका है, तो हमें खुश होकर तालियाँ बजानी चाहिए फिल्म से लेकर इल्म तक और दूतावासों से लेकर चौपाल तक हममें से हर एक देख रहा है कि हमारी लोककलाएँ यह भूमिका बखूबी निभा रही हैं। लेकिन मैं कहूँगा कि वे केवल भूमिकाएँ निभा रही हैं। हमारे लोक-जीवन की ये सारी स्थितियाँ तो वे जी ही नहीं रहीं, उनकी अपनी निजी जिंदगी भी धीरे-धीरे खत्म हो अंतिम सांसें गिन रही है।

अक्सर यह तर्क दिया जाता है कि राष्ट्रीय प्रतिमान पर छत्तीसगढ़ की लोककलाओं का हु-ब-हू कैसे रखा जा सकता है? परिवर्तन तो उन्हें बचाने के लिए करने ही होंगे, रूप तो बदलेगा ही। निरे ग्रामीण से शहरी तो होना होगा। तर्क संगत है और खरा भी। लोक तो स्वयं परिवर्तन का सबसे बड़ा हामी हैं। वह खुद ही अपनी कलाओं की कैंचुल उतारता रहता है। मगर परिष्कार के नाप पर मनमानी ले आना, छत्तीसगढ़ी कलाओं का संवर्धन नहीं ह्रास करेगा, जनरुचि, उसका समर्थन और सहयोग खोयेगा।

## ददरिया गीतों में नायिका

मालती सिंह क्षत्रिय

ददरिया छत्तीसगढ़ अंचल का लोकप्रिय गीत है। इसे छत्तीसगढ़ में लोकप्रियता के कारण लोकगीतों की रानी कहा जाता है। ददरिया दादर शब्द से बना है। 'दादर' अर्थात् 'ऊँचा स्थान'। ऊँचे स्थान जंगल-पहाड़ में गाये जाने के कारण इसका नाम ददरिया पड़ गया। पारम्परिक रूप से ददरिया फसलों की निंदाई-कटाई करते तथा जंगल-पहाड़ में संलग्न लोगों द्वारा गाया जाता है। ददरिया विशुद्ध रूप से श्रृंगार गीत है। रसरज श्रृंगार के सभी पक्षों का इस लोकगीत में चित्रण मिलता है। इस संबंध में डॉ. दयाशंकर शुक्लजी लिखते हैं- 'यह छत्तीसगढ़ का प्रमुख प्रणय गीत है, इसमें सजीवता, रसात्मकता तथा साहित्यिक कल्पना का अद्भुत सामंजस्य मिलता है। श्रृंगारपरक गीत होने के कारण ददरिया में हमें नायक-नायिका के प्रेम तथा नायिका की विभिन्न अवस्थाओं का चित्रण मिलता है।

चूँकि, मैं ददरिया में नायिका भेद की बात कर रही हूँ, इसलिए नायिका व उसके भेदों का परिचय देना आवश्यक है। रूप-यौवन से सम्पन्न वह स्त्री जो श्रृंगार रस का अवलंबन करती हो या किसी काव्य नाटकादि में जिसका चरित्र मुख्य रूप से दिखाया गया हो, वह नायिका कहलाती है। साहित्य में नायिकाओं के निम्नलिखित लक्षण माने गये हैं- 'रूप, यौवन, गुण, शील, प्रेम, कुल, भूषण, मातृत्व, कृतज्ञता, पाण्डित्य, उत्साह, तेज और चातुर्य आदि।'

नारी न केवल श्रृंगार रस का ही अवलंबन करती है, शक्ति और प्रेम का भी प्रतीक है। यह समस्त ललित कलाओं की चक्र की धुरी है, इसीलिए नायिका के पद को सुशोभित करती है। इस संबंध में राजरानी शर्मा कहती हैं कि- 'सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त प्रेम, त्याग, ममता और सहनशीलता जैसे उत्कृष्ट मानवीय गुण नारी में ही अधिक दृष्टिगोचर होते हैं या यूँ भी कह सकते हैं कि नारी सम्पूर्ण कोमल मानवीय भावनाओं का कोष है।' भरतमुनि कृत नाट्यशास्त्र में नायिका निरूपण का विस्तृत वर्णन हुआ है, तथा उनके अवस्था, व्यवहार,



नायक के प्रति प्रेम, प्रकृति, यौवन इत्यादि के आधार पर इनके भिन्न-भिन्न भेद बताये हैं। भरतमुनि ने अवस्थाओं के अनुसार आठ भेद बताये हैं, जिन्हें अष्टनायिका कहा जाता है-

तत्र वासकसज्जा च विरहोत्कण्ठितापि वा ।  
स्वाधीनभर्तृका वापि कलहान्तरितापि वा ॥ 211 ॥  
खण्डिता विप्रलब्धा वा तथा प्रोषितभर्तृका ।  
तथा भिसारिका चैव ज्ञेयास्त्वष्टौ त नायिकाः ॥ 212 ॥

वासकसज्जा, उत्कण्ठिता, स्वाधीनपतिका, कलहन्तरिता, खण्डिता, विप्रलब्धा, प्रोषितपतिका तथा अभिसारिका नामक आठ नायिकाएँ हैं। इन अष्टनायिकाओं की उपस्थिति ददरिया गीतों में मिलती है, जो सोदाहरण प्रस्तुत हैं-

**वासकसज्जा नायिका** - वह नायिका जो नायक की प्रतिक्षा में श्रृंगार करके बैठी हो। प्रस्तुत पंक्ति में नायिका अपने प्रियतम के लिए श्रृंगार कर बैठी है-

सेर भर चांऊर सेमलिया बजार ।  
तोला आही कहिके जोंड़ी करे हवं सिंगार ।

**उत्कण्ठिता नायिका** - जिस नायिका का नायक किसी कारणवश निश्चित समय तक संकेत स्थल पर नहीं आता, जिससे नायिका प्रियतम के न मिलने पर दुःखी हो जाती है, वह विरहोत्कण्ठिता या उत्कण्ठिका नायिका कहलाती है।

नवा रे मंदिर कलस नइये ।  
चार दिन के अवइया दरस नइये ।

**स्वाधीनपतिका नायिका** - जिस नायिका का प्रियतम उसके रूपयौवनादि गुणों से वशीभूत होकर उसके वश में रहता है तथा नायिका का श्रृंगारादि अपने हाथों से करता है, वह नायिका स्वाधीनपतिका कहलाती है-

तावा के रोटी सेंकत रहितेंव ।  
तेला आगु म बइठार के देखत रहितेंव ।  
× × ×  
चना रे भाजी टोरे ल देदे ।  
कनिहा ले तोर चुंदी कोरे ल देदे ।

प्रस्तुत ददरिया के प्रथम पंक्ति में नायक-नायिका के प्रेम में इतना भाव-विभोर हो गया है कि नायिका से कहता है कि हमेशा मैं तुझे सामने बैठकर बस देखता ही रहूँ तथा दूसरी पंक्ति में नायिका के बाल कमर तक लम्बे हैं, जिसे नायक बनाने की बात करता है, भाव दृष्टव्य है।

**कलहन्तरिता नायिका** - जिस नायिका का प्रियतम ईर्ष्या या कलह के कारण नायिका के पास न आता हो तथा नायिका, नायक का अपमान करके पछताती हो, तो वह नायिका कलहन्तरिता नायिका कहलाती है-

कांटा रे कांटा बियारा खातिर ।  
सुध आगे सरीर म बिहाता खातिर ।  
बसी ल खाये ऊँघासी लागे ।  
किया दुख ल बतावंव रोवासी लागे ।

उक्त पंक्ति में नायिका अपने पति से अलग होकर बाद में अपने व्याहता पति को याद कर रही है तथा दूसरी पंक्ति में प्रियतम से लड़ के रो रही है, भाव दृष्टव्य है।

**खण्डिता नायिका** - जिस नायिका का नायक रात में किसी अन्य स्त्री के पास से रति चिन्ह लेकर सुबह अपनी नायिका के पास लौटता है, जिससे नायिका कुपित हो जाती है।

धाने ल लए बांधे ल भारा ।  
तैं रतिहा बिताए सऊत पारा ।

प्रस्तुत ददरिया में नायक के द्वारा किसी अन्य स्त्री के साथ रात बिताये जाने का संकेत मिल रहा है।

**विप्रलब्धा नायिका** - वह नायिका जो प्रियतम को संकेत स्थल पर न पाकर दुःखी हो जाती है, विप्रलब्धा नायिका कहलाती है-

गहूँ के रोटी खरोई डारे ।  
आहूँ कहिके तैं राजा दगा म डारे ।

उक्त पंक्ति में नायक-नायिका से आने का वादा करके संकेत स्थल पर नहीं आता, उसे धोखे में रखता है, भाव प्रदर्शित है।

**प्रोषितपतिका नायिका** – वह नायिका जो अपने प्रियतम के परदेश जाने पर दुःखी हो, प्रोषितपतिका कहलाती है-

मुड़े ल कोरे तड़क गये केंस ।  
मोर मन के मिलौना चल देहे परदेश ।  
नानमून चुरकी धरंव कइसे ।  
दूर देस म हे राजा देखंव कइसे ।

ददरिया की इन पंक्तियों द्वारा नायिका कहती है कि मेरे मन को भाने वाले मेरे प्रियतम परदेश चले गये हैं, वह इतना दूर है कि मैं उसे देखूँ कैसे ।

**अभिसारिका नायिका** – वह नायिका जो लोक-लाज की

परवाह किये बिना अपने प्रियतम से मिलने जाती है, वह नायिका अभिसारिका नायिका कहलाती है-

नवा रे तरिया अगम दहरा ।  
तैंहा झपकुन आबे लग जाही पहरा ।  
येतनी ले लारी ओती ले आवय कार ।  
रतिहा ल होवन दे आ जाहूँ तरिया पार ।

उक्त पंक्ति में नायक-नायिका को जल्दी आने को कहता है, नहीं तो पहरा लग जायेगा, जिस पर नायिका कहती है थोड़ा रात हो जाने दो, फिर आऊँगी ।

इस प्रकार ददरिया गीत में नायिका निरूपण स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। शास्त्रों में ही नहीं लोक में भी नायिका वर्णन मिलता है, जिसका स्पष्ट उदाहरण है ददरिया ।

## मालवी संस्कृति में जवारे

संजय आटेड़िया

लोक संस्कृति, किसी भी समाज में प्रचलित व्यक्ति के जीवन मूल्यों की नींव होती है। साथ ही लोक संस्कृति मनुष्य के जीवन मूल्यों को अक्षुण्ण बनाए रखने में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। लोक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के कारण मालवा की पहचान राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर है। 'जवारे' एक ऐसी ही परम्परा की पोषक है, जो मालवा के लोक-जीवन एवं परिवेश को एकसूत्र में बांधने का कार्य करती है। 'जवारे' सामाजिक, सांस्कृतिक एवं प्राकृतिक उपादानों को लेकर नवरात्रि पर्व एवं शुभ अवसर पर बोये जाते हैं, जो लोक-परम्परा का एक हिस्सा है। ये मालवा संस्कृति में लोक-जीवन की आस्था, विश्वास और लोकप्रियता की सार्थकता एवं मानवीय आचरण की प्रासंगिता को इंगित करते हैं। दरअसल 'जवारे' शुभ कार्यों एवं मनोकामना सिद्धि को लेकर रोपे जाते हैं। शादी-ब्याह हो, मन्नत हो, गृह-प्रवेश हो या व्यावसायिक प्रतिष्ठान का शुभारम्भ हो; प्रत्येक जगह इसकी उपयोगिता एवं महत्त्व है। इससे 'जवारों' का धार्मिक महत्त्व और भी बढ़ जाता है।

'जवारे' रोपने की प्रक्रिया भी विधि-विधान एवं शुभ-मुहूर्त में की जाती है। आश्विन मास के शुक्ल पक्ष के प्रथम दिवस से शारदीय नवरात्रि प्रारंभ होती है, जो कि नवमी पर महापूजा और विजयादशमी पर सामूहिक पूजन के साथ सम्पन्न होती है। नवरात्रि के प्रथम दिवस के ब्रह्म मुहूर्त में देवी प्रतिष्ठा (घट स्थापना) के पूर्व जौ या गेहूँ के बीजों को मिट्टी के बड़े दीये में रोपे जाते हैं। इसके अंतर्गत बड़े दीपों में तीन से चार परतों में जौ या गेहूँ के साथ पंचामृत, गाय का गोबर, काली मिट्टी और शुद्ध जल को आपस में मिलाकर मंत्रोच्चार के साथ इन्हें रोपा जाता है, इस पर हल्का-हल्का जल छिड़का जाता है। इनकी संख्या दो-पाँच और सात होती है। यह

प्रक्रिया शुभ कार्यों के दो से तीन दिन पूर्व की जाती है ताकि बोये गये नवांकुर निकल सके। ये अंकुरित पौधे ही नौरतें कहलाते हैं, जो कि नवरात्रि के प्रतीक हैं। यही कारण है कि नवरात्रि को मालवा में नौरतें कहा जाता है। पूर्ण अंकुरित नौरतें देवी प्रसन्नता का सूचक माना जाता है। महिलाएँ पारम्परिक गीतों के साथ जवारों को मंदिर अथवा पवित्र स्थान पर प्रतिष्ठित करती हैं। यह एक सामूहिक प्रक्रिया है। आमतौर पर नौ दिनों तक घट स्थापना के साथ इनकी पूजा-अर्चना की जाती है। इस अवसर पर जप एवं नैवेद्य पूजन होता है। जप एवं नैवेद्य पूजन सात्विक, बलि एवं नैवेद्य पूजन राजसी तथा सुरा, माँस पूजन तामसी कहलाता है। मालवा के आदिवासी समुदाय 'जवारे' की प्रक्रिया, उद्देश्य एवं उसके महत्त्व को आध्यात्मिक मान्यताओं में भी देखते हैं।

मालवी लोक संस्कृति में जवारे की परंपरा के साथ ही कुछ अन्य रीति-रिवाज, परंपराओं, लोकाचार आदि का परिपालन भी देखने को मिलता है। मालवा के आदिवासी समुदाय तापसी पूजा को महत्त्व देते हैं। इस अवसर पर पशु बलि देकर उसके रक्त एवं मदिरा का प्याला कुल देवी-देवता को अर्पण किया जाता है। आधुनिक परिप्रेक्ष्य में समाज में सम्मान की भावना के फलस्वरूप बलि-प्रथा कमोवेश कम हो गई है। कालिका पुराण में कुष्मांडा बलि, ईख, मधु, गुड़ या पुष्पों से प्राप्त आसव अर्पित करने की व्यवस्था बताई गई है।

विजया दशमी पर 'जवारे' का विसर्जन किया जाता है। इसे मालवा में 'वाड़ी' उठना भी कहा जाता है। मान्यतानुसार इस प्रक्रिया में घट स्थापना सहित पूजन की अन्य सामग्री भी शामिल होती है। इस अवसर पर पंडों को कुलदेवी एवं भैरव बाबा की सवारी आती है। वाड़ी स्थल से कुलदेवी एवं भैरव बाबा दायें हाथ में अस्त्र के रूप में तलवार एवं बायें हाथ में खप्पर (मटकी को काटकर उसके आधे हिस्से में समिधायुक्त प्रज्वलित अग्नि) को लेकर वाद्य-यंत्रों एवं ढोल-ढमाकों के साथ विसर्जन हेतु चल यात्रा निकाली जाती है। यात्रा के समय मार्ग में मन्तधारी लोग कतार लगाकर जमीन पर बैठते हैं, इसी समय पंडों द्वारा आशीर्वाद दिया जाता है। आदिवासी समुदाय के लोग इस दिन सुखी-जीवन की कामना हेतु नए वस्त्र धारण करते हैं। महिलाएँ पारंपरिक गीतों एवं उपवास के द्वारा कुल-देवी को पूज्य भाव से मनाती हैं। नौरतों

या जवारों को देवी का प्रसाद मानकर लोगों द्वारा इनको अपने सिर पर धारण कर अन्य पूजन-सामग्री के साथ सुविधानुसार विभिन्न मार्गों से होते हुए किसी नदी या तालाब के पवित्र जल में विसर्जित कर दिया जाता है। मान्यतानुसार नदी अथवा तालाब का जल घुटनों अथवा नाभि के ऊपर प्रवाहित होना आवश्यक है। तभी विसर्जन किया जाना उचित माना गया है। 'जवारे' विसर्जन के लिए श्रवण नक्षत्र दशमी को श्रेष्ठ मुहूर्त माना गया है। इस अवसर पर पंडों द्वारा लोगों को आशीर्वाद दिया जाता है। 'वाड़ी' अथवा 'जवारे' विसर्जन के पश्चात् कहीं-कहीं भोज आदि का आयोजन किया जाता है।

दस दिनों तक चलने वाले इस उत्सव को आदिवासी समुदाय अपने नजरिए से मनाते हैं। ढोल-ढमाकों के साथ महिलाएँ परम्परागत गीत गाती हैं। सुबह-शाम आरती एवं रात को भजनों, नाटकों, लोकगीतों, लोक नृत्यों का कला आयोजन संस्कृति को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए किया जाता है। दस दिवसीय इस कार्यक्रम में देवी-देवताओं की आराधना द्वारा अपनी सांस्कृतिक पहचान, एकता, भाईचारे और अपने अस्तित्व व अस्मिता की रक्षा के लिए पारंपरिक शैली को अपनाते हैं। कार्यक्रम पर होने वाला खर्च भी वे लोग प्रबंधन समिति बनाकर या मिल-जुलकर सम्पन्न करते हैं।

मालवा के ग्रामीण लोक-जीवन में 'जवारे' पूजन को लेकर अनेक मान्यताएँ हैं-

पौराणिक मान्यताओं के अनुसार असाध्य बिमारियों के प्रकोप से बचाव होता है।

भूत-पिशाच से रक्षा एवं किसी प्रकार की हानि नहीं होती है।

परिवार की आने वाली पीढ़ी तक निरोगी रहने की आस होती है।

मोक्ष व स्वर्ग प्राप्ति की कामनापूर्ण होती है।

पुत्र प्राप्ति की मन्त पूरी होती है।

सुख-शांति एवं समृद्धि की आस बंधती है।

भरपूर वर्षा की मनोकामना पूर्ण होती है।

आर्थिक स्थिति में सुधार एवं शिक्षा-रोजगार में उन्नति होती है।  
पारिवारिक शांति एवं शुभफल की प्राप्ति होती है।  
पूर्वजों को आत्मशांति मिलती है।  
प्राकृतिक एवं दैवीय प्रकोपों से रक्षा होती है।  
पालतू जीव-जन्तुओं एवं अन्य प्राणियों के निरोगी की आस होती है।  
परिवार में प्यार, स्नेह एवं भाईचारे की भावना विकसित होती है।  
गाँव व देश की प्रगति होती है।  
धर्म की जय एवं अधर्म का नाश होता है।  
महिलाओं में संतानोत्पत्ति एवं पुत्र की रक्षा एवं उनके दीर्घायु जीवन की कामनाएँ होती हैं।

अन्न के उगे छोटे-छोटे पौधे 'जवारे' के रूप में प्राकृतिक छटा लिए होते हैं। इन पर टिकी जल की बूंदें मोतियों के समान अपनी छटा बिखेरती-सी प्रतीत होती है, जो शुभ फलदायक है। सीधे खड़े अंकुरित पौधे ऐसे प्रतीत होते हैं मानो लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अडिग हैं।

सही अर्थों में 'जवारे' सुख-शांति और समृद्धि के प्रतीक हैं। साथ ही ये सामाजिक और सांस्कृतिक एकता का भी संदेश प्रेषित करते हैं। 'जवारे' अनेकता में एकता की भावना को विकसित करने का संकेत भी देते हैं और इससे भी अधिक प्रासंगिक है 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना को लोगों के मन में जागृत करने का। 'जवारे' हमारी देव-संस्कृति को अक्षुण्ण बनाए रखने के प्रतीक भी हैं, क्योंकि अन्न हमारी संस्कृति में देवता तुल्य माना जाता है; जो कि हमारे जीवन का आधार है।

## लोक संस्कृति और जन-जीवन

डॉ. राजेश लाल मेहरा

किसी भी देश में उसकी लोक संस्कृति का बहुविध महत्त्व है। लोक संस्कृति के माध्यम से ही देश की मूल धारा, विचार, भाव, सत्त्व और सांस्कृतिक परंपराओं को पहचाना जा सकता है। ये एक ऐसी सनातन धारा है, जिसका महत्त्व किसी भी काल में कम नहीं होता। देश, जाति व समाज के विभिन्न परिवर्तनों के बीच भी लोक संस्कृति के तत्त्व सुरक्षित होते हैं, भले ही बाहरी या ऊपरी तौर पर परिवर्तन दिखाई दें परन्तु लोक ने सदियों से जिन संस्कारों व परंपराओं को स्वीकृति प्रदान की, वह लोक-जीवन व लोक-संस्कृति में सदैव अक्षुण्ण बनी रहती है। लोक-संस्कृति से ही हम अपनी जड़ों से जुड़े रहते हैं।

लोक-संस्कृति का अध्ययन ही किसी जाति या राष्ट्र की सांस्कृतिक प्रकृतियों से परिचित कराता है। लोक-साहित्य, लोक-जीवन या लोक-संस्कृति की अभिव्यक्ति का सहज-अनगढ़ और अकृत्रिम माध्यम है जो न जाने कब से परम्परा, संस्कार और लोकाचारों द्वारा लोक में रचा-बसा है। चूंकि विविध अर्थों व संदर्भों में लोक की परिधि असीम व अनंत है। इस कारण यह पोथियों में समेटा भले न गया हो, परन्तु लोगों के हृदय, व्यवहार और आचरण में वैसा का वैसा आज भी जीवंत है, जैसा शायद हजारों साल पहले रहा होगा। व्यक्ति के जन्म से पूर्व और मरण के बाद तक या यूं कहें कि पालने से अर्थी तक विभिन्न लोकाचारों का निर्वहन इसके माध्यम से होता आया है। मनुष्य के सुख-दुःख, हँसना-रोना, आशा-निराशा, हर्ष-शोक, खुशी-उत्साह आदि सभी भावों को प्रकट करने का सामर्थ्य इसमें विद्यमान रहा है। संक्षेप में कहें तो इसने मनुष्य को जीवन-यापन के उचित तरीके बताकर 'समझदार' बनाया है। यह समझदारी किसी पद, सत्ता या डिग्री की मोहताज नहीं होती, तभी कई बार इस साहित्य को पिछड़ों का साहित्य कहने की भयंकर भूल की जाती है, जो भारतीय चिंतन की दृष्टि से सर्वथा अनुपयुक्त है। लोक न प्राचीनता का बोधक है न पिछड़ेपन का, न किसी सीमित अलग-थलग समुदाय का, वह तो हममें समाविष्ट है हम उसमें। व्यष्टि से समष्टि का गहरा जुड़ाव इस देश की विशिष्टता है।

लोक साहित्य युग-युग का साहित्य है। वह चिर पुरातन भी है, चिर नवीन भी है। वाचिक परम्परा के प्रवाह में पीढ़ी-दर-पीढ़ी वह नित्य नवीन रस प्राप्त करता है। उसकी सुदीर्घ जीवंतता का रहस्य यही है। वाचिक परम्परा के प्रवाह में लोक-संस्कृति का रूप निरंतर सम्यक् कृति के रूप में परिष्कृत होता रहा और वह परिष्कार कर सकने लायक भी बनती रही, तभी संस्कृति कहलाई। भारतीय ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो इस सनातन संस्कृति ने ही इस देश की पहचान बनाए रखी। उच्चादर्शों और जीवन मूल्यों से सुसज्जित कर उसकी गरिमा बढ़ायी, अपने मान बिंदुओं के प्रति श्रद्धा व गौरव भाव कायम रखा और सबसे बड़ी बात अनेक विविधताओं के बावजूद संपूर्ण राष्ट्र को एकात्मता के अमर सूत्र में बांधकर रखा।

लोक-संस्कृति पग-पग पर दिखाई देती है। धरती के प्रति मातृभाव, जड़ हो या चेतन सबके प्रति संवेदनशीलता, जीवन की परार्थता में ही सार्थकता का अनुभव करना हमारी संस्कृति की ये विशेषताएँ लोक-साहित्य के माध्यम से प्रकट होती रही हैं। अपने अहं का सृजन न कर उसका विसर्जन अपने इष्ट या समाज में कर देना, यह साधना का भी आदर्श है और निर्वैयक्तिक लोक-साहित्य की भी सर्वोपरि विशेषता है। 'वसुधैव कुटुंबकम्' का भारतीय दर्शन इसी में समाहित है। विभिन्न उपासना पद्धतियों के चलते भी कोई भेद नहीं तभी कहा गया- 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।' लोकनायक श्री कृष्ण ने गीता के चतुर्थ अध्याय में 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' का उद्घोष कर लोक-आस्था व विश्वासों को अपनी स्वीकृति प्रदान की, जिसके अनुसार कोई किसी भी मार्ग को अपनाए अंत में वो मुझे ही प्राप्त होगा। लोकरीति के अनुसार वह पीपल, वट, तुलसी, नीम के वृक्ष काटने नहीं देता, क्योंकि उसमें उसके इष्ट विराजते हैं, नदियों का जल वह माथे से लगाता है, वह माँ है। अंजुरी भर जल लेकर अर्घ्य देता हुआ अपने आपको क्षण भर में अपने समस्त पुरखों से जोड़ लेता है, जड़ पत्थर में भी भगवान की भावना रखता है, दीपक जलाकर विश्वास व्यक्त करता है कि यह कृत्य उसे समस्त अनिष्ट और अमंगल से बचाकर रखेगा। अनादि काल से विश्वास की यह धारा अनुष्ठान, परम्परा या लोकाचारों के रूप में आज भी जीवित है, फिर विश्वास से बढ़कर कोई प्रमाण नहीं होता। नास्तिक बुद्धिवादियों के उल्टे-सीधे तर्कों का जवाब जब भोला-भाला लोकजन ठीक

से नहीं दे पाता तो विश्वास के साथ कह उठता है- हमारे बाप-दादा के जमाने से यही चला आ रहा है। इस प्रकार लोक संस्कृति सुदूर अंचलों में, भारत के कोने-कोने में, खिलखिलाती-मुस्कुराती नजर आ जाएगी। इसके द्वारा किसी समाज व राष्ट्र का इतिहास, सामाजिक जीवन व संस्कृति को भली प्रकार समझा जा सकता है, उसमें निहित उदात्त मानवीय जीवन मूल्यों और सांस्कृतिक तत्त्वों को खोजा-परखा जा सकता है। लोक-साहित्य पढ़ने की अपेक्षा अनुभूति का साहित्य है। यह लोक संस्कृति के बीच रहकर ही अनुभूत किया जा सकता है। इसी में भारत की आत्मा बसती है।

लोक-साहित्य का सम्यक् संरक्षण एवं अनुशीलन न केवल हमारी जातीय विरासत, ऐतिहासिक धरोहर को पहचान कराने में सहायक होता है, अपितु उसके द्वारा हमारे साहित्य की भी श्रीवृद्धि होती है। यह जीवन व जगत के गंभीर अध्ययन का मार्ग प्रशस्त करता है। निमाड़ अंचल के लोक-साहित्य विद्वान पं. रामनारायण उपाध्याय का मानना है- 'लोक-साहित्य का कार्य महज लोक-गीत, लोक-कथाओं और लोक-कहावतों के संकलन का कार्य नहीं है, वरन् यह जो अनादिकाल से अनंत काल तक मानव की जीवन-यात्रा चली आ रही है, उसमें वह कहाँ गिरा, कहाँ उठा और आगे बढ़ा, इन सबकी खोज, शोध और अध्ययन का कार्य है।' लोक-साहित्य एक समृद्ध एवं जीवन्त परंपरा का साहित्य है जो हमें अपने पुरखों से जोड़ता है, प्रकृति, भूत और वर्तमान से जोड़कर नवीन आशा का संचार करता है।

हमारे प्राचीन चिन्तकों, महर्षियों ने इतिहास लेखन में कोई रुचि नहीं दिखाई, वरन् अपनी सृजनधर्मिता का उपयोग लोक-कल्याण के उद्देश्य से पुराणों की रचना के रूप में किया। ये पुराण न केवल कथा, गाथाओं, मंत्र, उपासना पद्धतियों के कोश हैं, बल्कि मनुष्य को निरन्तर श्रेष्ठत्व की ओर ले जाने वाले मार्गदर्शक भी हैं। पुराणों में निर्दिष्ट तत्त्वों को लोक-साहित्य में जीवन्त देखा जा सकता है। विभिन्न लोकाचारों में पुराणों की झांकी के दर्शन कर सकते हैं। श्रद्धा -भक्ति, धर्म- कर्म के सिद्धान्तों की सहज व्याख्या इनमें मिल जाती है। इसलिए लोक-जीवन अन्य शास्त्रों की अपेक्षा इनके अधिक करीब है। वैदिक ऋषि, मंत्र दृष्टा और पुराणकार लोक-जीवन तथा लोक-साहित्य के गहन अध्येता थे। वेदव्यास जी ने वेदों के अतिरिक्त, महाभारत और विविध पुराणों

में एक प्रकार से लोक-साहित्य का ही सम्पादन किया है। आज भी भारत के अनेक गाँवों में पवित्र चबूतरा जिस पर कथा प्रवचन आदि होते हैं- 'व्यास पीठ' कहे जाते हैं। ध्रुव भट्ट जी के गुजराती उपन्यास 'तत्त्वमसि' में 'व्यास टीले' का नामोल्लेख है। श्रीकृष्ण ने भी लोक-संग्रह पर बल दिया- 'लोक-संग्रह मेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि।'

लोक-जीवन में विभिन्न पर्व, उत्सव, व्रत प्रचलित हैं। इनमें जो कथा या वार्ता कही जाती है। प्रायः पुराणों की ही कथाएँ होती हैं। व्रतों के लिए किए जाने वाले नियम या विधानों में लोक-जीवन ही दृष्टिगोचर होता है। वनस्पतियों के पत्तों से मंडप सजाना, कलश की स्थापना, ढोलक मंजीरों आदि बजाकर नृत्य-गान, कीर्तन, घी - गुड़ का हवन, गौ माता का पूजन आदि विधान लोक-जीवन का ही परिचायक हैं।

कहते हैं महात्मा बुद्ध ने भी लोकधर्म निर्वाह किए। एक बार जब वे तपस्यारत थे, उनका शरीर अत्यंत कृश हो गया। तब स्त्रियों का एक समूह लोकगीत की पंक्तियों को गाता उधर से गुजरा। गीत का भाव था कि 'वीणा के तारों को इतना ढीला न छोड़ों कि वह गूंजे नहीं और इतना कसो भी मत कि तार टूट जाए।' बस भगवान बुद्ध को मज्जिझम मार्ग (मध्यम मार्ग) मिल गया, जो कालांतर में विश्वव्यापक सिद्धांत के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। बौद्धधर्म में अनेक शब्द लोक-जीवन का महत्त्व प्रतिपादित करते हैं। लोकजत्ता (लोकयात्रा) एवं 'लोकप्पकाय (लोक प्रवाद) ऐसे ही शब्द हैं। सम्राट अशोक के शिलालेखों में लोक शब्द का प्रयोग समस्त प्रजाजनों के लिए हुआ है।

इस देश के ही नहीं अपितु विश्व के महान् ग्रंथ रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत का आधार लोक-जीवन की अनुश्रुतियों के बीच था। प्रचलित जनश्रुति के अनुसार वाल्मीकि को नारद से राम की कथा (यानी लोककथा) प्राप्त हुई। राम लोकनायक के रूप में सदा के लिए प्रतिष्ठित हो गए। राम ने स्वयं अपने जीवन में लोक-मर्यादा व लोक-धर्म का पूर्णरूपेण पालन किया। चौदह वर्ष का 'वनवास' मेरी दृष्टि से उनका लोक-जीवन वास ही था। चक्रवर्ती सम्राट महाराज दशरथ के वचन से प्रारंभ हुई उनकी यात्रा समाज के छोटे से छोटे माने जाने वाले लोगों तक हुई। केवट, शबरी, सुग्रीव, हनुमान आदि पात्र उनका सान्निध्य पाकर अमर हो

गए। उन्होंने जटायु जैसे पक्षी, जाम्बवन्त जैसे रीछराज और वानर-गिलहरी जैसे सैकड़ों जीव जन्तुओं को लोक-जीवन की पद्धति अनुसार अपना बना लिया। उन्होंने सीता विरह के दुःख को पेड़ - पौधे - पक्षियों आदि के साथ बाँटा-

*हे खग मृग हे मधुकर श्रेणी। तुम देखी सीता मृग नयनी।।*

भारत का जो साहित्य लोक की चेतना और संस्कृति से जितना अधिक जुड़ा वह उतना ही लोकव्यापी और कालजयी सिद्ध हुआ। कालिदास के विभिन्न पात्र लोकभावना के अनुरूप जीवन जीते हुए प्रकृति से तादात्म्य स्थापित करते हैं। उच्च और श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न होने के बाद भी महाराजा दिलीप गौ सेवा कर अमर हो गए। लोकनायक गोपालकृष्ण द्वारकाधीश होने पर भी ब्रज को कभी नहीं भूले। उनके मित्र उद्धव जो ब्रह्मज्ञानी थे। गोपिकाओं के पास ब्रह्मज्ञान का उपदेश देने गये और हार मानकर उधर से राधा-राधा करते हुए लौटे। गोपियों के जीवन में जैसा उन्होंने अद्वितीय प्रेम व समर्पण भाव देखा, उसके आगे उनके ब्रह्मज्ञान का सारा दंभ पिघल कर चूर-चूर हो गया। गोपियों का एक मन था जो श्याम संग चला गया - एक हुतो सो गयो श्याम संग।

ब्रजरस के माधुर्य से आज भी सारा भारत आप्लावित है। जिन रचनाकारों ने कृष्णभक्ति और ब्रज को अपना विषय बनाया वे लोक में अमर होकर स्थापित हो गए। क्या हम कल्पना कर सकते हैं कि कृष्णभक्ति की बात हो और सूर, मीरा, रसखान, विद्यापति आदि का नाम न लिया जाए?

लोकभावना का आदर बाबा तुलसीदास जी ने किया और जन-जन के हृदयों में राम और रामकथा के पात्रों को प्रतिस्थापित किया। रामकथा के निर्वाह में जैसा सम्मान उन्हें मिला, वैसा सुर-नर-मुनियों को भी नहीं मिल सका। विदेशी धरती पर जन्म लेने वाले बाबा कामिल बुल्के जैसे श्रेष्ठ रामभक्त रामकथा व तुलसीदास जी के हिन्दी में किए अध्ययन से भारत भूमि को गौरवान्वित कर धन्य हो गए। 'बाबा कामिल बुल्के का कहना था कि रामकथा के द्वारा मैं निश्चित ही वैकुण्ठ या स्वर्गलोक जाऊँगा। वहाँ सब हुतात्माओं के साथ मुझे तुलसीदास जी भी बैठे मिलेंगे। मैं सबसे पहले उन्हीं को जाकर प्रणाम करूँगा।' तात्पर्य यह है कि इस सांस्कृतिक चेतना से ओतप्रोत लोकधारा का अवलंबन जिन साहित्यकारों, कथाकारों, कलाकारों ने लिया, लोक ने उन्हें अपना



बना लिया, आज इतने वर्षों बाद भी सूर व कबीर के पद लोगों को मुख्याग्र हैं। घाघ व भड्डरी जैसे लोककवियों की उक्ति लोगों का मार्गदर्शन कर रही है। सदियों का स्थापित विश्वास उनमें सुरक्षित है। यह लोकधारा हमारे श्रेष्ठ सांस्कृतिक मूल्यों की अक्षय स्रोतस्विनी गंगा है।

हिन्दी साहित्य के भी प्रत्येक काल में लोक-जीवन की स्पष्ट छाप अंकित है। वीरगाथा काल की रचनाएँ लोक-शैली में रचित रचनाएँ ही प्रतीत होती हैं। आल्हाखंड तो आज भी लोगों की जुबान पर है। भक्तिकाल में भक्तिधारा और लोक-जीवन धारा का प्रवाह निरंतर रहा। रीतिकाल के विलास में भी लोक की धारा न सूखी न विकृत हुई। आधुनिक काल में भी भारतेन्दु, नागार्जुन, फणीश्वर नाथ रेणु, महादेवी, त्रिलोचन, मुक्तबोध आदि की रचनाओं में भी लोक-जीवन के स्वर झंकृत होते रहे हैं। लगभग सभी गद्य लेखकों ने भी लोक कहावत, लोकोक्तियों, लोक-शैली, तीज-त्योहार, खान-पान आदि का वर्णन किया है। लोक-जीवन का सजीव चित्रण प्रेमचंद ने अपनी कहानी-उपन्यासों में किया। होरी, गोबर, धनिया जैसे पात्र लोक के ही पात्र हैं। कहीं-कहीं बैल, कुत्ते आदि प्राणी भी उनकी रचनाओं के पात्र हैं।

भारतीय-दर्शन और विद्या-परंपरा में दो प्रकार की धाराओं (पद्धतियों) के दर्शन होते हैं। एक वैदिक (शास्त्रीय) और दूसरी लौकिक धारा। जीवन-यापन के विभिन्न अवसरों पर दोनों धाराओं का प्रयोग देखा जा सकता है। पूजा-पाठ, अनुष्ठान, विवाह आदि मांगलिक प्रसंगों पर जिस प्रकार वैदिक मंत्रों द्वारा विधि संपन्न की जाती है, वैसे ही मांगलिक प्रसंगों पर लोकभाषा में प्रायः स्त्रियों द्वारा लोकगीत गाये जाते हैं, उनके बिना मंगलाचार पूरा होना नहीं माना जाता। यद्यपि तत्त्व रूप से दोनों की दृष्टि और भाव सृष्टि समान होती है तथापि लोक का अनादर शास्त्र भी नहीं करते-यद्यपि शुद्ध लोक विरुद्ध नहि करणीयम्। यह दृष्टि भारतीय परंपरा को पोथीवादी नहीं बनाती। एक प्रकार से हम कह सकते हैं कि लोकशास्त्र का ही प्रसृत रूप है और शास्त्र भी लोक स्वीकृतियों का एक घनीभूत रूप। ये दोनों ही लोकमांगल्य के लिए सतत् प्रयत्नशील रहते हैं। लोक-परम्पराएँ सदियों से हमारे लोक-जीवन को अनुशासित और संस्कारित करती आई हैं। इस सरल प्रक्रिया में व्यक्ति कब संस्कारित हो जाता है, स्वयं उसे भी पता नहीं चलता। यदि हम लोक-संस्कृति या लोक-जीवन को अपनी दृष्टि सम्मुख रखेंगे तो लोक-संस्कृति, लोक-साहित्य के रूप में अपना परिचय आप दे देगी।

## रासलीला का वैशिष्ट्य

डॉ. माधुरी यादव

‘रासलीला’ का सीधा सम्बन्ध ‘श्रीकृष्णचरित’ से है। श्रीकृष्ण की लीलाएँ जन-जन में प्रसिद्ध हैं, इसी कारण श्रीकृष्ण का चरित्र कवियों तथा लोकगायकों में सर्वाधिक लोकप्रिय रहा है। महाभारत और भागवत को लेकर विभिन्न भाषाओं में कृष्ण-चरित को लेकर अनेक ग्रंथ रचे गए, जो जन सामान्य में लोकप्रिय हुए। महाभारतकार ने कृष्ण चरित्र को ‘लीला पुरुष’ के रूप में विकसित किया है। गीत गोविन्द के रचयिता जयदेव, विद्यापति, सूर, रसखान आदि कवियों के यहाँ भी कृष्ण लीला पुरुषोत्तम हैं। भागवत का दशम स्कंध श्रीकृष्ण की लीलाओं से ओत-प्रोत है, जिसकी भक्तिपरक कथा आनंदप्रद भी है। ‘रासलीला’ भी ‘रामलीला’ के समानांतर विकसित होने वाला लोकनाट्य है। यह रसबद्ध से सराबोर होने के कारण रास कहलाता है। यह नृत्य, गीत और संगीत प्रधान नाट्य है। रास में इन तीनों की विशिष्टता है।

रास के प्रारंभ में राधा-कृष्ण, गोपियाँ तथा लीला-प्रधान मंच पर प्रतिष्ठित होते हैं, इसके बाद गुरु और कृष्ण की वंदना की जाती है। इसी क्रम में मंगलाचरण, आरती के साथ राधा-कृष्ण की युगल छवि की झाँकी प्रस्तुत की जाती है। सखियों द्वारा युगल सरकार को रास में पधारने हेतु आमंत्रित किया जाता है। इस क्रम में रास कई चरणों से आगे बढ़ता चलता है। भगवान कृष्ण की लीलाओं के साथ-साथ कृष्ण भक्तों के जीवन-चरित्र को भी रासलीला में स्थान दिया गया है। उद्धव प्रसंग, सुदामा चरित्र आदि का प्रसंग विशेष रूप से दर्शाया जाता है। प्रसिद्ध पुराण कथाएँ, सूर, नंददास आदि भक्त कवियों के लीलागान प्रेक्षकों को लोकोत्तर आनंद प्रदान करते हैं। रासलीला के अंतर्गत समाजियों और अभिनेताओं की भी समवेत प्रस्तुति होती है। समाजियों में रास संयोजक, सूत्रधार और निर्देशक होते हैं।

रासलीला के अंतर्गत माखनचोरी लीला, पनघटलीला, मानलीला, दानलीला, कालिया दमन आदि के मंचन की बड़ी ख्याति है। राधिका रानी को रास के संस्थापकों ने पूरा सम्मान दिया है। उन्हें केन्द्रीय रूप में प्रस्तुत करने वाली लीलाओं में राधा जू की जन्म लीला, स्वप्न लीला, स्याम सगाई लीला आदि प्रसिद्ध हैं।

रासलीला का मंच प्रेक्षकों के सम्मुख थोड़ी ऊँचाई पर होता है। पृष्ठभाग में सुंदर पर्दा होता है। पात्र पर्दे के पीछे से प्रवेश करते हैं। लोकजीवन के अनुरूप यह एक प्रकार का मुक्ताकाशी रंगमंच होता है। रासलीला का विदूषक 'मनसुखा' कहलाता है। दृश्य परिवर्तन की सूचना पर्दा गिराकर या समाजी द्वारा दी जाती है। नृत्य-गीत के साथ परंपरागत वाद्य-यंत्रों पखावज, सारंगी, झांझ, ढोलक, हारमोनियम, तबले आदि का बड़े तालमेल से प्रयोग किया जाता है। ये सब मिलकर रास के द्वारा आनंद की सृष्टि करते हैं।

ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि रास का प्रारंभ श्रीकृष्ण के समय से ही प्रारंभ हो गया होगा। श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोकुलवासी अपना शोक दूर करने के लिए उनकी याद कर उनकी लीलाओं को अभिनय करते होंगे। स्वाभाविक है कि जब कोई अपना अत्यंत प्रिय दूर चला जाता है तो उसकी चर्चा और क्रिया बार-बार दोहराते हैं। भागवत में इसका संकेत भी मिलता है। कपिला वात्स्यायन ने 'रामलीला' के संदर्भ में मध्यकालीन कलाओं को गहरे स्तर पर प्रभावित करने वाले भक्ति आंदोलन को रेखांकित किया है।

जगदीशचन्द्र माथुर के अनुसार इस शैली के उत्कर्ष की दूसरी परिस्थिति यह थी कि भागवत धर्म और जयदेव के गीत गोविन्द के प्रचार के साथ-साथ देश के विभिन्न भागों में भगवान कृष्ण की जन्मभूमि और लीलास्थली ब्रजमंडल को देखने और उसमें बसने की इच्छा जागृत हो गयी, क्योंकि 1500 ई. के आस-पास ही ब्रजमंडल की यात्रा का यह अभियान देश के विभिन्न भागों के संतों ने शुरू किया, यह इतिहास का एक रहस्य है।

इसी प्रकार जगदीशचंद्र माथुर ने असम के महासंत शंकर देव, उत्कल और बंग के श्री माधवेन्द्र पुरी, आंध्र के श्री वल्लभाचार्य, गौड़ देश के महाप्रभु चैतन्य देव तथा गुजरात के स्वामी हरिदास आदि संतों का पंद्रहवीं से सोलहवीं शताब्दी के बीच ब्रजभूमि में आना तथा प्रवास करना लक्ष्य किया है। उन्होंने ठीक ही रेखांकित

किया है- 'ये संतगण अपने-अपने क्षेत्र से संगीत, नृत्य और नाट्य की परंपराओं को ब्रज में लाए और वहाँ के वातावरण में या वहाँ से प्रेरणा पाकर इन पद्धतियों को प्रयोग में लाने का अवसर उन्हें मिला।' वैष्णव संतों की परंपरा में भगवान की लीला पर केन्द्रित सर्वप्रथम भाषा नाट्य असम में शंकरदेव ने सन् 1518 ई. में लिखा। इसमें जिस भाषा का व्यवहार किया गया, वह शुद्ध असमिया क्षेत्र की नहीं थी वरन् एक सार्वदेशिक भाषा थी, जिसमें मिथला, काशी और ब्रज की तत्कालीन भाषा का मिश्रण था।

डॉ. वशिष्ठ नारायण त्रिपाठी के अनुसार रामलीला की तरह रासलीला में भी श्रीकृष्ण के अवतारी स्वरूप और उनकी विभिन्न लीलाओं को पूजा भाव से अभिव्यक्त किया जाता है, किन्तु रासलीला का अपना नाट्य-शिल्प बहुत कुछ 'मुक्तक' का सा शिल्प है, जो अपनी नृत्य, गीत व संगीत प्रधानता के साथ कृष्ण जीवन के कुछ प्रख्यात घटनाक्रम को लयात्मक रूप में मंचित करता है। यहाँ रामकथा जैसी सुसंबद्ध कथा नहीं है, यद्यपि आदर्श और खल चरित्रों के अंतर्गत कृष्ण, बलराम तथा कंस आदि चरित्रों की संकल्पना यहाँ है। कंस जैसे चरित्र जनसामान्य का अनवरत दमन और अन्याय करते हैं, जिस हेतु संगठित होकर प्रतिरोध करना दर्शाया जाता है। रासलीला में कृष्ण और कृष्ण-प्रियाओं का माधुर्य भावपरक लीलाओं का भी यथेष्ट स्थान है।

रासलीला को पूरी तरह लोकधर्मी मानते हुए डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल का कहना है कि 'रास इतना स्वाभाविक है और इसका लोकधर्मी तत्त्व इतना प्रधान है कि लोक या जीवन में इस प्रकार के नृत्य का अस्तित्व उन धुंधले युगों तक जा सकता है, जिनका ऐतिहासिक प्रमाण अब दुष्प्राप्य है।' इसी क्रम में देखें तो डॉ. ओझा की दृष्टि में भी यही व्यापक लोकधर्मिता है, जिसके कारण वे इसे लोक में प्रचलित वह सशक्त परंपरा मानते हैं जो संस्कृत भाषा में अपने मूल रूप में शामिल होती है। वे उल्लेख करते हैं कि 'रास' शब्द संस्कृत भाषा का नहीं है, प्रत्युत देशी भाषा का है, जो संस्कृत बन गया और देशी नाट्य कला जो रास के नाम से प्रसिद्ध थी, उसे 'रास' के नाम से ही संस्कृत ग्रंथों में उद्धृत कर दिया गया है। इस प्रकार रास को पुराण अनुप्राणित लोकनाट्य माना जा सकता है।

एक अन्य अवधारणा के अंतर्गत आभीरों में प्रचलित

‘हल्लीस’ या ‘हल्लीसक’ नृत्य का अंतःसम्बन्ध रास से माना जाता है। ‘आभीर’ एक वीर जाति थी, जिसका मुख्य कर्म पशुपालन था। यह यमुना के किनारे ब्रजभूमि में बसी हुई थी। जो वीर पुरुष अपनी वीरता के कारण महानायक के रूप में प्रतिष्ठित होता था, उसे युवा स्त्रियों के समूह उसके साथ नृत्य कर उसे सम्मान देते थे। यह अनुमान किया जाता है कि स्वयं श्रीकृष्ण को भी आभीर कन्याओं ने इसी भाव से महत्त्व देकर उनके साथ नृत्य किया होगा। रास नृत्य में कुछ ऐसी विशिष्टताएँ हैं, जो मूलतः ‘हल्लीसक नृत्य’ से सुसंगत हैं। हल्लीसक नृत्य की मूल अंतर्वस्तु वीर पूजा भाव पर आधारित थी। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल के मतानुसार हल्लीसक नृत्य के समानांतर रास की भी परंपरा थी। कालांतर में हल्लीसक नृत्य अपनी कतिपय विशेषताओं के साथ रास नृत्य में समाहित हो गया। रास की अपनी परंपरा और स्वरूप में जो वैविध्य दिखाई देता है उसके मूल में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने रास की उन दो परंपराओं का अनुमान किया है, उनमें से एक का संबंध भागवत परंपरा से है, तो दूसरी का जयदेव के गीत गोविन्द की परंपरा से। वे लिखते हैं- ‘भागवत परंपरा की रासलीला शरद पूर्णिमा को हुई थी, गीत गोविन्द परंपरा का रास बसंतकाल में हुआ। सूरदास आदि भक्त कवियों में ये दोनों परंपराएँ गुंथकर एक हो गयीं।’

डॉ. वशिष्ठ नारायण त्रिपाठी के अनुसार रास के प्रथम महत्त्वपूर्ण आयोजन का श्रेय वल्लभ सम्प्रदाय के आचार्य वल्लभाचार्य को दिया जाता है। श्री वल्लभाचार्य जी के इस प्रयत्न के पीछे वैष्णव संत स्वामी हरिदास जी की प्रेरणा थी। स्वामी हरिदास जी उस हरित्रयी में भी सम्मिलित थे, जिसके हितहरिवंशजी ने वृंदावन को ‘रास’ के एक महाकेन्द्र के रूप में विकसित किया। इस हरित्रयी में स्वामी हरिदास के अतिरिक्त हितहरिवंशजी के प्रधान शिष्य श्री हरिराम व्यास भी थे। ये तीनों आचार्य संगीत और नाट्य-विधा में पारंगत और राधाकृष्ण के भक्त थे। वृंदावन के पूर्व ‘करहला’ ग्राम अपनी रासलीलाओं के लिए प्रतिष्ठित हो चुका था। करहला को रासलीला के रूप में यह प्रतिष्ठा निम्बार्क आचार्य स्वामी घमंडदास जी ने दिलाई।

हितहरिवंश जी द्वारा गठित रासलीला की वृंदावन के ‘चैनघाट’ पर नित्य प्रस्तुतियाँ होती थी। हितहरिवंश द्वारा प्रतिष्ठित इस परंपरा में ‘रास’ वैष्णव भक्ति की रासधारा से ओतप्रोत था। इसी क्रम में सन् 1546 में श्री नारायण भट्ट ब्रज भूमि आए, जिन्होंने करहला के निकट ऊँचा गाँव में निवास कर रासमंडल को संगठित कर इसे नई ऊँचाईयाँ प्रदान की। भट्ट जी ने गद्यात्मक संवादों को भी इसमें स्थान दिया। उन्होंने कलाकारों और नर्तकों को प्रशिक्षित भी किया। उनके ‘ब्रजोत्सव चन्द्रिका’ ग्रंथ को ‘रास’ का नाट्यानुशासक ग्रंथ माना जा सकता है। श्री नारायण भट्ट के प्रयत्नों ने ही ‘बरसाने को रासलीला’ केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठा दिलवाई। भट्ट जी ने ब्रजभूमि के विभिन्न स्थानों पर ‘कृष्णलीला भूमि’ और ‘बूढ़ी लीलाओं’ की स्थापना कराई। ब्रजभूमि में रासलीला के रूप में प्रतिष्ठित इस लीला नाट्य ने संत शंकरदेव और चैतन्य महाप्रभु जैसे कृष्ण भक्तों के द्वारा ‘अंकिया नाट’ और ‘जात्रा’ के रूप में एक अन्य रूपांतरण प्राप्त किया, जिनकी अलग से बड़ी ख्याति है।

ब्रज प्रदेश को ‘रासलीला’ के महाकेन्द्र के रूप में विकसित करने में भक्तियुग के आचार्यों और संत कवियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। धीरे-धीरे रास की प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैलती चली गई। रासलीला की परंपरा किंचित् भिन्नता या पार्थक्य के साथ रासमंडलियों में चली आ रही है। आज भी ‘रास’ का महत्त्वपूर्ण केन्द्र वृंदावन ही माना जाता है। रास से जुड़े स्वामी रासमंडली के संरक्षक होते हैं।

इस प्रकार लोकनाट्य परंपरा में रास का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आस्थापरक इस देश में रास भक्तिभाव परक होने के साथ लोकरंजन का भी प्रमुख माध्यम है। प्रसन्नता की बात है आज भी विभिन्न रास मंडलियों द्वारा इसकी सुंदर प्रस्तुतियाँ की जा रही हैं। अन्य विधाओं की तरह ही इसका संरक्षण भी आवश्यक है, क्योंकि यह राष्ट्र और लोक की अमूल्य धरोहर है।

## बुन्देली जीवन में राम

डॉ. अर्चना शुक्ला

लोक-जीवन और लोक-दर्शन संस्कृति की आत्मा है, जो उसे चेतना की संजीवनी देकर हमेशा जीवित रखती है देह, मन और आत्मा के सम्बन्धों की लोक-दार्शनिकता रहस्यमयी होती है, जिसे प्रतीकों के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है।

*मानुस देह जा दुर्लभ है, आ सके न बारंबार।*

*पात टूटके तरुवर सो कभऊँ लौट ना लागे डार।।*

शरीर और मृत्यु का यह लोक-चिंतन लोक की जागरूकता का प्रमाण है। मनुष्य शरीर दुर्लभ है, क्योंकि वह बार-बार नहीं मिलता है। जिस प्रकार पेड़ का पत्ता एक बार टूटने के बाद फिर उस डाल में नहीं लगता, उसी प्रकार मृत्यु के उपरांत मानव शरीर का फिर मिलना कठिन है।

दर्शन और लोक-दर्शन में सम्यक् दर्शन की समानता तो है, लेकिन दोनों में एक खास अंतर यह है कि दर्शन किसी विशिष्ट विचारक द्वारा एक विशिष्ट दार्शनिक मत के रूप में प्रतिपादित होता है और उसके अनुयायी या तो विशिष्ट दृष्टिकोण या प्रवृत्ति स्वयमेव निर्मित कर एक निजता प्रतिष्ठित कर लेते हैं अथवा फिर सम्प्रदाय बना लेते हैं, जबकि लोकदर्शन विचारक या वर्ग-विशेष का दर्शन न होकर लोक-दर्शन होता है और यह सदैव अनामधारी एवं सम्प्रदाय मुक्त रहता है।

लोक की आस्था और विश्वास का प्रमुख आधार लोक-दर्शन है और लोक-दर्शन ही लोकधर्म और लोक-मूल्य का मार्ग प्रशस्त करता है। लोक-दर्शन की गति धीमी हो सकती है, लेकिन उसकी संकल्पित दृढ़ता लोक के निर्माण को पक्का करती है। लोक-दर्शन

बदलता है, तो लोक बदलता है और लोक बदलता है तो लोकदर्शन। इस तरह दोनों का सम्बन्ध इतना घनिष्ट है कि लोक-दर्शन की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

ब्रह्म, जीव, जगत और माया से सम्बन्धित भक्तिपरक भजन ही सबसे महत्त्वपूर्ण साधन बन गए। लोककवि पुकार उठता है-

भजन बिन सूनी देहिया रे,  
अरे सूनी देहिया रे, हिरदे में बसा लेव सीताराम हो ।  
भजन बिन.....

लोक में माया के प्रति वैराग्य की भावना निवृत्तिपरक दर्शन का संकेत देती है, जिसे इस ढंग से व्यक्त किया जा सकता है -

बाबा भागो बिलैया झपटी  
ब्रह्मा खां झपटी, बिस्नु खां झपटी,  
नारद मुनि खां लगाई दई पटकी  
गौरख खां झपटी व्यास खां झपटी,  
विस्वामित्र खां गले में अटकी ॥  
बाबा भागो .....

माया रूपी बिलैया (बिल्ली) अच्छों-अच्छों को चपेट लेती है, फिर साधारण आदमी की क्या हस्ती! इसलिए पर्वत जंगलों में रहने वाले सुआ (तोता) रूपी जीव को घर-आँगन रूपी यह संसार अच्छा नहीं लगा- 'उड़ चल रे परबत वारे सुअना, घर अंगना न सुहाय मोरी माय।' लोक फिर शरीर या मानव-जीवन की उपयोगिता समझ लेता है। वह फिर गाता है- 'भजन करो सिया रघुबर के, सिया रघुबर के, ऐसी देहिया न मिली है बारंबार हो, भजन करो.....।'।

संसार में ब्रह्म, जल-थल, अग-जग समेत सबका ध्यान रखता है और उसी पर धरती आसमान सबका भार है। वे सभी की रक्षा करते हैं और नरसिंह का स्वरूप धारण कर हिरण्यकश्यप जैसे असुर का संहार करते हैं। बुंदेली का एक गीत इसी बात को स्पष्ट करता है -

जाके रामचन्द्र रखवारे, को कर सकत दगा रे ।  
धर नरसिंह रूप कढ़ आये, हिरनाकुस खों मारे ॥  
जाके रामचन्द्र.....

इस प्रकार के लोकदर्शन में लोकरक्षा का उद्देश्य प्रमुख है। पुनरुत्थान-काल के साहित्य में भले ही मानवतावाद की प्रधानता रही हो, पर लोक-साहित्य में मानवतावाद के साथ लोकरक्षा की दृष्टि ही सर्वोपरि रही है। फिर भी उस समय व्यक्ति इतना दबा हुआ था कि उसका लोक-मन उतना स्वतंत्र नहीं हो पाता था।

देश की आजादी की लड़ाई के समय लोक-चिंतन से राम का शक्तिमय रूप उभरा था, जिससे लोक-मन ने प्रेरणा ली थी और वह जूझने के लिये तैयार हुआ था।

कामादिक खल मार कें, मोह पास कर अंत ।  
जग की केतिक बात है, कालहू उरत न संत ॥

इसके विपरीत लोक-जीवन या लोक-दर्शन की एक दूसरी दिशा भी थी, जिसमें लोक-गीतों में राम हर तरफ मिलते हैं। उसके अनुसार यह जगत एक धंधा है, मिथ्या है, माया है, इसलिए उसे नष्ट हो जाने दो। 'निकर चलो दे के टटिया रे, अरे दे के टटिया रे धंधे में लगा के आग रे, निकर चलो हो.....।' क्योंकि राम के दर्शन की बेला आ पहुँची है- 'राम दरस की तो बेरा भई रे, अरे बेरा भई रे, पट खोलो छबीले राम हो, दरस की तो बेरा भई रे.....।' खासकर अवधी, बुंदेली में इस तरह का अस्तित्व लोक-दर्शन में प्रचलित है, जो लोकगीतों में जगह-जगह उभरा है।

बुंदेली निर्गुणिया लोकगीतों में हिन्दी के संत काव्य जैसी मस्ती और फक्कड़पन है। उनका राम कबीर जैसा है। लोक दर्शन में कबीर-दर्शन का अनुकरण है, पर वह लोक स्तर पर सरल और सहज हो गया है।

पवन जू के हनुमत रखवारे ।  
आँधी बेहर खा बंद करत है,  
ढेरन काज संवारे ॥ पवन जू ॥  
हमरे हनुमत ऐसे गरजत है,  
हमरे राम जू ऐसे गरजत है,  
हमरे किस्न जू ऐसे गरजत है,  
जैसे इन्दर अखाड़े ॥ पवन जू ॥

लोक-जीवन में समन्वयवादी लोक-धर्म और लोक-दर्शन का स्वरूप मिलता है। लोगों को विश्वास था कि मानव शरीर दुःखमय और नश्वर है, लेकिन उसी के द्वारा जगत् के सुखों का

भोग और दुःखों से मुक्ति सम्भव है। इसलिए मनुष्य को साधना द्वारा उसे दोनों के योग्य बनाना चाहिए। यह जगत सुख-दुःखमय है। माया से छुटकारा तभी मिलता है, जब मानव संसार में रहते हुए त्याग और वैराग्य का जीवन बिताता है और ईश्वर या उसके राम के प्रति भक्ति-भावना रखता है। इस तरह ज्ञान, कर्म और भक्ति की समन्वित दृष्टि अपनाकर तत्कालीन लोक ने धार्मिक और सांस्कृतिक एकता को वैचारिक सम्बल दिया है।

बुंदेली लोक-जीवन में राम के जीवन से सम्बन्धित भजनों और गीतों का बहुत महत्त्व है, जैसे राम सम्बन्धित जन्म, विवाह आदि का। राम-जन्म से सम्बन्धित एक भजन इस प्रकार है -

*जनमे राम अवध चलो सजनी, राजा दशरथ ने मोती लुटाये,  
बचा मोती एक कौशल्या की नथ में, जनमे राम अवध ...*

इसी तरह राम विवाह से सम्बन्धित अनेक गीत और भजन बुंदेली में प्रसिद्ध है -

*सिया बनी दुल्हन, दूल्हा रघुराई  
कौन को सोहे मुकुट मनोहर,  
कौन की सिंदुर माँग भराई, सिया बनी.....*

× × ×

*जे बनरा (बन्ना) चारई जनक लली के,  
जनक लली के राजा दशरथ के, जे बनरा....*

अतः हम कह सकते हैं कि लोकगीत, लोकगाथाएँ और भजन इस तथ्य के प्रमाणिक गवाह हैं कि लोक-जीवन में न तो किसी तरह का विद्वेष और विवाद है और ना उलझाव। लोक के राम-सीता भले ही घर-घर और गाँव-गाँव के हों, पर उनके सम्बन्ध में लोक-चिन्तन और लोक-दर्शन एक सा है।

## बुन्देली साहित्य के रंग

डॉ. हरिप्रसाद दुबे

बुन्देलखण्ड का प्राचीन नाम जेजाक भुक्ति था। इसके उत्तर में यमुना, दक्षिण में नर्मदा, पूर्व में टोंस (तमस) और पश्चिम में चम्बल नदियाँ हैं—दीवान प्रतिपाल सिंह ने अपने ग्रंथ में बुन्देलखण्ड की सीमा का निर्धारण पद्य में किया है—

इत जमुना उत नर्मदा इत चम्बल उत टोंस ।  
छत्रपाल सों लरन की रही न काहूँ होंस ॥  
प्राची दिसि कैमूर सोन कासी सुलसति है ।  
उत्तर समथल भूमि गंगा जमुना सो बहति है ॥  
दक्खिन रेवा, विन्ध्याचल तन शीतल करनी ।  
पश्चिमी से चम्बल चंचल सोहति मनहरनी ॥  
तिनमथि राजे गिरि वन सरिता सहित मनोहर ।  
कीर्तिस्थल बुन्देलन को बुन्देलखण्ड वर ॥

बुन्देली कहावत में इसकी सीमा इस प्रकार रेखांकित की गयी है— भैंस बंधी है ओरछा, पड़ा होशंगाबाद। लड़वैया है सागरे, चपिया रेवा पार। लोक-साहित्य हृदय का साहित्य है। लोकशब्द ही साधारण जन के कार्य व्यवहार का प्रतीक है। लोक से अर्थ उस लोक-मानस या लोकशब्द से है जो सहज और प्रवृत्त का अर्थ मानसिक प्रवृत्तियों की पूँजीभूत इकाई का रूप होता है। यही लोक अपने लोकस्वर का अनूठा स्वरूप रच लेता है। लोक-साहित्य में सरलता, निर्भयता और प्रगाढ़ प्रेम के नमूने उदाहरण रूप में मिलते



हैं। ज्ञान-विज्ञान, व्यवहार-वाणी, वेशभूषा आदि वास्तविक व्यापार लोक-साहित्य का प्राण है। लोक-साहित्य में गीत-गाथा, कथा-नाट्य एवं प्रकीर्ण-साहित्य प्रमुख हैं। लोक-साहित्य में गाथा का मुख्य स्थान है। बुन्देलखण्ड को दो गाथाएँ आल्हा और हरदौल प्रसिद्ध हैं। लोक की अभिव्यक्ति, परम्पराओं, लोकगीतों, लोककर्ताओं, किंवदंतियों, लोकोक्तियों, उत्सवों, नृत्यों-त्योहारों आदि में व्यापक होती है।

बुन्देलखण्ड का लोक-साहित्य, लोक-जीवन के प्रत्येक कार्यकलाप में समाहित है। चाहे सामाजिक जातीय क्षेत्रीय पर्व हों या धार्मिक उत्सव, लोक-दर्शन भेदभाव से रक्षित यहाँ है। लोक-साहित्य की अभिव्यक्ति में नृत्य, गीत, ताल, ढोल, मंजीरा, घुँघरू, हास्य-व्यंग्य व आशु-कथाओं में मिलती है। गाँव की स्त्रियाँ ढोल-मंजीरे लेकर नाटक, गम्मत, ढिमरिया आदि के रूप में लोकपरम्पराओं को संरक्षित करते हैं। कजरी, फगुआ, नौरता, बधावा, भगतें, भजन, दादरा, टुमरी आदि लोक-साहित्य का ही रूप हैं।

बुन्देली साहित्य के विविध आयाम हैं। संस्कार-गीत, ऋतु-गीत, त्योहार-गीत, श्रम-गीत, यात्रा-गीत, धार्मिक - गीत, बाल-गीत और विविध-गीत। इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार के भी बुन्देली साहित्य हैं। संस्कार-गीतों में बच्चे के कानों को सोने के सूत से छेदा जाता है। बुन्देली साहित्य में कर्णछेदन गीत हैं।

बच्चे के जन्म पर गाया जाने वाला गीत बुन्देली में 'सोहरे' कहा जाता है। प्रथम बार जब प्रसूता सौर से बाहर आती है, तब कुँए पर जाकर जल भरने का नेग होता है- उस समय स्त्रियाँ प्रसूता के साथ कुँए पर जाते समय यह गीत गाती हैं- 'गरी पै डोरी डार गुइयां, डार गुइयां डराव गुइयां/गरी पै डोरी जब नोनी लागै/.....जिठानी के भये नन्दलाल कहो तो पिया देख आवें महाराज। सासू की हटकी न मानी/सखिन संग निंग चली महाराज-.....चलो लाला हाट बाजार, ललन मोल लै दियो महाराज। 'बच्चों के बड़े होने पर किसी पवित्र नदी, तीर्थ या देव स्थान पर मुण्डन करने के समय मुंडन गीत गाते हैं। बुन्देलखण्ड में दतिया के सेउड़े जहाँ 'सनकुआ' है, में कुछ लोग मुंडन संस्कार कराते हैं। नाई द्वारा कैंची से बच्चे के काटे गये बाल को उसकी फुआ (बुआ) लेती है और नेग माँगती है। बुआ के न रहने पर बहन

करती है। यहाँ मुंडन गीत गाते हैं।

इसके बाद किसी विषम वर्ष में कर्णछेदन (कनछेदन) सोनार सोने की कील से करता है। कनछेदन गीत इस प्रकार गाया जाता है-

लाल दुलीचा आजुल राजा बैटे,  
करे कस्तूरी को उबटनो,  
अपने नतिया के कान छिदावे,  
जई रे लला जू को सोहरो।

जनेऊ गीतों ब्रह्मचारी (बरुआ) अपने दादा से जनेऊ माँगता है। आजी (दादी) से मोती भिक्षा में माँग लेता है। कवि की व्यंजना है-

आंगन में ठाढ़ो है बरुआ, तो जनेऊ करत है।  
हरे हरे आजुल सुलछने, तो अपने जनेऊ हमें देव।।

सरल, निश्छल जीवन-सौन्दर्य की अनूठी सृष्टि बुन्देली लोक-साहित्य का एक प्रखर पक्ष है। भारत की हृदय स्थली बुन्देलखंड में कन्या माता-पिता द्वारा खोजे जा रहे विवाह को जानती-समझती हुई कहती है-

काहे का बप्पा मोरे कुइया खुदायो,  
काहे लगाओ लख आम  
काहे का बाप्पा मोरे कन्या को जन्मों,  
काहे बढ़ाओ जिया सोच।  
पनिया भरन खौ बेटी कुइया खुदाई,  
चौहयके लगायो लख आम।  
धरम करे खां बेटी कन्या जो जन्मीं कटें जन्म के पाप।

पुत्रियाँ माता से अधिक खुलकर घुली-मिली रहती हैं। माँ अपनी पुत्री के अनुरूप वर, घर खोजने का भाव इस गीत में रखती है-

के ही पठाऊं बखरिया जो देखे के ही चंदन चहुंवार।  
के ही पठाऊं सुघर वर देखे केहि के हैं उनवार।  
नाउ पठाऊं बखरिया देखे बरिया चंदन चहु पार।  
ददुली पठाऊं सुघर वर देखे केहि के हैं उनवार।

लीपी पोती बखरिया देखा देखी चंदन चहुवार।  
गुयड़े खेलत सुघर वर देखे रामलखन उनवार।।

निर्धारण कर पाना कठिन हो जाता है। बुन्देलखण्ड में सर्वत्र मंडप स्थापना के अनन्तर वर या कन्या को तेल व हल्दी चढ़ाने की विधि सम्पन्न होती है। परिवार की कन्याएँ बारी-बारी तेल चढ़ाती हुई गीत गाती हैं-

काहे का तेल फुलेल काहे केरी पांखुरियां  
कौने रानी तेल चढ़ावै कौन केरी बैदुलियां  
चम्पा का तेल फुलेल हरद केरी पांखुरियां,  
बहना रानी तेल चढ़ाये भैया केरी बैदुलियां

मटयावने में यह गीत गाने की लोक परम्परा है-

देई देवता परमेसरे आरे पैलो न्योता लेव,  
सरग नसैनी पाट की जे चढ़ न्योता लेव,  
हरदौल लाला परमेसरे आरे पैलो न्योतालेव।  
सांप गुहेरे बिच्छू किच्छू आरे पैलो न्योता लेव।

यहाँ के लोक-साहित्य में ज्ञान का आधार पोथियाँ न होकर परम्पराएँ होती हैं। लोकमानस की सहज स्वाभाविक अभिव्यक्ति ही लोक-साहित्य है। बुन्देलखण्ड की विवाह परम्परा में चीकट की विशेष उपादेयता है- सर्वप्रथम लोकदेवता लाला हरदौल के स्मरण में यह गीत गाया जाता है। ओरछा नरेश जुझार सिंह के अनुज हरदौल पर आरोप मढ़े जाने पर जुझार सिंह ने अपनी पत्नी से हरदौल को विषयुक्त भोजन खिलाने की जब शर्त रखी तो रानी ने कहा- 'निरदोसी हरदौल लला खों विष भोजन करवाउत काय/प्रीतम पाप कमाउत काय/पूत समान लला है मोरे, ताखों कलंक लगाउत काय। परंतु 'घर-घर में मच गओ हल्ला, हरदौल मरे विष खाकें' के बाद से ही विवाह आदि में हरदौल का स्मरण परम्परा से जुड़ गया। दूलादेव का गीत इस प्रकार है-

दूलादेव बाबा अबकी अरज मोरी मानियो।  
मानो-मानो हे बड़े सिरदार  
दूला देव बाबा अबकी अरज मोरी मानियो।

लोकदेवता हरदौल द्वारा मृत्युपरान्त गुप्त रूप से भांजी के विवाह में भात देने की कथा परम्परा बुन्देलखण्ड में व्याप्त है।

विवाह के पूर्व बहन-बहनोई, भाई को विवाह का आमंत्रण देते हैं। अपनी सामर्थानुसार वस्त्राभूषण, खाद्यान्न, चीकट के रूप में भाई के घर जाते हैं। गृह प्रवेश करते ही चीकट चढ़ाने में स्त्रियाँ यह गीत गाती हैं-

कहाँ न उपजे दौउरिया कहाँ न टिपरिया रे,  
कहाँ न तो उपजे वीरन भैया चीकट लय आयरे।  
डुमरा घर उपजे दौउरिया बजाजे घर चुनरी रे  
माई कूख उपजे वीरन भैया चीकट लय आयै रे।।

इसके अनन्तर 'कन्नर' लोकरीति में नाउन बहन, भांजे या भांजी और मामा की लटों को हाथ में लेकर उन पर पानी डालती जाती है। मामा यह पानी पान करता है। कन्नर गीत की परम्परा गाये जाने की है-

मामा और बहिन दोनों कन्हर लैय  
असर कलोरी मामा बहिनी खां देय

हरदौल को भांति दूल्हा देव भी बुन्देली-संस्कृति में पूजनीय हैं-

दीमान राजा मोरी जा पत राखो  
सब देई देवतों खों दूद मलीदा  
दूला देव राजा खों कोरे वरा  
मोरी जा पत राखो।

बुन्देलखण्ड के प्रत्येक गाँव में दूलादेव और लाला हरदौल के चबूतरे हैं। विवाह के पहले स्त्रियाँ यहाँ निमंत्रण देने आती हैं। इसके अनन्तर बारात जाने के बाद मोरतें लिखने आती हैं। हल्दी अक्षत से मोरते लिखी जाती हैं। बारात लौटने पर वर-वधू हरदौल और दूलादेव पर हल्दी में डूबे हाथ के पंजों के चिन्ह का दांते लगाने जाते हैं-

बुन्देला देसा के हो रैया राजों के हो,  
लाला बड़े रे लछारे तोरे नाव।

ऐसी लोक आस्था है कि यदि हरदौल को निमंत्रण न दिया जाये तो विवाह में अनेक समस्याएँ आ जाती हैं। जैसे तेल-घी कड़ाही में कम पड़ जाता है। इसी प्रकार जनेऊ गीतों में उपनयन संस्कार का चित्रण मिलता है।

गोकुल में ठाढ़े बरुना जनेऊ करे रे  
हे कोउ नगरी में राजा जनेऊ कर डारे रे  
गोकुल के राजा वसुदेव जनेऊ कर डारे रे  
है कोउ लगरी में रनियां रुच भिखइया सजावे रे,  
गोकुला की रानी देवकी रुच भिखइया सजावे रे।

बरुआ को मां और अन्य महिलाएँ भीख डालती हैं-

क्षमा कर बदली क्षमाकर मोरी भिखइया परन दे रे,  
कब बाबा जइहे बजरिया हरद लय अइहे रे  
कब दादी पेरी रंगइ है रुच भिखइया सजइहे रे

बरुआ पढ़ने काशी जाता है, परिवार के लोग मनाते हैं।

एक गीत है-

जेठ मास की दुपरिया मोरे बरुआ रिसाने जाये रे,  
है कोउ नगरी मां राजा मोरे बरुआ मनावे रे,  
बाबा है नगरी के राजा मोरे बरुआ मनावे रे

विवाह के पूर्व संस्कारों में कन्या पक्ष के लोग वर को रोकने हेतु तुफल दान करते हैं। फल, मिष्ठान, श्रीफल, वस्त्रादि देने की लोक-परम्परा बुंदेलखण्ड में है।

घोड़ी मेरे बारे बन्ना तुम्हें सोहे।  
कै लाख घोड़ी को दाम कियो।  
कै लाख तोरे है दाम सहजादे।  
नौ लाख घोड़ी को कियो दाम  
दस लाख तोरो हैं दाम सहजादे।  
घोड़ी भरे मेरे बारे तुम्हें सोहे।

विवाह का मुहूर्त (लग्न पत्रिका) लग्न वर के हाथ में भेंट की जाती है-

राजा दशरथ फूले न समाये।  
लग्न आई हरे हरे, लग्न आई मेरे अंगना।  
आजा फूले आजी फूली फूलों सब परिवार।  
रामचन्द्र जी ऐसे फूले जैसे फूली है फुलवार।

सम्बन्धियों के यहाँ बन्ना या बन्नी के निमंत्रण होना आरंभ होता है- स्त्रियाँ बन्ना या बन्नी के भाल पर चन्दन लेप करके विवाह के घर लाती हैं।

ये तेरे माथेन मुकुट, राई भरे किन्ने  
हो में दीन्हो हो मोरे पान  
ऐ मोरे रानी के दूल्हा, ए शहजादी के दूल्हा  
ये तेरी आजी, ताई काकी के झुण्ड  
ये तेरी माई मौसी के झुण्ड

‘रतजगा’ में देवताओं को मनाने की बुन्देलखण्ड में परंपरा है-

गणेश मनाइयों हो मेरे बड़े बूढ़े आपने।  
मेरो ऐसो गबर गणेश-गणेश मनाइयो  
जल थल के थोबन हार गणेश मनाइयो।  
लज्जा के राखहार, गणेश मनाइये।

इसके दूसरे दिन स्त्रियाँ गीत गाती माता के मंदिर जाती हैं-

मैया खोल किवाड़ झड़प किवाड़ हरो रंग भींजत है।  
मइया कोई होवे दरबार हरो रंग भींजत है।  
बड़े बूढ़े अड़े दरबार हरो रंग भींजत है।

घर लौटकर एक स्थान पर स्त्रियाँ मांगर के नेग गीत गाती हैं-

मांगरवारी जो कौशल्य्या तो मांगर किन करो।  
जो वाला मांगर होय तो राम लक्ष्मण ओली ले लो।  
मांगरवारी जो सुमित्रा वो मांगर किन करो।  
जो वाला मांगर होय तो लक्ष्मण शत्रुहन ओली लो।

हल्दी लेपन के समय जो गीत गाया जाता है, वह इस तरह है-

हल्दी हल्दी हल्दोली हारो उपजी है सिंघल द्वीप में,  
हल्दी कहे में पिपरी हारो (मो बिन कारज न होय हो)  
ऐसी हरद मेहंगी भई हारो बिके रुपया सेर हो  
ऐसी दूल्हा की भैया लाड़ली हारो वे बनिया के जाये हो,  
बनिया हो लड़का ओरे राखे रात बसाये हो।  
रात बसाई न बसे, वे तो समझ गई दिल मांज हो।

कन्या के घर बारात आने पर स्त्रियाँ अपने गीतों से मंत्रमुग्ध करती हैं-

सांकर खोर तुम्हारी बाबा रामा हथिनी पग नहीं देय।  
बाजत आवे अबले और तबले घूमत आवै निशान।  
नाचत आवै सजन जू के पातुर उड़त आवै गंगधूर।

काहिल पूजो में अबले तबले काहिल पूजौ निशान।  
धिया गुर पूजौ में अबले तबले दहिया में पूजो निशान।

बारात आने पर द्वारचार का चित्रण बुन्देलखण्ड के लोक-  
साहित्य में जीवन्त ढंग से हुआ है -

कोट नवै पर्वत नवै सिर नवये न जाने,  
हमरे बाबा रामा जब नवै जब साजन आये ।  
जनक नगर के कोटिया जिनने कोट उठाये,  
अवध नगर के साजन चढ़ व्याहन आये।  
जनक नृपत महाराज मौतिन चौक पुराये,  
गुरु वशिष्ठ ने सब देव पुजाये।  
सतानंद महाराज ने सबके चरण छुवाये,  
कोट नवै पर्वत नवै सिर नवये न जाने।

चढ़ाव चढ़ाने के लिए मंडप में कन्या का श्रृंगार करने के  
समय नारियाँ गीत गाती हैं-

कोमा गोही बिनिया कोमा गोयो हार  
कोया लड़ेरी के करत श्रृंगार।

मण्डप में कन्या के आने पर पण्डित गौर-गणेश का पूजन  
कराते हैं-

पूजो बेटी गौर गनेश मनावा बेटी सरसुतिया।  
कहा दहहैं गौर गनेश कहा दइहैं सरसुतिया।  
घर वर दइहैं गौर गनेश दइहैं सुरसुतिया।

इसके बाद वर पक्ष से लाये वस्त्र-आभूषण गौर-गणेश को  
समर्पित करने के बाद कन्या को चढ़ाये जाने पर नारियाँ गीत गाती  
हैं।

चढ़त चढ़ाव लड़ेलरी का देखे संसारी रे,  
एक न देखे दादुल उनके जिनकी कन्या कंवारी रे।

बुन्देलखण्ड के लोक-साहित्य में वर को बन्ना और कन्या  
को बन्नी कहते हैं। भांवर के सात फेरे का वर्णन स्त्रियाँ करती हैं-

पहिल तो पहिल भांवर बप्पा अवाई तुम्हारी रे,

तीसर तो तीसर भांवर बप्पा अवाई तुम्हारी रे,  
सतई तो सतई भांवर बप्पा भई है विरानी रे।

बुन्देलखण्ड में वर द्वारा कन्या की माँग में सिन्दूर भरने के  
पूर्व कन्या गौरी के मंदिर से सुहाग लेती है। इसके बाद धोबिन  
अपनी मांग का सिन्दूर देती हुई कन्या को अखण्ड सौभाग्यवती  
का आशीर्वाद देती है। अन्य स्त्रियाँ भी सुहाग देती हैं। सुहाग का  
यह गीत है।

अरी मैं क्या जानूं सुहाग होन लगा,  
वे गई ती लड़ेलरी बाबा रामा पासा,  
उनकी अम्मा का सुहाग उनकी अम्मा का सुहाग,  
मोरी चन्द बदनिया पोरी भैया प्यारा लगा।

लावा परसाई के समय भाई लावा परसता है। स्त्रियाँ गाती हैं-

लावा परस भैया लावा तोरी बहिनी पियारी रे,  
इक तो पियारी तोरी बहिनी दूसर बहनोइया  
भांवर एवं पांव पखरई के बाद वर।

कन्या को कुलदेवता के कक्ष में ले जाते हैं-

सखी री भांवर पर गई बाती मिलन एवं पीतर गई लिवा।  
सखी री सोहे जोड़ी चारों भइयन की शोभा बरन न जाय।

वर के साथ बैठे लोगों को कलेवा खिलाने के समय  
स्त्रियाँ गाती हैं -

बिराजे चारों भैया करें कलेवा।  
ठिकरी सिया जी की मइया लय कंचन थारी।  
सारी सरज हंसुआ हँस पूंछन लागी।  
दो गोरे तुम भैया दुई सांवर कैसे  
बोले लक्ष्मण भैया हँस उत्तर दीन्हा

मानवीय मूल प्रवृत्ति, परिवर्तनशील प्रकृति का अद्भुत  
संगम है लोक-साहित्य। यही लोक-साहित्य का वास्तविक  
प्रतिबिम्ब है। मौखिक रूप से संचालित यही लोक ज्ञान भी है।  
इनमें लोकमानस के सुख-दुःख की लयात्मक अभिव्यक्ति मिलती  
है।

## राजा नल की कथा

लक्ष्मीनारायण गुप्त 'विश्वबंधु'

लोक-चिकित्सा और उपचार की लोक पद्धतियों में तंत्र-मंत्र और यंत्र का बड़ा महत्त्व है। नजर उतारने से लेकर मूठ उतारने तक प्रत्येक के अनेक उपाय लोकजीवन में विद्यमान हैं। नये बने मकान में जूता या काली मटकी बांध देना तंत्र विधान है। संस्कृत, अपभ्रंश और लोक भाषा में कुछ गुणगुणाना मंत्रोपचार है, इससे देवी-देवता प्रसन्न होकर मनोवांछित फल देते हैं और गले में, बाँह में या कलाई में कागज या भोजपत्र में कुछ अंकों का आड़ा-तिरछा लिखकर बांध लेना उपचार का यंत्र-विज्ञान है। यह विधा या विज्ञान तांत्रिकों का तो है ही, वैष्णवों और शैवों में भी कुछ-कुछ परिष्कार के साथ आज भी प्रचलित है। देवी-देवताओं के पास जलती धूनी या अगरबत्ती की विभूति की अभिमंत्रित फूँक से अनेक प्रकार की अलाय-बलाय दूर हो जाती है। दशा बदलने हेतु सबका उपयोग होता है।

लोक-जीवन व्यावहारिक जीवन है। यह परिवर्तनशील है और व्यक्ति के हालात या दशायें बदलने में देर नहीं लगती। राजा व रंक सभी का जीवन बदलते हुए हालातों/दशाओं के अधीन होता है। राजा नल और राजा बल पौराणिक या प्रागैतिहासिक पुरुष हैं। बल, वैभव, प्रभाव और लोकप्रियता से संपन्न ये भी दशाओं की मार से नहीं बचे हैं। दशायें सुधारने के लिए और अवांछित दशाओं के आगमन से बचने के लिए कुछ साधनाएँ लोक-जीवन में प्रचलित हैं। लोक-जीवन प्रत्येक मनोभाव को देवी या देवता के रूप में आराध्य मानकर निष्ठापूर्वक उनकी आराधना और उपासना करता है। ऐसी ही एक दशारानी देवी की उपासना की यह लोककथा है, जिसमें राजा नल की बुरी दशा जब तक रही वे घनघोर दुःख से गुजरते रहे और जैसे ही उनकी रानी ने संयोगवश दशारानी का व्रत किया। उनकी बिगड़ी हुई दशा सुधरने लगी और उनका राजपाट उन्हें फिर से मिल गया। रानी दशारानी के गंडा धारण कर व्रत करती है जिससे उसके दुर्दिन समाप्त हो जाते हैं। यह लोक में संतुष्ट, अभिशाप और संन्यास भोगते जीवन के निवारण के उपचारात्मक उपाय हैं। प्रस्तुत लोक-कथा का आधार कुछ ऐसा है-

ऐसे एक राजा नल और एक राजा बल हते। राजा नल राजपाट प्रजा और सेना सहित धन-धान्य और सुख से सम्पन्न रहत हते। राजा की रानी अपने ठाट-बाट पर इतराती और गरब के मारे न काऊँ को मान-सम्मान करती, न काऊँ की बात मानती। देई (देवी)- देवता की पूजा-रचा और धरम-करम में थोरेऊ न पतियाती। एक दिन रानी की चेरी सेवा में हाजिर न भइ तो रानी ऊ पै बहुत बरसी, खरी-खोटी सुनाई और ऊ को अच्छी तरा पानी उतार दओ। चेरी ने विनय करी- 'रानी काल हमने दशारानी के गड़ा (गण्डा) लए ते। ई पूजा से अच्छी दशा आ जात है, अच्छी दशा बनी रहत है और बुरे दिन फिर जात हैं। रानी अभिमान में भरी ती। रानी ने चेरी को तिरस्कार करो। रानी ने दशारानी की पूजा को भी भली-बुरी कई। चेरी दुःखी होके खून जैसो घूंट पीकर रह गई।

देई-देवता काऊ के बस में नई रहत। रानी की बातन से दशारानी नाराज हो गई। रानी को फटकार लग गई। उनके अच्छे दिन बदलन लगे। पड़ोस में राजा बल को राज हतो। राजा बल को राजा नल के वैभव व सौभाग सौँ ईरसा हो गई। राजा बल ने राजा नल को हरा कैँ ऊको राजपाट लूट लओ। राजा नल ने अच्छे दिन देखे हते, वे अब परजा के सामने मुँह दिखाने लायक नहीं रहे, उनको बड़ी कायली लगी। सो देस छोड़ परदेस चल पड़े। रानी राजा को कछु समझ न परी के ऐसो सब कैसे हो गओ। परजा, मंत्री अब राजा से कोऊ मतलब न रखें। फटो दूध और बिगड़ो राजा त्यागन जोग ही होत हे।

राजा नल रानी के साथ जंगल-जंगल भटकत-भटकत एक तालाब के किनारे पहुँचे। राजा नल भूखे हो गए ते। रानी से बोले-'रानी तुम जंगल में जो लो थोरी सी लकड़ियाँ बीन लो तो लो हम तालाब से मछरियाँ मार के ले आएत हे। आज मछरी भूँज के आहार लै लैहें।'

राजा नल तालाब से कछु मछरियाँ पकर लाए। रानी के ढिग मछरियाँ रख कै बोले- 'तुम जाको भूँजो जौ लौ हम नहा कै आहत हैं।' रानी ने मछरियाँ भूँजी राजा के जातइ मछरियाँ चेतन हो गई और उछल-कूद कै ओई तालाब में पहुँच गई। रानी को बड़ों अचरज भओ, जो का हो गओ। मैं राजा को अब का जवाब देअ हूँ। रानी हक्की-वक्की सी नांय-मांय देखन लगी। कछू सूझ न परो का करें।

तनकऊ देर में राजा नल नहा के आ गए। खावै को उनने मछरियाँ मांगी। रानी ने सोचो राजा से सच्ची बात कहूँ तो राजा पतियारै नई कै भूजी मछरियाँ कैसे कै तालाब में उचक जैहें, सो रानी ने राजा नल से झूठइ क दी-' राजा हमें सोई बड़ी भूख लगी ती सो मछरियाँ हमई ने जीम ली।' राजा संतोषी हते। कहन लगे कोई हरज नहीं, काऊ एक की भूख तो बुझी। वे आगे जंगल में चल दए।

राजा नल धार्मिक आस्था के व्यक्ति हते। चलत-चलत सोचत जावते चलो रानी की आत्मा भूख से तृपित भई तो हमऊं खों अब सतावै न करिहे। रानी ने सवई मछरियाँ जीम लीं जा बात उनके गरे से नई उतरै पर का करें पतनी की बात पर विश्वास न करवै से दंपति जीवन में झंझट तो होवे हे। राजा नल मन को समझावे में लगे तो उते पेट में चूहियां उछल-कूद रही ती। रस्ता में एक नदी दिखी। नदी के कछार में मीठे-मीठे तरबूज लगे दिखे। राजा के मन में आई, चलो इनई से भूख बुझाएं। जो पापी पेट तो माने नई।

राजा नल और रानी एक झाड़ के नीचे बैठ गए। राजा तरबूज ले आए उनने पटक के ऊकौ फोड़ो और जेसई खावै को हाथ में उठाओ, दोनऊं के हातों से तरबूज नीचे गिर गओ और टुकड़े लुड़क-लुड़क के पथरा बन गए। राजा बोले- 'रानी जो का भओ! भारी अचरच! ऐसे न कभूँ देखो न सुनो।' रानी रूँआसी हो गई। महलों में मेवा-मिष्ठान खावे बारी रानी को आज तरबूज भी दुरलभ हो गओ। उनसे रहो न गओ बोलीं-' राजा खराब दिन आ गए हैं, राजा नल की अवेरा परी, भूजी मछरी दौ में गिरी। राजा ने कई, ई को का मतलब। रानी ने मछरियन की कथा कह सुनाई- राजा, राजा हमने वे भूँजी मछरियाँ खाई नई थी, वे तो भुंजी भुंजाई तालाब में उचक गई थी। आपको झूठ न लगै इसे हमने कह दई थी, मछरियाँ हमने जीम लीं।' राजा नल की आँखों से अंसुआ ठर आए। हाय! हमाए दुरदिन आ गए हैं। लगत है कोई देवी-देवता की फटकार है!

राजा नल आगे बढ़े, न जाने आगे को देरा कहां होय। भूख, घाम, थकावट से हैरान राजा-रानी एक तालाब के किनारे से गुजरे। तालाब के किनारे बहुत से बगला पांत बनाए बैठे ते। राजा भूख से व्याकुल हो रये ते, सोचो एकाद् बगलइ फंस जाए तो

भोजन हो जैहै। राजा ने अपनी धोती खोली और बगुलन पर डार दई। बगुला ई अनचीती विपद से बचवे के लाने फर से उड़ गए और राजा की धोती को उड़ा ले गए। हाय रे दुर्भाग, राजा सिर पीटकर रोवे बैठ गए। रानी ने अपनी साड़ी को एक टुकड़ा फाड़कै राजा को पहिनवे दओ, तब जाकै उनको समाधान भओ। 'रो न राजा, जा भोगमानी तो भोगनेइ पर हे, न जाने कौन जनम के पाप उदय भए हैं।' रानी ने राजा को समझाओ, और आगे खों चल पड़े। रानी के मुँह से निकरो-

*बगुला धोती ले गए पाथर भए तरबूज।  
जा कैसी विपदा पड़ी, जांय कहां पै बूझ ॥*

राजा रानी चलत-चलत सोचन लगे, वे राम का करें, कैसे जा विपदा कटहै। रानी ने कई-'राजा आपकी बहना तो इतई कहूँ राज करत है, सो चलिए ऊकी भी पेहचान कर लें विपद में तो बहन भइया को सहारो देतइ हे। राजा-रानी बहन के राज में पहुँचे। नगर के पहरेदारों से बोले-'भइया ई नगर की रानी हमई बहना है। हम पै विपदा आन पड़ी है। आप जाके हमई' बहना को संदेस दे दें राजा नल आए हैं। मुसीबत में हैं।'

पहरेदारन ने जुहार करके राजा नल को कहो अपनी रानी से निवेदन कर दओ। रानी ने पूछी-'भइया कैसे आए हैं।' पहरेदारन ने कई-'चीथरा लटकत आए हैं, कूकरा भौंकत आए हैं' (चिथड़े पहने हैं और कुत्ते उन्हें देखकर भौंक रहे हैं) रानी ने हुकुम दओ-'दे दो कुमहार के डेरा'। राजा नल और रानी को कुम्हार के अवा के पास बाहर गांव डेरा दे दओ गओ। राजा नल बहुतई दुःखी भए पर का करते। बुरे बखत में जो जित्तो साथ दे दे उत्तई बहुत है।

संज्ञा के रानी थालों में हीरा मोती पकवान मिठाई भर के भइया की भेंट को लाई। 'जा कैसी हालत बना लई भइया - बहना विलख कर रोई। राजा ने कही, करम को लिखो कोई नई मेंट सके। राजा ने राजा बल से लड़ाई और हारने की बातें बताई। बहना समझा बुझाकर भेंट देकर चली गई। राजानल अपनी रानी के साथ सुखी भए। कपड़ा उघार के थाल देखे तो हीरा-मोती की जगहा कांकड़ा पाथरा भरे ते। पकवान के थाल में दाल-भात भिनक रओ तो। 'हाय येइ प्यार आय जताओ वेन ने।' राजा-रानी ने दो-चार कौर दाल-भात के खाए। रानी कहन लगी- 'जीजी ने जे कंकरा पत्थरा भेज के और जूठन-जाठन भेज के भइया को

धरम निभाओ है। सच्ची कही है कोउ ने विपदा में कोउ साथ नई देत।'

राजा नल ने बहन की दी गई सबरी भेंट कुम्हार के चका के पास खोद के गड़ा दी और आगे कौं चल पड़े। आगे के नगर में राजा नल के एक बहुतऊ अच्छे मित्र को राज हतो। राजा ने बाबा तुलसीदास की चौपाई याद करी-'धीरज धरम मित्र अरू नारी। आपद काल परखिए चारी।' रानी से बोले- रानी चलो ई आपदा में अपने मित्र खों भी परख लइए- 'जब नीकें दिन आइ हैं बनत न लगिहे देर'। 'हमाए दिन खराब हैं का जानें मित्र की सहायता से दिन फिर जांय।' सोच-विचार करके राजा- रानी मित्र के नगर में पहुँच गए। मित्र को पहरेदारन से खबर भेज दई। मित्र की आपदा सुनके मित्र राजा दुःखी भए। राजा नल को घुड़साल में ठहरावे को उनने आदेश दओ और मित्र से मिलने की तैयारी में लग गए।

राजा नल घोड़ों की सवारी-करवे में कुशल हते। रथ भी अच्छी तरा हांक लेत ते सो घुड़साल में उन्हें अच्छो लगो। ठहरने में कोई दुःख ना भओ। धीरे-धीरे अंधेरो बढ़न लगो। घुड़साल में मीठे तेल की बत्तिया जला दी गई। मित्र राजा नल अब तक न आए ते। राजा नल को भोजन आ गओ पर मित्र राजा के देर से आवे की सूचना में ही वे धीरज से बैठे रए। राजा नल बैठे-बैठे घुड़साल में लगी एक खूंटी को निहार रए थे। खूंटी पर घोड़ों के पहरवे के हीरा-मोती जड़े सोने के हार टंगे थे। राजा नल ने रानी को खूंटी दिखाई। अद्भुत दृश्य हतो। खूंटी हारों को लील खा रही थी। राजा नल घबरा के उठे बोले- रानी उठो चलो देखो जा खूंटी हार लील रई है। अपने खराब दिना चल रए हैं। ई घटना से हमें चोरी लग जेहे। चलो-चलो इतै से तुरत निकल चलें। वे बोले -

*खूंटी लीले हार हमें चोरी लग जइहै।  
दुर्दिन देख विचार फजीता हमरी हुइहै ॥*

राजा नल रानी के साथ अंधेरे में आगे चल पड़े। भटकत-भटकत ठोकर खात-खात दूसरे नगर में आधी रात के बाद पहुंचे। नगर के बाहर एक दीया की टिमटिमाहट दिखाई दई। सोचा उहां कोउ हुईहै तो रूक लेवी नई तो ई रात में जनावर खा लेहें। दीया की टिमटिमाहट की ओर बढ़े तो एक शिवजी के

मंदिर में पहुँच गए। राजा-रानी ने दालान में डेरा डाल दओ। मंदिर में और कोऊ न हतो। राजा-रानी की आँख लग गई। तवई दो चोर राजा को माल चुरा के लाए और बा तरफ बैठ के बंटवारा करन लगे। चोरों की बातचीत में राजा-रानी की आँख खुल गई। वे कछु-कछु फुसफुसाने लगे। आहट पाके चोर समझे राजा के सिपाही आ गए सो सबरो माल मंदिरई में छोड़ कै भाग गए। राजा-रानी के कछू समझ न परी। वे सुवेरो होवे के इंतजार में परे रहे।

चोरों के भगतइ राजा के सिपाई मंदिर में आन धमके। चोरी के माल के पासई राजा नल को परे देख समझ गए ऐई ने चोरी करी है। जो चोर बनठन कर सो रओ है। बचवे के लाने पतनी को भी साथ में ले आओ है। राजा के सिपाइयों ने राजा नल को ठोकर मारकर उठाओ। बोले-‘चोर साले, राजा का माल चुराकर यहाँ अंधेरे में ढोंठा कर सो रओ है। चल उठ राजा के पास चल अवई तोरी खाल खिंचवाय के भूसो भरे देत हैं। राजा नल भौंचके हक्के-बक्के दाएं-बाएं देखन लगे। अरे जो का हो गओ। हम कहाँ आके फँस गए। अब तो परेशानी की हदइ हो गई। हाय राम अब का करिए। हाथ जोड़ कर राजा के सिपाहियों से विनती करन लगे। भइया हमने कोई चोरी नई करी। हम तो राही हें रात हो गई तो मंदिर में विसराम खों आ गए। जो राजा को माल कौन कब रख गओ हमें तनकऊ पतो नइया। राजा के सिपाहियों ने कोड़ा फटकारा-‘नमक हराम झूठ बोलता है। चोरी और सीना जोरी। राजा नल के मुँह से निकल पड़ो -

*और करे अपराध कोई और दंड कोई भोग।*

*अति विचित्र भगवंत गति को जग जाने जोग ॥*

सिपाहियों ने एक ने सुना। राजा नल को घसीटते राजा के दरबार में ले गए। भुनसारे सूरज चढ़ते राजा का दरबार लगे। देस का राजा चतुर और लोकप्रिय रहो। उसके सामने चोर के रूप में राजा नल और उनकी रानी हाजिर किए गए। राजा नल को आधी साड़ी लपेटे देख और रानी को आधी साड़ी में देख राजा को विस्वास नई भओ के जे लोग चोर हैं। राजा ने पूछा जे दोनों तो विपद के मारे लगत हैं, न मोंपै चोर जैसी चालाकी झलके है न तन-बदन में सभत दिखे हे। राजा, राजा नल से कुछ पूछें ऊके पहलेइ सिपाहियों ने निवेदन कर दओ, नई महाराज जे बड़े पक्के और चालाक चोर है। वेस बदलवो, अभिनय करवो इनकी आदत

हे। इन्हें तो कड़ी से कड़ी सजा दई जाय, महाराज। राजा नल पर दशारानी की फटकार हती सो कोई ने कछु न सुनी और राजा नल और उनकी रानी को जेल में डाल कै उनसे मजदूरी करवाइन लगे।

राजा नल ईमानदारी से प्रजा पालन कर रहे ते। उनकी ई दसा पै भगवान को जरूर तरस आओ हुऐ। एक दिना की बात है जब राजा नल और उनकी रानी घुड़वो की लीद ढो रये ते तो घुड़साल में एक घोड़ी बया गई। राजा-रानी ने सफाई और देख रेख करी। रानी को कछू याद आई-बोली,-

*जाकों प्रिभु दारून दुःख दीन्हों।*

*ताकी मति पहले हर लीन्हों।।*

भगवान खों हमें दारून दुख देने हतो ई से मोरी मत मारी गई ती। हमें याद आउत है-‘जैसे आज जा घोड़ी व्यानी है ऐसे एक दिना अपनी घोड़ी व्याई ती। वा दिन अपनी चेरी ने दसा रानी के गड़ालये ते। वो काम पै न आई ती’ हमने उहै डाट फटकार बताई थी। उने हमें भी दसारानी के गड़ा लेके व्रत करवे को कही ती। हमने अभिमान बस ऊको अपमानित कर फटकार लगा दई थी। राजा ओई दसारानी की फटकार लौटके हमें लग गई। राजाबल जो हमाए मित्र हते, उनने अचानकई हम पै हमला करके हमाओ धन-बल छीन लओ और देस निकारो दे दओ। राजा, हम बिसर गए ते कै हमाए ऊपर भगवान भी होत हैं। राज-पाट के भोग-विलास ने हमें भगवान से दूर कर दओ तो। हम आजई, अक्वई दसारानी के गड़ा बना के दस दिना को उनको व्रत करवी।’ रानी ने अपनी साड़ी से दस धागे निकारे और दस धागे राजा की पगिया से लए। दोइ को मिलाके दसारानी को दस गाठें लगा कै गड़ा(गंडा) बनाओ और बाकी पूजा करी। दस दिना एक जोर भोजन करें दसारानी की कथा कही। दसमें दिना रानी ने उद्यापन करो तब दसारानी रानी की दसा देखकर पिघल गई। उनने राजा नल को फिर से राजपाट लौटावे को निर्णय कर लओ।

दसारानी ने राजा नल को बंदी बनावे बारे राजा को सपनो दओ-‘राजा तूने जिसे बंदीखाने में चोरी के अपराध में बंदी बनाओ है वो चोर नहीं हे, वो राजा नल हैं। मेरो तिरस्कार रानी ने करो हतो सो हमाई फटकार से ऊकी ऐसी दसा भई कै जंगल-जंगल, मारो-मारो फिरो काऊ ने वाको पानी को नई पूछी। जा में इच्छा



हती, तोरो कोइ दोस नइयां अब मोरी पूजा व्रत करवे से उनकी दसा बदल गई हे सो तुम उन दोनन को कल ही सवरे आदर सहित छोड़ केँ धन-दौलत दे केँ विदा कर दो नई तो हम तुमाओ सब राजपाट नास कर देही।’

राजा ने सवरे सपने की चर्चा मंत्रिन से करी। बंदीखाने जाकेँ राजा नल जो बड़े परतापी राजा हते, से परिचय पाकेँ उन्हें छोड़ दओ और अनजानी भूल-चूक के लाने उनसे माफी मांगी। राजा नल और रानी को नहवाके, तेल फुलेल करवाकेँ राजसी ठाट-बाट के वस्त्र पहिनवाए। मान-सम्मान, धन-दौलत, फौज-फाटा देकेँ कछु दिन सुख से रखकेँ उनकी गाजे बाजे, तंवू नगारे से विदा करी और देस भर में उनके सापमुक्त होवे की डुंडी पिरवा दई। राजा ने राजा बल पै हमला करवे की सलाह भी राजा नल को दई।

राजा नल के मित्र राजा ने जब डुंडी से खबर सूनी तो वे बहुतइ पछताए। सोचन लागे हमसे बड़ी भूल भइ। हम राजा नल को पहचान न पाए। उन्हें घुड़साल में डेरा दओ। वे एई से बपमान के मारे बिना पूछे चले गए। मित्र राजा शरम के मारे गड़े जा रहे थे। वे राजा नल के लौटते समय उनके मारग में उनके सम्मान हेतु खड़े हो गए। मित्र राजा ने राजा नल की बड़ी आवभगत करी उनसे क्षमा मांगी और उपहार में धन-दौलत सेना आदि देकर कहा- आप राजा बल पर हमला करें, हम आपकी मदद कर हें। राजा नल ने मित्र राजा को गला लगा केँ कही मित्र आपको कोई दोस नईयां हमाए दिन ही वैसे रहे हें। राजा नल, घुड़साल मित्र राजा कों ले गए उनने बताओ देखो मित्र जा खूटी आपके चोरी गए घोड़ों के हार उगल रही है, वा दिन जा हार लील रही थी, जब हम यहाँ ठहरे हते, एई से चोरी लगवे के डर से हम रातईरात भग गए ते। मित्र राजा से विदा लेकेँ राजा अपने राज को चले तो रस्ता में राजा नल की बहिन मिल गई।

राजा नल की बहन गले से लग के भइया से खूबई रोई। अपनी गलती पै पछिताई। राजा ने कहीं-‘बहन तुमाओ दोस नई। वो तो दसारानी की फटकार हती सो हमने कष्ट पाओ। बहन तुमने काकर-पाथर थाल में भेजे वे भी हमाए काम न आए।’ बहिन सुनकर रो पड़ी-‘नई भइया मैंने हीरे मोती पकवान मिष्ठान भेजे ते।’ राजानल ने कही, जो कछु भेजो तो कुम्हार के चाक के पास

हमने गाड़ दओ तो, तुमई देख लो। बहिन-भइया ने जमीन खोदी तो थालों में झलझलाते हीरे-मोती निकले, दोनों हिलहिला केँ रोए दसारानी को अपमान करवे से जो सब भओ तो। बहिन, भइया-भाभी को सुख से घर रखनो चाहत ती। राजा नल ने कही-‘बहिन अवै हमें अपना राज वापिस लेने है। हमें जान दे, बहिन बहनोई ने राजा नल को राजसी ठाटबाट से विदा करी, धन-दौलत के साथ फौज भी दई। राजा नल खुसी से अपने राज को चले।

राजा नल रथ पै चले जा रये थे कि बगलों का झुंड उनकी धोती लाकर उनके ऊपर उड़ाकर उड़ गए। राजा नल ने रानी से कही यह वही धोती है, जिसे बगुला पकड़ने हमने उनके ऊपर छोड़ी ती। अब दसारानी ने दसा बदली है तो वे दे गए हैं।

थोड़े और आगे चले तो वो नदी मिली जिसके तरबूज राजा ने तोड़कर खावो चाहो हतो। तरबूज तब पत्थर वन गओ तो। अब तरबूज राजा के रथ के आगे-आगे लुढ़कने लगे। रास्ता रूक गओ। राजा-रानी ने पुरानी व्यथा याद करें तरबूज फोड़े और खाये। बहुत मीठे लगे। राजा के दिन फिर गए ते। तालाब की मछरियां तालाब से निकर-निकर कर रास्ता में लोट गई। राजा ने कहा- रानी जो का है। रानी ने वही कथा दोहरा दी-‘राजानल की अवेरा परी, भूंजी मछली दो (जल) में परी। ये वेई मछरियां हें जो भूंज के रखने के बाद तालाब में उछल गई थी। तब हमाई विपरित दसा थी। अब अनुष्ठान से दशा बदली है, सो कृपाकर इन्हें भी साथ ले लइये।

राजा नल फौज-फाटे सहित अपनी राजधानी लौटे, उनने राजा बल पर जोरदार हमला करो। राजा बल मारो गयो। राजा के सवई मंत्री, सिपाई, कर्मचारी प्रेम से मिले कहन लगे-राजा हमाओ आपसे कोई विरोध नईया राजा बल ने हमें अपने बस कर राखो हतो। सो हम आपकी कोई सहायता न कर सके अब जो राज आपको है, आप सम्हारें। राजा सबसे प्रेम से मिले उनने कही कोई को दोष नईया सब करमन की गति है- ‘ऊधो करमन की गति न्यारी’। रानी ने दसारानी को अपमान करो हतो सो हमने दुख उठाओ। राजा नल और रानी अब सुख से रहन लगे। रानी समय-समय पै दसारानी के गड़ा लेंती। व्रत करकेँ उद्यापन करती। वे अपने समय के प्रसिद्ध राजा-रानी भए। कहन लगे-

*जै दसारानी, जैसी हमाई दसा फेरी, वैसी ही सबकी दसा फेरियो।*

### भारंगम के मुक्तांगन में लोककलाएँ

सुनील मिश्र

भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं में लोककलाओं की जड़ें बहुत गहरी हैं। आधुनिक सांस्कृतिक आयामों को जिन आधारों और अभिप्रायों के माध्यम से प्रेक्षकों और जिज्ञासुओं के बीच अपनी जगह बनाने में सफलता मिली है, उसमें आंचलिक संस्कृति के योगदान को नकारा नहीं जा सकता। समय के साथ लोककलाओं से शहरी और बौद्धिक वर्ग की एक बड़ी दूरी स्थापित हो गयी है। लोककलाओं के साथ उनकी तमाम मुश्किलें समय के साथ बढ़ती चली गयी हैं, जिनमें खासतौर पर आर्थिक धरातल पर संघर्ष और कठिनाई के साथ हासिल होने वाली उपलब्धियों को भी सराहने वाले नहीं रह गये हैं। ऐसे में धीरे-धीरे इनकी अस्मिता ही संकट में पड़ती जा रही है। हमारे देश के विभिन्न राज्यों में आज भी आंचलिक कलाओं का समृद्ध स्वरूप मौजूद है। नृत्य, नाट्य, संगीत और चित्रकला-शिल्पकला आयामों में आज भी लोक की साधना, तन्मयता और विशेषतौर पर निष्ठा का दूसरा उदाहरण न होगा, उसके बावजूद कलाकार, संवाहक कष्ट में हैं और संकटों से जूझ रहे हैं।

यह एक सराहनीय उपक्रम कहा जायेगा कि राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय द्वारा हाल ही में नई दिल्ली में सम्पन्न हुए भारत रंग महोत्सव में मुक्तांगन के रूप में एक अलग मंच ऐसी लोक प्रस्तुतियों के लिए सुनिश्चित कर दिया गया, जिनके साथ गहरी परम्परा जुड़ी हुई है। वे सीमाओं और संसाधनों के बावजूद अपने वजूद को बनाये रखने के लिए संघर्ष कर रहे हैं और एक और सबसे विशिष्ट बात यह कि आधुनिकता का आकर्षण उन्हें उस तरह से छू नहीं गया है कि वे अपनी विरासत को ही विस्मृत करने लगे। निश्चित रूप से इस बात का श्रेय राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के निदेशक और देश के शीर्ष रंगकर्मी वामन केन्द्रे को जाता है जो कलात्मक अभिप्रायों में लोक परम्परा की क्षमताओं और शक्ति-सामर्थ्य पर अटूट विश्वास रखते हैं। समय के साथ बदलाव और नवाचार तथा प्रयोगों के नाम पर हो सकता है, कुछ अतिक्रमणों से वे अपने आपको न बचा पाये हों लेकिन निराशा और हताशा के बीच भी वे इस सदी में अपने-अपने काम पर

हैं। उनका यह समर्पण प्रभावित करता है और इस पूरे मर्म के कद्रदानों के लिए आकर्षण भी रखता है।

मुक्तांगन में प्रतिदिन शाम छः बजे का समय 2 से 14 फरवरी तक ऐसी प्रस्तुतियों का रहा है। बीच के दो-तीन अन्तरालों को छोड़कर। इन दिनों में पंजाब से पंजाबी भाषा में कलेहरी आर्ट एण्ड कल्चर अकादमी मनसा की ओर से भोला कलेहरी के निर्देशन में नकल का मंचन हुआ। अवध आदर्श रामलीला मण्डली अयोध्या की ओर से महन्त जयराम दास के मार्गदर्शन में रामलीला का मंचन हुआ। द परफार्मर्स उदयपुर की ओर से राजस्थानी शैली में लईक हुसैन के निर्देशन में गवरी की प्रस्तुति हुई। छत्तीसगढ़ी पण्डवानी की शीर्ष तीजनबाई की ओर से लोकगायन प्रस्तुत किया गया। आविष्कार अहमदाबाद की ओर से कल्पेश दलाल के निर्देशन में मदलिया की प्रस्तुति हुई। यक्षगान केन्द्र उडुपी की ओर से गुरु संजीव सुवर्ण के निर्देशन में यक्षगान शैली में कन्नड़ भाषा में जटायु मोक्ष की प्रस्तुति की गयी। आनंदमोयी समिति बीरभूम पश्चिम बंगाल की ओर से बंगला भाषा में स्वपन कुमार साहा के निर्देशन में जात्रा शैली में कोलिर कर्णा कांदछे का मंचन किया गया। मध्यप्रदेश के विख्यात माचकार पण्डित ओमप्रकाश शर्मा के निर्देशन में मालवी लोकभाषा में राजा रिसालु का मंचन हुआ। इसी मंच पर सत्रिया सांस्कृतिक गोष्ठी नगाँव की ओर से असमी भाषा में अंकिया नाट-शैली में हीरो प्रसाद महंता के निर्देशन में श्रीराम विजय का मंचन किया गया। नविद मुक्तिद ईनामदार के निर्देशन में मराठी भाषा में ऐस्थेटिक वर्ल्ड लातूर महाराष्ट्र की ओर से भरुण की प्रस्तुति भी अहम आकर्षण थी।

इन प्रस्तुतियों को देखते हुए एक सम्यक बात यह उभरकर आयी कि अलग-अलग शैलियों में अपनी आंचलिकता के सभी स्वाभाविक आग्रहों के साथ कला के साथ निर्वाह कर रहे कलाकारों में प्रेरणा के स्रोत हमारे पुराण और इतिहास प्रमुखता से हैं। अवध आदर्श रामलीला मण्डली अयोध्या की सबसे पुरानी रामलीला मण्डली है, जिसकी परम्परा सदियों पुरानी है। कहा जाता है कि चार सौ साल पुरानी रामलीला मण्डली है यह। वर्तमान में बाबा जयराम दास पचास से भी ज्यादा वर्षों के अनुभवों से इस मण्डली का रक्षण कर रहे हैं, वे अपनी प्रस्तुति में पुरातन नाट्य-शैली, पारसी-शैली के मूल तत्त्वों को सतत् परिवर्तित समय में भी बनाये

रखकर हमें पुरानी स्मृतियों में ले जाते हैं। दिव्य स्वरूपों की झाँकी, राम-लक्ष्मण और सीता के पात्रों का मनभावन श्रृंगार, विनम्र संवाद-शैली और भावनात्मकता का पालन दिखायी देता है। यह ऐसा आकर्षण है कि दर्शक प्रस्तुति देखते हुए उस धरातल पर भी समरस होना चाहता है। पारम्परिकता का ऐसा ही प्रयोग असम की अंकिया नाट-शैली की रामलीला प्रस्तुति श्रीराम विजय में भी दिखायी देती है। यहाँ कला में आज भी श्रृंगार की पारम्परिक वस्तुओं का प्रयोग किया जाता है। कलाकारों के स्वरूप, मानस पटल पर अंकित छबि के अनुरूप प्रतीत होते हैं। मंच पर चलते हुए, बैठते हुए, युद्ध करते हुए और विभिन्न सकारात्मक-नकारात्मक चरित्रों के बीच की संवाद शैली हमें उसी सादगी के साथ बाँध लिया करती है। इस शैली में नाटकीय तत्त्व प्रभावित करते हैं और पात्र चयन की सूझ भी। इसी प्रकार यक्षगान शैली में जटायु मोक्ष का प्रस्तुतिकरण कलात्मक रूप से और ज्यादा समृद्ध और सम्मोहक लगता है। बावजूद इसके कि संवाद की भाषा कन्नड़ है, हम जटायु के संवादों में जिस तरह नीति और जीवन मूल्यों की बातों का दृष्टान्त सुनते हैं, वह अनूठा लगता है। बेहद कलात्मक और रंग-बिरंगी वेशभूषा, रूपसज्जा और मुखौटों के साथ प्रस्तुति के लिए तैयार होते हुए दिन भर के सृजनात्मक परिश्रम के नेपथ्य का साक्षी होकर लगता है कि वास्तव में कलात्मक अभिव्यक्ति में निष्ठा की जगह का क्या अर्थ होता है! इस प्रस्तुति के निर्देशक गुरु बनान्जे संजीवा सुवर्णा एक यक्षगान गुरु, नर्तक, निर्देशक, नृत्य संरचनाकार के रूप में ख्यात हैं। वे नृत्य नाटिका और यक्षगान के पारम्परिक रूपों में पारंगत हैं, साथ ही लोकसंगीत और ताल-वाद्य के ज्ञाता भी। अच्छे प्रशिक्षण और गहन पूर्वाभ्यास की आश्वस्ति इस प्रस्तुति में दिखायी देती है।

इधर हम प्रख्यात पण्डवानी गायिका तीजनबाई को देखते हैं जो छत्तीसगढ़ी लोकभाषा में महाभारत की गाथा से अंशों का गायन एवं प्रस्तुतिकरण पण्डवानी शैली में करती हैं। छल-कपट, धूर्तता, प्रेम-त्याग, वैराग्य, वीरता, कायरता आदि अनेक मानवीय गुणों-दुरगुणों के बीच रची महाभारत की गाथा के अपने अलग आकर्षण हैं, जिनको मंच पर देखना और सुनना प्रायः दुर्लभ होता है। बड़ी छोटी-सी उम्र से अनेक प्रताड़नाओं और मुश्किलों के साथ अपनी जिद और जुझारूपन से यह मुकाम बनाने वाली यह अहम गायिका आज भले लगभग सत्तर की उम्र की होंगी, मगर

उनके स्वर में, उनकी करुणा में और प्रसंगानुकूल वीरता के प्रदर्शन में पैर पटकते हुए भीम जैसे बलिष्ठ चरित्र का प्रभाव प्रस्तुत कर देना उसी कौशल के साथ देखा जा सकता है। तीजनबाई ने दुःशासन वध प्रस्तुत करते हुए एक बार फिर साबित कर दिया कि वे पण्डवानी का पर्याय हैं, रहेंगी। इधर जात्रा-शैली में कालिं कर्ण कांद्छे देखना जरा निराशाजनक रहा, क्योंकि मंच पर उसका प्रभाव न जाने क्यों दूसरे दर्जे की फिल्म से ऊपर नहीं उठ सका। निर्देशक स्वप्न कुमार साहा ने आधुनिक कुन्ती की कहानी को बड़े साधारण ढंग से प्रस्तुत किया, जबकि महाराष्ट्र से नविद मुकिद ईनामदार की प्रस्तुति भरुण, गुजरात से कल्पेश दलाल के निर्देशन में मदलिया ने गुजरात की लोक-संस्कृति और लईक हुसैन के निर्देशन में राजस्थान से गवरी तीन अलग अनुभव थे। लोक प्रस्तुतियों में किस तरह विद्रूपताओं से लड़ने का साहस है, वह समाज के दकियानूसीपन पर चोट करती हैं, वे सामाजिक बुराइयों को बड़े तीखे अन्दाज में आलोच्य ढंग से उजागर करती हैं। दिलचस्प यह है कि बातें रोचक ढंग से कही गयी हैं, आपको हँसाती हैं, आपका मनोरंजन करती हैं। वाकई यह समृद्ध तत्त्व न हों तो आप किस तरह उसके आकर्षण में बँधे रहेंगे! चटख रंगों वाले परिधान, चटख रंगों का श्रृंगार और अपने आपमें बिल्कुल डूबकर

अभिव्यक्त होने की निष्ठा भरी कला को वाकई सलाम है।

पण्डित ओमप्रकाश शर्मा की माच प्रस्तुति को देखते हुए वाकई ऐसी महत्वपूर्ण लोकनाट्य परम्परा के विस्मृत होते जाने की चिन्ता होती है। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के प्राध्यापक एवं इस पूरे लोक-प्रकल्प के सूत्रधार लोकेन्द्र त्रिवेदी बताते हैं कि उज्जैन मालवा की यह लोकनाट्य परम्परा के पण्डित ओमप्रकाश शर्मा अकेले साधक-साक्ष्य बचे हैं जो उम्रदराज हैं मगर उनकी लगन, समर्पण और ज्ञान में पूर्वजों की प्रेरणा और स्वयं की ईमानदार साधना आज भी उसी रूप में है। वे माच कथाओं को सहेजे हैं, माच संगीत उनकी शिराओं में बहता है, कल इन सबका क्या होगा? वाकई ऐसे प्रश्न केवल माच या पण्डित ओमप्रकाश शर्मा के लिए नहीं, बल्कि सम्पूर्ण भारतीय लोक-परम्परा के लिए चिन्तित करते हैं। हमारे पास संसाधन हैं पर संज्ञान और बोध के स्तर पर अवहेलनाएँ व्याप्त हैं। अगर हम अपने अभिलेखागारों को समृद्ध और संरक्षित नहीं करेंगे, यदि हम दुर्लभता के संग्रह और उसके महत्त्व को नहीं समझेंगे तो आने वाले समय में निश्चित ही समृद्ध विरासत के नाम पर हमारे पास बताने या जताने के लिए हमारी आंचलिकता और लोक से कुछ भी नहीं रहेगा, कुछ भी नहीं।

## लोकगीत और मालिनी अवस्थी

दीपक कुमार सिन्हा

स्वभाव से बिल्कुल सहज-सरल। दैनन्दिन पोशाक भारतीय नारी का प्रतीक साड़ी अथवा सलवार कुर्ता। बातचीत में बहुत फुर्तीली और हाँ, मंच पर जब कार्यक्रम प्रस्तुत करने पहुँचती हैं तब उनका पोशाक होता है- लोक-संस्कृति का प्रतीक लहंगा-दुपट्टा और आभूषण नाक में स्त्री सुन्दरता का प्रतीक मोती जड़ा झिलमिलाता सोने का नथिया। गोरी-पतली काया की मलिका हैं। आज भोजपुरी-अवधी लोकगायिकी की प्रतीक मानी जाती है। जी हाँ, बात हो रही है, उत्तरप्रदेश के कन्नौज की मूल निवासी श्रीमती मालिनी अवस्थी की।

अवध की यह लाडली भोजपुरी वातावरण में पली-बढ़ी और यहीं की लोक-संस्कृति को अपने जीवन का अभिन्न अंग बना लिया। हालाँकि परिवार के सदस्यों की इच्छा थी कि वह प्रशासनिक अधिकारी बनें, किन्तु लिखा था लोक-संगीत की यशस्वी साधिका बनना। इसलिये विवाहोपरान्त इसी क्षेत्र को अपना कर्म क्षेत्र बना लिया। मालिनी अवस्थी का इस क्षेत्र में आना और सफलता की मंजिलें तय करना बहुत ही चुनौतीपूर्ण होने के साथ ही दिलचस्प भी रहा है। प्रस्तुत है उनसे आत्मीय माहौल में हुई बातचीत के संक्षिप्त अंश-

- प्र. आपने शास्त्रीय संगीत की विधिवत शिक्षा ली है, फिर लोकगीत गायिका बनीं, ऐसा क्यों?
- उ. इसलिये कि शास्त्रीय संगीत भी लोक-संगीत से ही जन्मा है। इसकी जड़ें हमारे पुरखों से जुड़ी हुई हैं। शास्त्रीय संगीत सीखने से मुझे राग एवं ताल की विधिवत जानकारी मिली।

- प्र. आपकी गायिकी में शास्त्रीय संगीत की स्पष्ट झलक दिखाई पड़ती है, जबकि लोकगीत के अन्य गायक-गायिकाओं में ऐसा नहीं दिखायी पड़ता है?
- उ. ऐसा इसलिये क्योंकि मैं अवधी और भोजपुरी के लोकप्रिय रागों जिसे शास्त्रीय संगीत में भी गाया जाता है, वही गाती हूँ। जैसे-पूरबी, चैती, होरी, कजरी और संस्कार गीत तो हर लोकगीत गायक-गायिका गाते हैं, मैं भी गाती हूँ। इन गीतों को जब मैं गाती हूँ, तब हमें एहसास होता है कि जैसे प्रेम की वर्षा हो रही है। बहुत ही सुखद क्षण होता है वह मेरे लिये।
- प्र. आप तो आजकल बिरहा भी खूब गा रही हैं। बिरहा प्रमुख रूप से पुरुष कलाकारों द्वारा ही गाया जाता रहा है। इसका कारण स्पष्ट करना चाहेंगी?
- उ. अवश्य मैं भी मानती हूँ कि बिरहा पुरुष-प्रधान लोक गायिकी है। लेकिन उसके प्रसंग को आप ध्यानपूर्वक सुनिये। स्त्रियों के प्रेम-विरह और हास-परिहास के ऐसे-ऐसे प्रसंग इसमें आपको मिलेंगे, जिससे यह स्पष्ट हो जाएगा कि बिरहा गायिकी पर न केवल पुरुषों का बल्कि महिलाओं का भी अधिकार है। हाँ, यह सही है कि इस लोकगीत शैली को गाकर पुरुष कलाकारों ने खूब ख्याति अर्जित की है। फिर महिला कलाकार को इसे गाने में कोई रोक तो है नहीं। जरूरत है उसे पूरी लयकारी और क्षेत्र विशेष की परंपरा के अनुसार पूरी तन्मयता के साथ श्रोताओं के समक्ष प्रस्तुत किया जाए। जब मैं श्रोता दर्शकों के समक्ष बिरहा प्रस्तुत करती हूँ, तो भरपूर आनंद आता है। इसका एक उदाहरण देना चाहती हूँ, यह बहुत ही लोकप्रिय बिरहा है-

*छोटका बलमुआ मोरा बड़ा नीक लागे.....*

यह निश्चित रूप से महिलाओं द्वारा गाया जाने-वाला बिरहा गीत है। समय और परिस्थितिवश यह पुरुष लोक-गायकों का लोकप्रिय गीत बन गया। यदि उसी अंदाज में मैं इसे गाती हूँ, तब इसमें परंपरा तोड़ने वाली कौन-सी बात है। इसी प्रकार मैं यह कहना चाहती हूँ कि संगीत और कला तो सभी के लिये है। यह भेदभाव नहीं करती। मैं पूरी अल्हड़ता और मस्ती के साथ गाती हूँ- लोकगीत।

- प्र. बिरहा के अलावा लोकगाथा का दूसरा कौन-सा प्रकार आपको भाता है?
- उ. गोपीचंद। इसकी गाथा अद्भुत होने के साथ ही निराली भी है। इसमें ज्ञान का दिव्य संदेश है। इसे सुनकर संसार की निस्सारता का भान तो होता ही है, परम शान्ति भी मिलती है।
- प्र. लोकगीतों की कौन-सी धुन आपको सबसे अधिक भाती है?
- उ. विदाई गीत की धुन बहुत ही मर्मस्पर्शी है। आज भी विदाई के अवसर पर जब इसे गाया जाता है, तो जीवन की यादें सामने आ जाती हैं। बेटी की विदाई के अवसर पर तो न केवल पूरा परिवार बल्कि वहाँ पर मौजूद सभी लोगों के सामने मायूसी छा जाती है। एक अलग प्रकार के वातावरण का निर्माण हो जाता है। तब न केवल हमें बल्कि आप सभी को भी लोकगीतों की अलौकिक शक्ति का एहसास होता होगा। इसमें अद्भुत शक्ति है, जो समाज में अपनत्व का संदेश देती है। यह हमें अपनी मिट्टी और अपनी जड़ों से बाँधे रखती है।
- प्र. अवधी और भोजपुरी अपनाने की खास वजह क्या थी, बतलाना चाहेंगी?
- उ. अवधी बहुत ही सहज-सरल भाषा ही नहीं, यह बहुत ही ग्राह्य भाषा भी है। गोस्वामी तुलसीदास जी द्वारा श्रीरामचरित मानस इसी भाषा में लिखा गया। साथ ही और भी बहुत सारी लोकप्रिय रचनाएँ इस भाषा में रची गयी हैं। इन रचनाओं से पूरा भारतवर्ष परिचित है और हाँ, इसमें इतने अच्छे-अच्छे संस्कार गीत हैं, जिसे लोक-गायकों के साथ ही चोटी के शास्त्रीय संगीत के कलाकारों ने भी गाया है। भजन, निर्गुण, विवाह-गीत, झूमर, झूला तो काफी लोकप्रिय है। साथ ही हास-परिहास का माहौल बनाने वाले लोकगीतों की संख्या भी भरपूर है। यही वजह है कि मैं अवधी गाती हूँ। भोजपुरी इसलिये गाती हूँ कि मेरी दृष्टि में अवधी और भोजपुरी दोनों बहनें जैसी हैं। अवधी में सहजता-सरलता है तो भोजपुरी में मिठास है। प्रेम-विरह का समावेश ऐसा है कि इसे बोलने और समझने वाला ही जान

सकता है। ये दोनों भाषाएँ हिन्दी पट्टी की प्रमुख भाषा भी हैं। इन दोनों क्षेत्रों की भाषागत और शैलीगत विशेषताओं ने भारतवर्ष को विदेशों में भी लोकप्रिय बनाया है। भोजपुरी भाषी यदि मॉरीशस गये तो उनके साथ गया श्रीरामचरित मानस जो कि अवधी भाषा में लिखा हुआ है। वहाँ भी भाषागत परस्परता स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ती है।

- प्र. इन दोनों में आप किसे सशक्त और ज्यादा महत्त्वपूर्ण भाषा मानती हैं, स्पष्ट करना चाहेंगी?
- उ. सशक्त और महत्त्वपूर्ण तो है-भोजपुरी। भोजपुरी भाषी जिस प्रकार अपनी भाषा से प्यार करते हैं, वह अत्यन्त दुर्लभ है। यही वजह है कि आज भोजपुरी लोकभाषा होते हुए भी अंतर्राष्ट्रीय भाषा है।
- प्र. मालिनी जी, यदि आप लोकगीत गायिका नहीं होती तो आप किस क्षेत्र को कैरियर के लिए चुनती ?
- उ. सिर्फ और सिर्फ प्रशासनिक अधिकारी। विवाह के कुछ दिन बाद तक यह माना जा रहा था, लेकिन अचानक मुझे इस तरफ ही कैरियर बनाने के लिये हमारे पतिदेव ने प्रेरित किया। उन्हीं की प्रेरणा से आज मैं इस क्षेत्र में पदार्पण कर लोकगीतों की सेवा कर रही हूँ।
- प्र. आप जिस क्षेत्र में जन्मीं और जहाँ पली-बढ़ी हैं, उन क्षेत्रों में नौटंकी की परंपरा रही है। इस लोकप्रिय शैली के विषय में आपके क्या विचार हैं, क्योंकि आज नौटंकी-शैली विलुप्त होती जा रही है?
- उ. देश की चंद लोकप्रिय शैलियों में नौटंकी का शुमार होता है। समाज के नवनिर्माण में इसकी भूमिका बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। चाहे आजादी की लड़ाई हो या फिर समाज में व्याप्त अंधविश्वास के विरुद्ध आन्दोलन चलाने की आवश्यकता। नौटंकी के माध्यम से इस पर सहजतापूर्वक काबू पाया गया। पर्दे की परंपरा के दौर में स्त्री-शिक्षा और उसकी सुरक्षा की आवश्यकता को भी इस माध्यम से आम जनमानस को प्रेरित किया गया। फलस्वरूप महिलाएँ भी नौटंकी की कलाकार बनने लगीं। इसकी पहली महिला कलाकार पद्मश्री

गुलाब बाई थीं। उन्होंने पुरुष-प्रधान इस शैली में बहुत ही कर्मठता के साथ पदार्पण किया और नौटंकी-शैली के प्रमुख कलाकारों में अपनी सशक्त पहचान बनायी।

नौटंकी उत्तरप्रदेश की जान और पहचान है। समय की ऐसी नज़ाकत है कि इसके लोकप्रिय कलाकार आज अन्य लोक-विधाओं के कलाकारों की तरह लोकप्रिय नहीं हो पा रहे हैं। इसका कारण मेरी दृष्टि में यह है कि इस शैली के नाम पर आरकेष्ट्रा, डी.जे. जैसी संगीत परम्पराओं का समावेश हो गया है, जिससे इसकी मूल परंपरा विलुप्त होती जा रही है। एक समय था जब हिन्दी की सदाबहार और सुपरहिट हुई फिल्मों में नौटंकी का समावेश किया गया। इसकी गायन-शैली, इसके संवाद और छन्द-विधान का कोई सानी ही नहीं है। नौटंकी में एक सुमिरनी गाया जाता है, इसे प्रायः कार्यक्रम का शुभारम्भ करते समय गाया जाता है, सुनिये-

जगदम्बा देवी शारदा माई पूरन करें  
कहाँ तुम्हारा जिला गाँव बना है  
कहाँ तुम्हारा गाँव रे  
कौन गुरु के सिखवल चेला  
क्या है तुम्हारा नाम रे  
जगदम्बा देवी शारदा.....

- प्र. आप तो होरी ऐसा गाती हैं कि लोग झूमने लगते हैं। इसकी मूल वजह आप बतलाना चाहेंगी?
- उ. होरी ऐसा गीत ही है कि इसका स्मरण कर ही लोक जनमानस रोमांचित हो जाता है। जादू जैसा असर होरी गीतों और उसकी रसभरी धुनों में है। होरी खेले रघुवीरा अवध में आप भी गायेंगे तो आपके साथ वहाँ मौजूद सभी लोग झूमेंगे और जब जोगीरा गायेंगे तो ऐसा माहौल बनेगा कि होली का सजीव वातावरण गुलजार हो उठेगा-

आवत रहली रायड़गंज से  
पड़ली दुई के नोट  
उ नोटवा से कोट सियादा  
बोहू हुई गवा छोट  
जोगीरा स ररररररररर.....

- प्र. मालिनी जी अवधी-भोजपुरी भाषा में लोकगीतों का इतना विपुल भंडार है, गायन की समृद्ध परंपरा है, तब आज इन भाषाओं के लोकगीतों में काफी संख्या में अश्लील और द्वि-अर्थी गीत सुनने को मिलते हैं। क्या दर्शक-श्रोताओं की यह मांग है अथवा रातोंरात लोकप्रिय होने के लिये युवा कलाकारों द्वारा ऐसा किया जा रहा है?
- उ. मेरी दृष्टि में यह लोकगीतों की और हमारे समृद्ध लोक-परंपराओं की हत्या करने के समान है। ऐसा वे लोग कर रहे हैं, जिन्हें रत्तीभर हमारे लोकगीतों के मर्म मालूम नहीं हैं। समझदार और मर्मस्पर्शी लोग ऐसा कदापि नहीं कर सकते हैं।
- प्र. यह तो एक पक्ष है। हमारे गाँव में संस्कार गीतों की जो परंपरा रही है, वह भी समाप्त होती जा रही है। इसका कारण आपकी दृष्टि में क्या है?
- उ. देखिये दीपक जी, जब हम पाश्चात्य संस्कृति को अपनाएँगे तब बच्चा जन्मने पर सोहर-बन्ना कौन गाएगा। छठी-सतईसा की जगह बर्थ डे मनाया जाएगा, तब बधईया-पवरिया का मर्म हम कैसे समझेंगे। पैकेट का रेडीमेड आटा खायेंगे और कल्पना कीजिएगा जतसार का। वाशिंग मशीन में कपड़ा धुलाएगा और धोबिया नृत्य की बात कीजिएगा। हम बदलते जा रहे हैं, इसी का परिणाम है कि हमारे संस्कार गीत हमसे पीछे छूटते जा रहे हैं। भौतिकवादी होड़ ने हमें लोकगीतों से विलग कर दिया है। हमारे समाज के ये पेशेवर लोक कलाकार भुखमरी से तंग आकर अपने मूल काम छोड़ रहे हैं और पेट पालने तथा अपने परिवार का जीविकोपार्जन करने के लिये दूसरा धन्धा ही अपना लिया है। बहुत ही दुखद है यह सब हमारे संस्कार और समाज के लिये।
- प्र. कैसे इन्हें बचाया जाए, कुछ सुझाव देना चाहेंगी?
- उ. इनका संरक्षण-संवर्द्धन हम सभी कलाकार और कला में अभिरुचि रखने वाले सुधिजनों को अभी से ही शुरू कर देना चाहिए। अपनी परंपरा पर प्रहार हमें ही रोकना होगा। केवल सरकार के भरोसे रहना ठीक नहीं। यह हमारी जिम्मेदारी है। हमें अपना कर्तव्य निभाना होगा। अश्लील गीतों पर प्रतिबंध लगाया जाए। साथ ही लोक-गीत और लोक-नृत्यों के पारम्परिक पोशाक और यंत्रों का उचित प्रयोग किया जाए, तभी हम इसे संरक्षित रख सकेंगे।
- प्र. आजकल टी.वी. चैनलों पर फिल्मी और लोकगीतों की संगीत प्रतियोगिताएँ काफी संख्या में हो रही हैं। इस माध्यम से कई युवा कलाकार प्रकाश में आये हैं। संगीत के लिये तथा इस माध्यम से उभर रहे कलाकारों के लिये क्या यह माध्यम सही है अथवा नहीं?
- उ. मैं इसे प्रतिभा खोज का एक माध्यम मानती हूँ। लेकिन हमें यह सदैव याद रखना चाहिए कि प्रतिभा निखारना इस माध्यम से संभव नहीं है। गुरु के पास समर्पित भाव से मेहनत कर ही संगीत के क्षेत्र में लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है।
- प्र. नयी पीढ़ी के लिये आप क्या कहना चाहेंगी?
- उ. संगीत ईश्वर का दूसरा रूप है। इसकी साधना ईश्वर की साधना है। सत्यम् शिवम् सुन्दरम् का ध्यान करते हुए पूरी निष्ठा के साथ साधनारत रहें। लक्ष्य की प्राप्ति का मार्ग अपने आप प्रशस्त होता जाएगा।